# मतादर्श

समाज विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

*संपादक*

***शैलेन्द्र सेंगर***


**मेखला प्रकाशन**

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी

दिल्ली-110089

**वर्ष : 3 अंक : 3** ❑ जुलाई 2011

# मतादर्श

**मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।**

**सलाहकार संपादक**
डा. गिरीश मिश्र

**संपादक**
शैलेन्द्र सेंगर

**संपादक मंडल**
डॉ. आर. एन. कुंअर
डॉ. बामेश्वर सिंह
डॉ. विवेकानन्द शुक्ला
डॉ. रवीन्द्रनाथ राय
प्रो. राम अयोध्या सिंह
डॉ. लक्ष्मेश्वर ठाकुर

**साज-सज्जा**
मो. सलीम अंसारी

**संपादकीय सम्पर्कः**
120, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-43015270, 47541851, 64683387
e-mail : mekhalaprakashan@yahoo.com

**मूल्य :** रूपये 500.00
मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

**नोटः** पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

# Editorial

Higher education in India is gasping for breath, at a time when India is aiming to be an important player in the emerging knowledge economy. With about 300 universities and deemed universities, over 15,000 colleges and hundreds of national and regional research institutes, Indian higher education and research sector is the third largest in the world, in terms of the number of students it caters to. However, not a single Indian university finds even a mention in a recent international ranking of the top 200 universities of the world, except an IIT Kharagpur ranked at 41, whereas there were three universities each from China, Hong Kong and South Korea and one from Taiwan. On the other hand, it is also true that there is no company or institute in the world that has not benefited by graduates, post-graduates or Ph.D.s from India be it NASA, IBM, Microsoft, Intel, Bell, Sun, Harvard, MIT, Caltech, Cambridge or Oxford, and not all those students are products of our IITs, IIMs, IISc/TIFR or central universities, which cater to barely one per cent of the Indian student population. This is not to suggest that we should pat our backs for the achievements of our students abroad, but to point out that Indian higher educational institutions have not been able to achieve the same status for themselves as their students seem to achieve elsewhere with their education from here.

While many reasons can be cited for this situation, they all boil down to decades of feudally managed, colonially modelled institutions run with inadequate funding and excessive political interference. Only about 10 per cent of the total student population enters higher education in India, as compared to over 15 per cent in China and 50 per cent in the major industrialised countries. Higher education is largely funded by the state and central governments so far, but the situation is changing fast. Barring a few newly established private universities, the government funds most of the universities, whereas at the college level, the balance is increasingly being reversed. The experience over the last few decades has clearly shown that unlike school education, privatisation has not led to any major improvements in the standards of higher and professional education. Yet, in the run up to the economic reforms in 1991, the IMF, World Bank and the countries that control them have been crying hoarse over the alleged pampering of higher education in India at the cost of school education. The fact of the matter was that school education was already privatised to the extent that government schools became an option only to those who cannot afford private schools mushrooming in every street corner, even in small towns and villages. On the other hand, in higher education and professional courses, relatively better quality teaching and infrastructure has been available only in government colleges and universities, while private institutions of higher education in India capitalised on fashionable courses with minimum infrastructure.

*—Editor*

# इस अंक में

## इतिहास


**चम्पारण सत्याग्रह और नीलहा आन्दोलन**–डॉ. जीतेन्द्र प्रसाद 7

**'हिन्द स्वराज' का सार्वभौमिक व सार्वकालिक विचार**–
डॉ. मो. नसीम आजम सिद्दीकी 12

**चम्पारण-आन्दोलन**–डॉ. प्रमोद कुमार सिन्हा 15

**मुगलिया शाही शानो शौकत की मल्लिका जहाँआरा बेगम की अदबी खिदमात**–डॉ. रविशंकर कुमार चौधरी 20

**मुगलकालीन चित्रकला**–पवन कुमार 28

**मौर्य शासन काल में सामाजिक व्यवस्था**–सुनील कुमार 34

**ईसवी पूर्व 200 के दौरान भारत में आर्थिक क्रियाकलाप**–नागेन्द्र मिश्र 39

**आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद के उत्थान में शिक्षा का योगदान**–अभिषेक आर्ष 43

**भारत में ब्रिटिश राज्य की आरंभिक संरचना**–प्रणीता कुमारी 45


## राजनीति विज्ञान


**लैंगिक पूर्वाग्रह एवं महिलाओं के खिलाफ अत्याचार**–डॉ. प्रो. नीलम कुमारी 51

**विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन की समीक्षा**–डॉ. शंकर जी 63

**पंचायतीराज एवं ग्रामीण महिला सशक्तिकरण : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन**–राजीव नयन 74

**पूर्व मध्यकालीन भारत में महिलाओं की स्थिति (लगभग 600 ई0 से 1200 ई0 तक)**–डॉ. चन्द्रिका साह 79


## समाज शास्त्र


**भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक सामाजिक समस्या : समाजशास्त्रीय अध्ययन**–डॉ. चित्रगुप्त बरियाल 84

**महिला सशक्तीकरण एवं उच्च शिक्षा: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण**–डॉ. अनुजा अमेरी 91

**महिला सशक्तीकरण के विविध आयाम**–संत कुमार 97

**ग्रामीण महिलाओं पर वैश्वीकरण का प्रभाव**–संजीव कुमार सिंह 102

**महात्मा गाँधी एवं लोहिया की दृष्टि में सामाजिक अवधारणा**–
विश्व रंजन किरण 107

**सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता और उत्पादन के मुद्दे**–डॉ. बबली कुमारी 116


## दर्शन शास्त्र


**जैन धर्म का ऐतिहासिक एवं सामाजिक उद्भव**–डॉ॰ ब्रजेश्वर प्रसाद सिंह 119

**जैन धर्म से मानव जीवन में आमूल परिवर्त्तन की सम्भावनाएं**–
डॉ. सुधांशु कुमार 123

## संस्कृत साहित्य

**"संस्कृत साहित्य में पर्यावरण"**–डॉ. कुमारी संगीता 128
**वेदों में विश्वबंधुत्व की भावना**–प्रो. शेलडिया किशोर 134
**आधुनिकसंस्कृतकाव्यशिक्षणे प्रयुक्तप्रश्नानुप्रश्नविधेः**
**मूलस्त्रोत-एकः दृष्टिः**–सुशान्तहोता 139
**वैशेषिकदर्शने शिक्षा**–विद्याधर हरिचन्दन 141
**विद्यामाधवविरचिते पार्वतीरूक्मिमीयमहाकाव्य अलङ्कारविमर्शः**–सोमनाथमुखार्जी 146

## हिन्दी साहित्य

**जनसम्पर्क के प्रमुख स्तर**–कुमार चन्दन 148
**राजनीति व प्रशासन तंत्र का यथार्थ दस्तावेजः**
**फूल .....इमारतें और बन्दर**–डॉ० प्रबुद्ध कुमार त्रिपाठी 151
**व्यंग्य और विद्रोह के क्षेत्र में कवि ''धूमिल'' का स्थान**–डॉ० नीतू शर्मा 153
**ब्रज लोकगीतों में सौंदर्य निरूपण**–डॉ. दिलीप कुमार श्रीवास्तव 157
**प्रेमचन्द्र की परम्परा का मतलब**–डॉ. चन्द्रमोहन 161
**समकालीन महिला कथा-लेखन और मेहरून्निसा परवेज की कहानियाँ**–
आशा कुमारी 164
**प्रेमचन्द और दलित-समस्या**–डॉ. अनुप निरंजन 171

## अर्थशास्त्र

**बिहार की कृषि : प्रगति, समस्याएँ एवं प्राथमिकता**–डॉ. सुरेश कुमार 175
**समावेशी परिवेश में ग्रामीण विकास-नियोजन एवं क्रियान्वयन**–डॉ. अंजू सिंह 180

## चित्रकला

**लोक चित्रकारों की वृत्तियाँ एवं मानवीय दृष्टिकोण**–डॉ. निरंजन कुमार सिंह 188
**चिरांद के पुरातात्विक अवशेष**–संजीव किशोर गौतम 190

## मनोविज्ञान

**शिक्षा मनोविज्ञान का शिक्षा को योगदान**–बसंत लाल शर्मा 194

## भूगोल

**बागमती नदी बेसिन में जलप्रबंधन ( बागमती परियोजना के संदर्भ में )**–
संजय कुमार 198

## HISTORY

**Origin and Development of Tibetian Buddhism**—Anuradha Jaiswal 208

**Central Sati Act-An Analysis**—Dr. Shrikant Bharti 214
**The Swadeshi Movement of 1905**—Dr. Sudha Prasad 218

## POLITICAL SCIENCE

**Role of Street-Level Bureaucracy and Project Implementation Process in India**—Manoranjan Kumar Singh 222
**Human Rights Instruments against Discrimination of Women**—Awdhesh Kumar 226

## ECONOMICS

**Cropping Pattern in Riverine Area (Char) A Case Study of Lower Assam**—Sahabuddin Ahmed 230
**Emerging Market Economics**—Dr. Ravi Kumar Chaudhary 239

## PSYCHOLOGY

**Ethics in Psychological Research**—Dr. Kamta Prasad Yadav 242
**General Outline of the Psychology of Management**—Dr. Asha Kumari 252
**Intellectual and Social Factors as Disciplined Indisci;oned Behaviour of Science and Arts College Youth**—Dr. Jago Choudhary 256
**Aggressiveness among Children–A Function of Differential Training by Mothers**—Vivek Kumar 262

## SOCIOLOGY

**Raising Competence of Indian Administrators-role of IT Training**—Dr. Madhu Kumari 267
**Caste Stratification in Indian Society**—Dr. Surendra Mohan 276
**Dynamics of Social Movements**—Dr. Neelam Kumari 280

## COMMERCE

**Population and Education in the Context of Development: International Prospective**—Dr. Premanand & Dr. Abhay Kumar 284

## MANAGEMENT

**Towards a New International Financial Architecture**—Dr. Praveen Kumar Tiwari 294

## PHILOSOPHY

**Modern Philosophy and Ludwig Wittgenstein**—Pramod Kumar Das 298

## ENGLISH

**Inter-Semiotic Translation: Shakespeare on Screen**—Pooja 302

## MASS COMMUNICATIONS

**Media Credibility in Modern Journalism**—Pawan Kumar Saxena 306

## HOME SCIENCE

**Malnutrition—An Important Causative Factor of Diabetes Mellitus**—Dr. Madhulika Kumari 310

# चम्पारण सत्याग्रह और नीलहा आन्दोलन

**डॉ. जीतेन्द्र प्रसाद**

*रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग, रामलखन सिंह यादव कॉलेज*
*बेतिया ( प. चम्पारण ) बिहार*

*हम तो चले थे अकेले जानिबे मंजिल मगर,*
*लोग साथ आते गए और कारवां बनता गया।*

1917 ई. भारतीय इतिहास का सृजनात्मक एवं चमत्कारी काल माना जाता है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने सदैव अन्याय के विरूद्ध आवाज उठायी है। 1917 ई. की रूसी क्रान्ति ने विश्व में विभिन्न स्थानों पर हो रहे अत्याचारों व शोषक प्रवृतियों के विरूद्ध संधर्षरत जनसमुहों की आवाज को और भी सशस्त बनाया। भारतीय जनता ने भी इससे प्रेरित होकर उनपर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठायी। भारतीयों ने इस समय अपना विरोध प्रकट करने के लिए पारम्परिक तरीकों का चयन किया। इस समय तक भारतीय राजनीतिक नभमंडल पर महात्मा गाँधी का आर्विभाव हो चुका था तथा उन्होंने भारतीयों को विरोध प्रदर्शित करने का एक नवीन मार्ग सुक्षाया। यह मार्ग था ''सत्याग्रह''।

इसके द्वारा ही महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रिका में अपने उदेश्यों में सफलता प्राप्त की थी। यह पूर्णतया 'अहिंसात्मक' तरीका था। 'सत्याग्रह' को परिभाषित करते हुए स्वयं गाँधी ने कहा था ''सत्य पर अटल रहना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह असत्य को सत्य से व हिंसा को अहिंसा से जीतने का नैतिक अश्त्रा है। इसका उदेश्य धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर, अहिंसात्मक एवं उचित तरीके से सत्य को प्रकट करना, भूलों को सुधारना एवं भूल करने वालों का हृदय परिर्वतन करना हैं, सत्याग्रह एक सरल किन्तु अचूक उपाय है।''

गाँधीजी अपने राजनीतिक गुरू गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से प्रेरित होकर ''ठहरो'' स्थिति का अध्ययन करो और आगे बढो'' की नीति अपनाते हुए उन्होंने तत्कालीन राजनीति का सुक्ष्म अध्ययन किया और वे देश के कोने-कोने में गए ताकि लोगों की सही आर्थिक, सामाजिक एवं राजनितिक स्थिति जान सकें।

दक्षिण अफ्रिका में प्राप्त की गई सफलताओं ने गाँधी के भावी जीवन का मार्ग प्रशास्त किया। इसी संधर्ष की अवधि में उन्होने सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित 'सत्याग्रह' नामक नवीन संधर्ष प्रणाली का विकास किया। उनके विचार में सत्याग्रह एवं ऐसा आध्यात्मिक सिधान्त है जो मानव-मात्र से प्रेम पर आधारित है।

इसमें विरोधियों के प्रति घृणा का भाव नहीं है। एक आदर्श सत्याग्रही सत्य एवं शांति का प्रेमी होता है वह बुराई से घृणा करता है, बुरों से नहीं।

गाँधी सत्य के समान अहिंसा पर भी बल देते थे। इनका मानना था कि अहिंसा में सभी समस्याओं के निराकरण करने की अद्भुत क्षमता है। उन्होंने अहिंसा कायरता और दुर्बलता का नहीं बल्कि वीरता, दृढ़ता और निड़रता का प्रतीक बताया।

गाँधीजी साधनों की पवित्रता एवं श्रेष्टता में विश्वास करते थे। इनका मानना था कि लक्ष्य तो उच्च होना ही चाहिए लेकिन साधन का भी उच्च होना आवश्यक है। उनका यह भी मानना था कि उच्च साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी श्रेष्ठ होना चाहिए।

इन्हीं अवधारणाओं को महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का अमोध अस्त्र बना कर भारतीय राजनीति में अपना अंगद कदम रखा और 'सत्याग्रह' जैसे अस्त्र का प्रयोग करते हुए चम्पारण की ओर 1917 ई. में कूच करने का प्रण लिया।

## चम्पारण में नील की खेती क्यों ?

नीलहे गोरों ने चम्पारण को नील की खेती के लिए क्यों चुना यह एक प्रासांगिक प्रश्न है?

चूंकि देहातों में यह पूर्व कहावत है "धन देश (ईलाका) मझौवा (प्रगाना) जहाँ भात न पूछे कौवा"।

यह कहावत इसलिए प्रासांगिक है कि चम्पारण की धरती अपनी उर्वरता के लिए लोक प्रसिद्ध है। यहां की मिट्टी में इतनी उर्वरक शक्ति है कि यह सोना उगलती है। यहाँ धान की खेती, गेहूं की खेती, गन्ने की खेती, रवी की खेती होती है और अपने अच्छी उपज के लिए लोक प्रसिद्ध है।

जब अंग्रेजो ने चम्पारण की उर्वरक मिट्टी की बखान को सुना तो वे अपने आपको इधर आने से रोक न सकें। आने के बाद यहां की शस्य श्यामला मुग्धकारी, मनुहारी भूमि पर बस गए तथा अपनी जमीनदारियां स्थापित की और अपनी सामन्तवादी पद्धति को लागू कर अपनी कोठियां स्थापित की।

चूंकि औद्योगिक क्रान्ति का तुफान इग्लैंण्ड में चल चूका था। मैनचेस्टर की फैक्ट्रियों के लिए अंग्रजों को कच्चेमालों की आवश्यकता थी। अस्तु इन अंग्रजों ने अपने कपड़ों की फैक्ट्रियों के लिए रंग की आवश्यकता महसूस की। नील उनके लिए काफी उपयुक्त नजर आया और इन लोगों ने चम्पारण में नील की खेती करना आवश्यक समझा। चूँकि चम्पारण की उपजाऊ भूमि प्राप्त हुयी। सिंचाई की सुविधा में भी उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदत छोटी नदियाँ, नाले, आहर प्राप्त हो गए जिससे बिना किसी तरह के खर्च के सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो गयी। जिससे नील के पौधों की

सिंचाई भी होने लगी। अत: कम खर्च में नील की खेती होने लगी और अधिक मात्रा में उत्पादन होने लगा। इनकी जमीनदारियों में बसने वाली जनता इनका गुलाम बन जाती थी। जिन्हें कम मजदूरी देकर ये अपने खेतों में काम जबरन कराते थे। साथ ही अधिक समय तक काम लेकर कम मजदूरी देना वे अपना नैतिक दायित्व समझते थे।

19वी. सदी के प्रारम्भ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबन्ध किया जिसके अनुसार किसानों को अपनी जमीन के 3/20वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। इसे 'तिनकठिया' पद्धति कहा जाता था। इसके तहत उन्हें जबरन अपनी जमीन में नील की खेती करना पड़ता था। जिससे अन्य फसल उगाने में वे मजबूर हो जाते थे।

गोरे बगान मालिकों का आदेश नहीं मानने वाले निरिह जनता पर उनके द्वारा कोड़े बरसाये जाते थे, घोड़े के पैर में बांध कर उन्हें मीलों घसिटा जाता था तथा स्वर्निमित जेलो में भूखे-प्यासे रखा जाता था, तथा लोहे की गर्म सलाखों से दागा भी जाता था। इस तरह एक तरफ उन्हें अपनी जमीन में अन्य फसल नहीं उपजाने के कारण उनके परिवार का भरण-पोषण होना नामुमकिन हो जाता साथ उनके खेतों में उपजी नील का सही मूल्य भी नहीं मिल पाता था।

अपनी जमीन में खेती करने के लिए उन्हें मालिकों को लगान की दर भी काफी अधिक देनी पड़ती थी। लगान की दर नहीं अदा करने पर अपनी जमीन मालिकों को दे देने पर मजबूर होना पड़ता था। जिससे किसानों की स्थिति इतनी दारूण हो गयी कि वे आह से अपनी भूख और आँसुओं से अपनी प्यास बुझा लेते थे।

## पं. राजकुमार शुक्ल द्वारा गाँधीजी को चम्पारण आने हेतु आमंत्रण

पं. राजकुमार शुक्ल चम्पारण की धरती के सच्चे सपूत और नीलहे आन्दोलन के अग्रणी नेता थे। इनका निवास स्थान चनपटिया प्रखण्ड के सतवारिया ग्राम में था। वे स्वयं एक किसान थे जो चम्पारण की जनता पर नीलहे गोरों द्वारा किए जा रहे अत्याचार से काफी दु:खी रहा करते थे। परन्तु इन्हें इस विपत्ति से त्राण दिलाने का कोई विकल्प नजर नहीं आता था।

पं. राजकुमार शुक्ल जी को जब यह ज्ञात हुआ कि गाँधीजी नाम का एक भारत का महान सपूत दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेजों के जुल्म से भारतीयों को राहत दिलवाया है, तो उनके मन में यह जिज्ञासा हुयी कि शायद इसी महान सपूत से हम चम्पारण वासियों को अंग्रेजों के इस जुल्म से त्राण दिलवायेंगे। जब उन्हें यह सूचना प्राप्त हुयी कि गाँधीजी जैसा भारत का महान सपूत भारत लौटा है और कांग्रेस में शामिल हो

गया है, तो उन्हें यह आशा जगी कि इसी महान सपूत से चम्पारण की जनता को अंग्रेजो के अत्याचार से राहत मिल सकेगी। पं. राजकुमार शुक्ल जी को यह पता चला कि दिसम्बर 1916 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होने जा रहा है जिसमें गाँधीजी भी शामिल होगें, तो उन्हें अधेरे में एक चिराग टिमटिमता नजर आने लगा। वे लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने और चम्पारण की दुर्दशा सुनाने का प्रण लिया।

वे इस कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने गए और किसानों के प्रति अंग्रेजो द्वारा किए गए कठोर व्यवहार और अत्याचार की चर्चा की। साथ ही गाँधीजी से चम्पारण की दुर्दशा देखने और उससे त्रण दिलाने हेतु अनुनय-विनय किया एवं चम्पारण आने का आमंत्रण दिया। साथ ही 'तिनकठिया' पद्धति से मुक्ति दिलाने का विनय किया। इसे सुनकर गाँधी जी को काफी दु:ख हुआ और इससे मुक्ति दिलाने का आश्वासन दिया।

चम्पारण के इस महान सपूत किसान पं. राजकुमार शुक्ल के अनुरोध पर गाँधी जी 1917 में चम्पारण पहुँचे। चम्पारण पहुँच कर गाँधीजी ने नील-किसानों की समस्या को सुना एवं सही पाया। जांच के क्रम में गाँधीजी को चम्पारण से चले जाने की सरकारी नोटिश दी गयी।

सरकारी आदेश की अवहेलना के कारण उनपर मुकदमा भी चलाया गया। गाँधीजी के प्रयासों से सरकार ने चम्पारण के किसानों की जांच हेतु एक आयोग नियुक्त किया। गाँधीजी को भी आयोग के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। अन्तत: गाँधीजी की जीत हुयी। आयोग ने चम्पारण से 'तिनकठिया' पद्धति को समाप्त कर दिया और अंग्रेजो को अवैध वसूली का 25 प्रतिशत वापस करना पड़ा। इस प्रकार चम्पारण के रैयतों की समस्याओं का एक सीमा तक अन्त हो गया। 1917 ई. तक का अधिकांश समय महात्मा गाँधी को चम्पारण के किसानों के लिए काश्तकारी की सुरक्षा के साथ-साथ अपनी पसन्द की फसल उपजाने की आजादी दिलाने में बीता। यह अंग्रेजो पर भारत वासियों की पहली विजय का प्रतीक माना जाता है, जिसकी प्रारम्भ चम्पारण से माना जाता है।

### *उपसंहार*

चम्पारण सदियों से इतिहास की पृष्ठभूमि का आधार स्तंभ रहा है, उपेक्षाओं का शिकार है। चम्पारण की यह भूमि महार्षि बाल्मिकी की तपोभूमि रही है जिन्हें अंगुली माल डाकू से महर्षि बनाया। अयोध्या के राजा श्रीराम के दोनों पुत्र क्रमश: लव और कुश की जन्मभूमि बाल्मीकी नगर के जंगलो में बाल्मीकी महर्षि के आश्रम में हुआ। जनक नन्दनी सीता की शरणस्थली इसी महर्षि के आश्रम में रही है, इससे स्पष्ट होता है कि विदेह राजा जनक की राज्य सीमा चम्पारण की सीमाओं को छूती थी। यद्यपि

यह शोध का विषय है। चम्पारण नन्दवंश के राजाओं के साम्राज्य को पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर प्रदान किया। परन्तु निरंकुशता को प्रकठा पर पहुँचते देखकर उसका अन्त करने में पूर्णत: सहयोग भी किया। जिसका प्रमाण लौरिया का नन्दनगढ़ है।

यह भूमि महान राजनीतिज्ञ और राजनीति के मर्मज्ञ चाणक्य की कर्मभूमि भी रही है जिसने चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे भारत के सम्राट को पैदा किया जिसकी जन्मभूमि संभवत: चम्पारण में ही रही है। यद्यपि अभी तक इसका ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है और यह शोध का विषय बना हुआ है। महान सम्राट विक्रमादित्य का भी साम्राज्य यहाँ रहा है और अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव में तपस्या एवं शांति के लिए चम्पारण के जंगलों में ही रहे है। भारत के सम्राट अशोक के साम्राज्य की सीमा चम्पारण तक रही है जिसके प्रमाणिक प्रतीक के रूप में लौरिया का अशोक स्तंभ है।

महात्मा गाँधी को भी भारत का राष्ट्रपिता कहलवाने का श्रेय शायद चम्पारण को ही जाता है जहाँ से गाँधीजी अपना आन्दोलन प्रारम्भ कर भारत को अंग्रेजी साम्राज्य से आजाद कराने का स्वप्न देखे थे।

आज भी सभी पार्टियों के नेता चम्पारण से ही अपनी राजनीतिक यात्रा प्रारम्भ कर भारत के विभिन्न पदों को सुशोभित होते है।

इन संदर्भों के सिहांवलोकन से स्पष्ट होता है कि चम्पारण एक पारस पत्थर के रूप में है जो सबों को सोना तो बना ही देता है स्वयं पत्थर का पत्थर ही रह गया।

## संदर्भ ग्रन्थों की सूची


1. बिहार राज्य अभिलेखागार निदेशालय बिहार सरकार, पटना
2. Bihar district Gazetteer, Champaran. P.C. Roy Chaudhary – Secretariate press, Patna.
3. बिहार राज्य विधायिका सभा वादवृत (सरकारी रिपोर्ट राजकीय मुद्रणालय, बिहार, पटना)
4. The Journals of Bihar March & June 1933
5. जब गाँधीजी चम्पारण आये- डॉ. डी.जी. तेन्दुलकर की पुस्तक- Gandhi in Champarna का हिन्दी रूपान्तरण राजभाषा विभाग, पटना।
6. बिहार स्वंतत्रता संग्राम से जुटे हुए बिहार के कुछ ऐतिहासिक स्थल के विवरण- मंत्रीमंडल सचिवालय एवं समन्वय विभाग, पटना (बिहार)
7. बिहार विधानसभा वादवृत रिपोर्ट (सरकारी रिपोर्ट).
8. असरफ कादरी- राष्ट्रीय आन्दोलन और चम्पारण के स्वंतत्रता सेनानी।
9. राधा गोविन्द प्रसाद & Secretariate Patna 1976.
10. National Movement in India – Dr. Rajendra Prasad.

# ‘हिन्द स्वराज’ का सार्वभौमिक व सार्वकालिक विचार

**डॉ. मो. नसीम आजम सिद्दीकी**

*पी. एच. डी., इतिहास विभाग*
*ललित नरायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा।*

तेरह नवम्बर को ‘हिन्द स्वराज’ को लिखे हुए एक सौ वर्ष पूरे हो गए है और इस तरह गांधीजी के इस विचार का शताब्दी वर्ष भी बीत चुका है। एक वर्ष पहले ‘हिन्द स्वराज’ की जोर-शोर से चर्चा हुई। इसके निमित्त कुछ सेमिनार-संगोष्ठी-सम्मेलन हुए और हिन्द स्वराज को समझने के लिए कुछ पुस्तकें प्रकाश में आई। पर इसके अलावा कुछ हुआ हो, ऐसा नहीं लगता है। वैसे भी हिन्द स्वराज के विमर्श को सिर्फ एक पुस्तक का शताब्दी वर्ष होना भी नही चाहिए था, क्योंकि गांधीजी के कहे-लिखे गए हर शब्द की अपनी महत्ता है। जिस देश में गांधी की तस्वीर सरकारी कार्यालयों और ‘मुद्रा’ में सिमट कर रह गयी हो जबकि उनका हर विचार उनके आचरण से नि:सृत है—ऐसे में हिन्द स्वराज की विशिष्ट स्मृति के खास मायने है जो इसकी वजह भी है।

विडंबना यह है कि आजाद हिन्दुस्तान में हर सरकारी कार्यालय से लेकर मुद्रा तक में तो गांधीजी की तस्वीर है लेकिन गांधीजी की ‘तजवीज’ सिरे से गायब है। आश्चर्य होते है कि आजादी के तिरसठ साल और गांधीजी के अवसान के बासठ साल बीत जाने के बाद भी गांधी के नाम पर चुनाव तो लड़ा जाता है लेकिन आचरण ही नहीं तमाम नीतियों तक से वे एकदम अनुपस्थित है। आखिर ऐसा कैसे हो गया? उत्तर आधुनिकता और बाजार के विमर्शकारों के लिए तो एक सरल जवाब है कि गांधी सिर्फ ब्रांड़ भर हैं उनकी सिर्फ ब्रांड वेल्यू है, लेकिन इस पूरी उलटबांसी को क्या सिर्फ ऐसे ही समझा जा सकता है?

सच्चाई यह है कि हिन्द स्वराज लिखे जाने के तीन वर्ष बाद 1912 में ही गोपाल कृष्ण गोखले तक को इसका मजमून इतना अनगढ़ लगा और इसके विचार ऐसी जल्दबाजी में व्यक्त हुए लगे कि उन्होने भविष्यवाणी कर दी कि गांधीजी एक साल भारत में रहने के बाद खुद ही उस पुस्तक का नाश कर देगें। जबकि सच यह है कि गांधी किसी जल्दबाजी में नहीं बल्कि ठीक उसके खिलाफ थे। वे बिल्कुल शुरूआत में ही कहते हैं—आप अधीर हो गए है। मैं अधीरपन बर्दाशत नहीं कर सकता। आप जरा सब करेगें तो आपको जो चाहिए वही मिलेगा। उतावली से आम नहीं पकते, दाल नहीं चुरती यह कहावत याद रखिये। आपने मुझे रोका, और आपको हिन्द पर उपकार करने वालों की बात भी सुननी अच्छी नहीं लगती, यह बताता है कि अभी

आपके लिए स्वराज्य दूर है। आपके जैसे बहुत से हिन्दुस्तानी हो तो हम स्वराज्य से दूर हट कर पिछड़ जाएंगें। जाहिर है हिन्द स्वराज कोई जल्दबाजी में, आवेश में या किसी प्रतिक्रिया में लिखी गई किताब नहीं है और इसे एकबारगी पढ़ने में ही यह समझ में आ जाता है कि यह अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रति किसी अंध भक्त के विचार नहीं है। खास बात यह है कि सामान्यत: तर्को से अपनी बात मनवाने से बचने वाले गांधीजी इस बारे में बाकायदा तर्क भी देते हैं।

हिन्द स्वराज लिखे जाने के समय गांधीजी की उम्र चालीस बरस थी और तब तक वे अफ्रीका और विलायत देख चुके थे। लिहाजा वे कूप मंडूक नही थे। यह हिन्दुस्तान की चौहद्दी में सिमटे किसी ऐसे व्यक्ति का स्वराष्ट्र प्रेम नहीं था जिसके बारे में कहा जा सके कि उसने कुछ और देखा ही नहीं तो वह यही लिख सकता था। गांधीजी ने पश्चिमी सभ्यता और उनकी विसंगतियों और विद्रूपताओं को बड़े नजदीक से देखा-भोगा था, तभी उन्हे हिन्द स्वराज का विचार न सिर्फ भारतवर्ष के लिए, बल्कि समूची मानवता के लिए आवश्यक लगा।

'हिन्द स्वराज' में पश्चिमी सभ्यता को लेकर बहुत सारी और बार-बार अनेक टिप्पणियां की गई हैं। गांधीजी के प्रति श्रद्धा रखने वालों में पश्चिमी लोग भी बहुत थे। उसी समय उनकी एक भक्त सोफिया वाडिया ने 'आर्यन पाप' नामक पत्रिका का 'हिन्द स्वराज' विशेषांक निकाला था और उसमें सांडी, कोल, डिलाइल बर्न्स, मिडलटन मरी, क्लाउड ह्यूटन, जिराल्ड हर्ड और रेथबान इत्यादि सुविख्यात विचारकों के लेख और प्रतिक्रियाएं प्रकाशित की थी। इन लेखों और प्रतिक्रियाओं का महादेव देसाई ने जो उल्लेख किया है, उससे भी एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि गांधीजी के विचारों से सहमत और प्रभावित होते हुए भी गांधीजी के यंत्रों -रेलगाड़ी वकील और डॉक्टर इत्यादि के बारे में राय से वे थोड़ा हिचकते है।

संचार और सूचना क्रांति के युग में जब हमारा हर पल, हर क्षण यत्रों पर पूरी तरह आश्रित हो, रिक्शा चालक और काम वाली बाई भी मोबाइल से लैस हो और हवाई जहाज तक का उपयोग लोकल ट्रांसपोर्ट के रूप में होने लगा हो तो रेल के बारे में यह कहना कैसा लगेगा, हिन्दुस्तान को रेलों ने, वकीलों ने और डॉक्टरों ने कंगाल बना दिया है। यह ऐसी हालत है कि अगर हम समय पर नहीं चेतेंगें तो चारो ओर से घिर कर बर्बाद हो जाएंगे। रेल से महामारी फैली है। अगर रेलगाड़ी न हो तो कुछ ही लोग एक जगह पाएंगे। लेकिन जैसा कि हिन्द स्वराज को यह कह कर खारिज किया गया है कि यह जोश में लिख दिया है वैसा वास्तव में है नहीं। 'हिन्द स्वराज' की खासियत ही यह है कि इसमें गांधीजी न केवल अपनी बात कहते हैं बल्कि हर संभावित प्रश्न, जिज्ञासा, शंका और आलोचना का सटीक जवाब भी देते है। इसलिए इस पुस्तक का पहला पाठ जो अर्थ देता है, वह बाद में कई और पाठों के पश्चात जिन अन्तर्पाठों की तहें खोलता है, वह रही-सही शंकाओं को भी खत्म

कर देता है। गांधीजी यंत्रों पर निरन्तर बढ़ती हमारी निर्भरता के सख्त खिलाफ थे। स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यह विरोध यंत्रों के प्रति नहीं, बल्कि उनके दिन-ब-दिन गुलाम होते जाने पर है।

वैसा मैं कैसे हो सकता हूं जब मैं जानता हूं कि यह शरीर भी एक नाजुक यंत्र है। खुद चरखा भी एक यंत्र ही है, छोटी-सी दांत कुरेदनी भी एक यंत्र ही है। मेरा विरोध यंत्रो के लिए नहीं है, बल्कि यंत्रों के पीछे जो पागलपन चल रहा है, उसके लिए है। यंत्रों के उपयोग के जो प्रेरक कारण है, वह श्रम की बचत नहीं धन का लोभ है। आज की इस चालू अर्थव्यवस्था के खिलाफ मैं अपनी तमाम ताकत लगाकर युद्ध चला रहा हूँ।

गांधीजी ने हिन्द स्वराज मूल रूप में गुजराती में लिखी थी जिसको प्रतिबंधित कर दिया गया था। उसके पश्चात उन्होने स्वंय ही इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया ताकि पश्चिमी सभ्यता वाले लोग भी इसे पढ़ सकें क्योंकि वे मानते थे कि ये विचार किसी एक देश, किसी एक भूगोल के लिए ही नहीं हैं बल्कि दुनियां में किसी के लिए भी उतने ही उपयोगी है। सिर्फ देश ही नहीं, उनके लिए तो ये काल निरपेक्षी भी हैं, इसलिए गोखले जी द्वारा यह कहे जाने पर भी कि गांधीजी स्वयं इन विचारों से किनारा कर लेगे, हिन्द स्वराज के लिखे जाने के बारह वर्षो बाद 1921 में गांधीजी ने इसकी भूमिका में जो लिखा वह भी जानना जरूरी है-

यह द्वेष धर्म की जगह प्रेम धर्म सिखाती है, हिंसा की जगह आत्म बलिदान को रखती है। पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है। गांधीजी 1938 में भी अपने इसी विचार पर पूर्ववत कायम थे, और कहीं-कहीं एकाध शब्द बदलने के अलावा इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। महत्वपूर्ण बात यह है कि लगभग इसी समय प्रसादजी कामायनी में मशीनों के कारण सभ्यता के नष्ट होने की कहानी कह रहे थे और प्रेमचन्द रंगभूमि में भारतवर्ष के इसी कारखाने कारण का विरोध कर रहे थे। हिन्दी साहित्य पर गांधीजी के प्रभाव पर विचार तो खूब किया गया है, लेकिन संभवत: कामायनी को हिन्द स्वराज के संदर्भ में नहीं परखा गया। व्यक्तित्व और कृतित्व एवं संवेदना और शिल्प के पिंजरे में कैद हिन्दी शोध को क्या इस ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए?

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (1885 - 1947) राजकमल प्रकाषन, नई दिल्ली।
2. हिंद स्वराज और गाँधीवादी दर्शन की संक्षिप्त व्याख्या।
3. एम. के. गाँधी, स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंटस विद ट्रूथ - 1927।
4. योजना, प्रकाशन विभाग नई दिल्ली।
5. कुरुक्षेत्र, प्रकाशन विभाग नई दिल्ली।
6. दैनिक हिन्दूस्तान, दैनिक भास्कर, राष्ट्रीय सहारा, द हिन्दू।

# चम्पारण-आन्दोलन

डॉ. प्रमोद कुमार सिन्हा

*रीडर, इतिहास विभाग, के. सी. टी. सी. कॉलेज, रक्सौल*
*बी.आर.ए.वि.वि. मुजफ्फरपुर*

बिहार में महात्मा गाँधी का "सत्याग्रह प्रयोग" राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष को चम्पारण सत्यग्रहण के रूप में एक नई दिशा प्रदान की हैं परन्तू सत्य और आहिंसा की कर्मस्थली चम्पारण आज वैश्वीकरण के युग में नीलहों के आतंक से उबर का उमीन्दारों के आतंक में चलते माओवादी जन आन्दोलनों के कारण अपनी अस्मिता खोता जा रहा है।

दुनिया के इतिहास की अन्य क्रान्तियों की तरह चम्पारण का आन्दोलन एक शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था की भीषण बुराईयों के विरुद्ध असंतोष तथा प्रतिरोध का परिणाम था। चम्पारण का आन्दोलन विशुद्ध किसानों का आन्दोलन था। 1916 के कांग्रेस के ऐतिहासिक लखनऊ अधिवेशन में गाँधी जी एक मूक दर्शक की हैसियत से शरीक हुए किन्तु वहीं उन्हें एक सूत्र मिला जिसके द्वारा वे बिहार के चम्पारण जिले में अपने "सत्याग्रह" नामक अस्त्र का सफल प्रयोग किये।

गाँधी जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद का यह सफल प्रयोग आहिंसा, सत्य एवं शोषित दलित समूह के जागरण तथा उन्मुक्ति पर बल देने के कारण सर्वथा अद्वितीय था।

चम्पारण का यह मामला बहुत पुराना था 19वीं सदी के आरंभ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबंध करा लिया था, जिसके अन्तर्गत किसानों को अपनी जमीन के 3/20 वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था।, एवं इसे "तिनकटिया" पद्धति कहा जाता है। इतना ही नहीं अंग्रेजी में चम्पारण जिले में नील बनाने के अनेकों कारखाने खोल रखे थे तथा अनेकों गांवों की माल गुजारी वसूल करने का ठेका भी उनके पास था यूरोनीय निलहे दो तरीकों से नील की खेती करते थें।–

1. जीरात–इसके अन्तर्गत सीधे वे अपनी देख-रेख में अपने ससांधनों से नील की खेती करते थे।
2. आसामीबार–इसमें कोठी वाला साहग रैयतों के द्वारा उन्हीं के खेत में नील की खेती करते थे, परन्तु चम्पारण में तिनकठिया प्रणाली अत्यधिक प्रचलित था डा. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि किसी भी रैयत को हिम्मत नहीं होती थी कि वह नील बोने से इनकार करे और अगर कोई भी हिम्मत करता था तो उस पर काफी जुल्म ढाये जाते थे नील बोने का

कार्य सबसे पहले करना पड़ता था और फसल तैयार हो जाने पर उसे काटकर कोठी पर पहुंचाना पड़ता था नीलवार तथा अत्यचार इतना अधिक था कि उन्हें तरह-तरह के नजराने भी कोठी को देना पड़ता था।

यद्यपि 31 मार्च 1913 को ब्रजकिशोर ने बिहार उड़ीसा लेजेस्लेटिव कौंसिल में चम्पारण की समस्या को उठाया मुख्य सचिव मैक्फर्सन ने समस्या के समाधान का वचन देकर भी मुकर गये।

चम्पारण की स्थिति पर समाचार पत्रों के भी लगातार निबन्ध प्रकाशित किये। कानपुर से प्रकाशित प्रताप ने 29 नवम्बर 1914, 13 दिसम्बर 1914 तथा जनवरी 1915 को अपने अंक में चम्पारण की दुखद स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डाला। इसी प्रकार इलाहबाद से प्रकाशित "अभ्युदय" तथा कलकत्ता से प्रकाशित "भारत मित्र" में भी लेख प्रकाशित हुए। मार्च 1916 में "प्रताप" में चम्पारण की प्रजा पर अत्याचार शीर्षक से अपील प्रकाशित कर प्रबुद्ध एवं शिक्षित वर्गो तथा समाचार पत्रों के संपादकों से अनुरोध किया गया कि वे चम्पारण के नीलहे गोरों के अत्याचारों से संबंधित प्रमाणित जानकारी उपलब्ध कराये।

चम्पारण में लोगों का असंतोष बढ़ता जा रहा था और नीलहे लोगों की सख्ती बढ़ती जा रही थी। अत: चम्पारण के किसान राजकुमार शुक्ल ने जो निलहे के अतंक से पीड़ित थे, आन्दोलन के लिये प्रयत्नशील हो गये महात्मा गाँधी के लखनऊ कांग्रेस में शामिल होने की खबर पाकर राजकुमार शुक्ल गाँधी को बुलाने हेतु पहुंचाने गये। गाँधी ने इस आमंत्रण को स्वीकार करते हुए कलकत्ता से वापसी के समय चम्पारण आना स्वीकार कर लिया। इस खबर को पाकर चम्पारण के किसानों में एक नवीन आशा और उत्साह का संचार हुआ।

3 अप्रैल 1917 ई. को राजकुमार शुक्ल को तार द्वारा सूचित किया कि वे कलकत्ता जा रहे हैं वे वहां भूपेन्द्र नाथ बसु के आवास पर आकर उनसे मिले।

गाँधी जी कलकत्ता से 9 अप्रैल 1917 ई. को राजकुमार शुक्ल के साथ प्रस्थान कर 10 अप्रैल को पटना पहुंचे।

पटना में शुक्ल जी ने गाँधी जी को लेकर राजेन्द्र बाबू के आवास पर गये परन्तु राजेन्द्र बाबू का पुरी चले जाने के कारण कुछ देर बाद वे मजहरूल साहब के यहाँ चले गये।

इसी दिन संध्या समय गाँधी जी राजशुक्ल के साथ मुजफ्फरपुर के लिये प्रस्थान कर गये वहाँ कृपलानी जी (बी. वी. कॉलेज के प्राध्यापक) अपने छात्रों के साथ काफी गर्मजोशी के साथ उनका स्वागत अपने आवास पर किये। बिहार आने का गाँधी जी का उद्देश्य चम्पारण के कृषकों की स्थिति की जांच तथा निलहे साहबों से उनकी क्या शिकायतें थी इन बातों का अध्ययन करना था परन्तु 13 अप्रैल को तिरहुत

संभाग के कमिशनर एल. एफ. मोरसेन्ड ने निर्देश दिया कि संभावित गड़बड़ी की आशंका को मद्धेनजर भारतीय दण्ड प्रक्रिया की धारा 144 के अन्तर्गत चम्पारण छोड़ने का निर्देश दें। 15 अप्रैल को गाँधी जी मोतिहारी गोरखबाबू के यहा पहुँचे तथा 16 अप्रैल को रामनवमी प्रसाद तथा बाबू धरणघर के साथ जसोली ग्राम पहुँचे, जहाँ कुछ दिन पहले गड़बड़ी हुई थी। बैशाख के प्रचण्ड गर्मी में पैदल ही वहां पहुंचे।

गाँधी जी जब चन्द्रहिया नामक गांव में किसानों से बात कर रहे थे। उसी समय इंस्पेक्टर अयोध्या प्रसाद तिवारी ने गाँधी जी को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 144 के उल्लंघन की नोटिस देते हुए कहा की आपकी उपस्थिति शान्ति भगं कर सकती है अत: आप अगली रेलगाड़ी से मोतिहारी छोड़ दें। इतना ही नहीं उनकी गतिविधियों की निगरानी के लिये कलेक्टर ने इंस्पेक्टर कुर्बान अली को नियुक्त कर दिया।

परन्तु गाँधी जी कलेक्टर को पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि मैं जिला से बाहर जाने में असमर्थ हूं और जब तक में स्वतंत्र हूँ जाँच कार्य करता रहूंगा।

राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि 18 अप्रैल 1917 का दिन केवल चम्पारण के लिये नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत के लिये स्मरणीय दिन है। जब महात्मा गाँधी जब बिहार प्रान्त के गरीब और पीड़ित लोगों के लिये जेल जाने की तैयारी कर रहे थे। मोतिहारी के अनुमडण्ल अधिकारी के समय अदालत खचा खच भरी हुई थी जिसमें गाँधी जी अपना बयान दे रहे थे। 21 अप्रैल सुबह 7 बजे जिला मजिस्ट्रेड ने पत्र लिखकर गाँधी जी को सूचित किया कि गर्वनर ने उन पर से मुकद्मा उठा लिये जाने की सूचना दी। गाँधी जी ने लेफ्टिनेन्ट गर्वनर के प्राईवेट सचिव को इसके लिये तार द्वारा धन्यवाद दिया।

तत्पश्चात् गाँधी जी ने बेतिया जाने का प्रस्ताव रखा जहां किसानों पर नीलहे कोठी वालों का अमन चक्र चल रहा था। 23 अप्रैल को गाँधी जी बेतिया सब डिविजन ऑफिसर डब्लू. एच. लेविस से मिले।

बेतिया में ब्रजकिशोर प्रसाद राजेन्द्र प्रसाद शभुशरण अनेग्रह नारायण सिह धरणीधर रामनवमी प्रसाद जनकधारी प्रसाद तथा विंध्यवासिनी प्रसाद मुख्य रूप से बयान लिखने का काम करते थे गाँधी जी बेतिया के ग्रामीण इलाकों में भी गये 2500 रैयतों का बयान लिये। जैसे-जैसे बयान लिखने का काम चलता रहा कोठी वालों की बैचेनी बढ़ती गयी और गाँधी जी को बदनाम करने के लिये बिहार प्लाटर्स संघ के सचिव हर्बर्ट काक्स ने निरहुत प्रमण्डल के आयुक्त मोरसेड को पत्र लिखा कि गाँधी के इस जिले में आने में व्यवस्था फेल गयी है।

24 मई 1917 ई. को भारत सरकार के गृह विभाग से बिहार उड़ीसा सरकार के

मुख्य सचिव का तार आया कि भारत सरकार एक जाँच कमिटी गठित कर रही हैं जिला अध्यक्ष मध्य प्रदेश के आयुक्त एफ. जी. स्लाई होगा। समिति का जाँच 14 अगस्त तक चला।

3 अक्टुबर को सर्वसम्मति से रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई। 29 नम्वम्बर 1917 को मिस्टर मॉड ने चम्पारण कृषि विधेयक को विधान परिषद में पेश किया। जिसकी स्वीकृति 4 मार्च 1918 को मिल गई। जिसकी निम्नलिखित धाराएँ है।

1. तिनकटिया को उठा दिया जाय एवं इसे नाजायज समझा जाय।
2. शरहवैशी तुरकोलिया कोठी की हालत में पहली आसीन 1325 फसली से सैकड़े 20 रुपये तथा अन्य में सैकड़े 26 रुपये घटा देगे।
3. अबवाव नजायज हैं तथा रैयत लगान एवं शेष के लिये बिना कोई फीस, तहरीर या हिस्सा दिये हुए रशीद पाने का मुशतहद है।
4. वसूले गये तवान में एक चौथाई किसानों को लोटाने की व्यवस्था थी।

गाँधी जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है। कि समिति की रिपोर्ट सर्वसम्मत उनकी आसंकाओं के अनुरूप कृषि विधेयक पारित हो उसका सबसे बड़ा श्रेय एडवर्ड गेट को है। इस प्रकार कोठी वालों के अनुचित लाभ का द्वार सदा के लिये बन्द हो गया और वह रैयतों का नैतिक विजय था।

इसके अतिरिक्त गाँधी जी ने चम्पारण में शिक्षा एवं समाज सुधार संबंधी कार्य की और भी ध्यान दिये। यहां की जनता घोर अज्ञानता एवं गंदगी में जीने के लिये विवश है। अत: उन्होंने गांव वालों को शिक्षित करने का निश्चय किया। 8 नबम्वर 1917 को महाराष्ट्र और गुजरात से कुछ महिलाओं और पुरूषों को लेकर मोतिहारी लोटे एवं मोतिहारी जिलाधिकारी जे. एल. मेरिमेन को आश्वासन दिया कि वे अब रैयतों एवं प्लान्टर्सों के विवाद से अलग रहकर समाज सुधार की ओर ध्यान देगे।

14 नबम्वर 1917 को बड़हरवा लखनसेन में स्कूल स्थापित किये जिसमें बवन गोपाल गोखले एवं उनकी पत्नी अवतिका गोखले शिक्षक नियुक्त किये गये। 20 नबम्वर को भितिहरवा में दूसरी पाठशाला स्थापित की गई जिसमें शिक्षक सदाशिव लक्ष्मण सोमन प्राणलाल प्रभूराम योगी बनाये गये। फरवरी 1918 में भितिहरवा में कन्या पाठशाला खोल दी गई इसमें आनंदी बाई तथा दुर्गाबाई अध्यापिका थी। इसमें छात्रों की सख्या 85 थी बड़हरवा पाठशाला ने शीघ्र ही एक आश्रम का रूप ले लिया और गांव की औरतों से पर्दा प्रथा कमजोर होने लगा एवं खर्चा काटना पड़ना लिखना एवं रामायण पाठ एवं ग्रामीण उत्सवों का अयोजन आश्रम की योजना में शामिल हो गया।

चम्पारण में गाँधी जी का ग्राम सुधार कार्यक्रम चल ही रहा था तभी अहमदाबाद से अनसुया बहन का बुलावा आ गया एवं फरवरी 1918 में गाँधी जी को जाना पड़ा। परन्तु समाज सुधार का कार्यक्रम पूर्ववत चलता रहा।

इस प्रकार गाँधी जी के अनुसार चम्पारण में सत्य और अहिंसा का एक महान प्रयोग किया गया था। गाँधी जी ने 6 मार्च 1925 को बाबू जनकधारी प्रसाद को एक पत्र लिखा-

"चम्पारण के निष्ठावान सहकर्मियों की याद मुझे हमेशा रहेगी। इससे अधिक निष्ठावान दल के साथ काम करने का मौका मुझे न पहले मिला था न फिर कभी मिल सकेगा। अगर मुझे देशभर में ऐसे लोग मिले तो भारत को स्वराज मिलने मे देर न लगेगी।"

गाँधी जी के शब्दों में-चम्पारण संघर्ष इस बात पर प्रमाण था कि किसी भी क्षमत्र में जनता की नि:स्वार्थ सेवा देश को राजनीतिक दृष्टि से अन्तत सहायता प्रदान करती है।

गाँधी जी का चम्पारण आन्दोलन कार्य उद्देश्य, दृष्टिकोण और परिणाम में दृष्टि से मुख्यत: मानवतावादी था। इसने लम्बे समय से चले आ रहे निलहे गोरों के अत्याचारों से रैयतों को छुटकारा दिलाया उनके लिये सामाजिक न्याय प्राप्त किया और अन्य सामाजिक बुराईयों के उन्मुलन की कोशिश की जिनसे वे बुरी तरह पीड़ित थें।

इसने इन्हे निर्भयता और सत्यता का पाठ पढ़ाया जो भारतीय स्वतंत्रता के रूप में काफी साहयक सिद्ध हुआ सामाजिक उन्नति शिक्षा और गाँवों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये गाँधी जी ने जो प्रयोग किये सचमुच आज के आन्दोलनों के पूर्वाभ्यास थे, जो भारतीय स्वतंत्रता के समय हुआ था।


1. दत्त: वि. स्वा. आ. खण्ड। पृ. 128
2. श्रीवास्तव–बिहार में राष्ट्रीयता-पृ. 75
3. प्रसाद राजेन्द्र–आत्मकथा साहित्य संसार पटना 1947 पृ. 90
4. सर्चलाईट-2 अक्टूबर 1972
5. बिहार लेण्ड रेवेन्यु ए प्रोसीडिग्स न. 9-12 आफ मार्च 1913
6. वही-न. 22-23–ऑफ दिसम्बर 1915
7. बिहार पॉलिटिकल डिपार्टमेंटल फाईल न. 1217 आफ 1916
8. सिंह–मेरे संस्मरण पृ. 8
9. दत्त के. के. राजेन्द्र प्रसाद आनुवाद प्रफुल्लाचन्द्र ओझा सूचना प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1978 पृ. 32
10. मोहन दास करमचन्द्र गाँधी -आत्मकथा 1956 पृ. 50

# मुगलिया शाही शानो शौकत की मल्लिका जहाँआरा बेगम की अदबी खिदमात

**डॉ. रविशंकर कुमार चौधरी**

*ति.मां.भा.वि.वि., भागलपुर*

महान मुगलों का दौर हिन्दुस्तान का बेहतरीन जमाना माना जाता है, क्योंकि उस जमाने में हिन्दुस्तान में हर तरह की खुशहालियों के साथ-साथ मुगल शहजादों और शहजादियों की पढ़ाई-लिखाई का खास खयाल रखा जाता था। यही कारण है कि मुगलकाल में शहजादे जंग के फन के साथ-साथ तामिल के फन में भी माहिर होते थे। साथ ही मुगल शहजादियाँ भी तामिल में महारत रखती थी, जिनमें नूरजहाँ, गुलबदन बेगम, मुमताज महल, जेबुन्निसा बेगम खास हैं, जिन पर भारत को हमेशा गर्व रहेगा। उन्हीं बेगमों में एक शख्सियत जहाँआरा बेगम की है, जो बादशाह शाहजहाँ और उसकी बेगम मुमताज महल की पहली लड़की थी। जहाँआरा बेगम की 1023[1] हिजरी यानि 1611 ई. में पैदाईश हुई थी, जब नुरूद्दीन मोहम्मद जहाँगीर तख्तशाही पर जलवा अफरोज थे और शाहजहाँ चित्तौड़गढ़ के युद्ध में मशरूफ था। उस समय शाहजहाँ की अनुपस्थिति में जहाँआरा के जन्म के उपलक्ष्य में जश्न बड़ी धूमधाम से मनाया गया। सरकारी दफ्तरों में छुट्टी रही और तीन दिनों तक शाही दावतों का सिलसिला चलता रहा। शाहजहाँ को अपने तमाम औलादों (चार पुत्रों एवं दो पुत्रियों) में जहाँआरा बेगम सबसे प्यारी और माँ मुमताज महल की लाडली थी। शाहजहाँ के युद्ध से लौटने के बाद अकीके की रस्म (जन्म दिवस) बड़ी धूमधाम से इस अंदाज में मनायी गयी कि देखने वाले कभी भूल न सकें। अपनी माँ और वालिद की सबसे लाडली होने का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि मुमताज महल ने यह वसीयत[2] की थी कि उसकी दौलत और जायदाद को दो बराबर हिस्सों में बाँटा जाय। एक हिस्से की वारिस केवल जहाँआरा बेगम होगी और दूसरे हिस्से में तमाम औलादें होंगी।

जहाँआरा बेगम का ददीहाल की तरफ से सिलसिला-ए-नसब (वंशानुक्रम) पहले मुगल बादशाह बाबर से मिलता है और ननिहाल की तरफ से मिर्जा ग्यास बेग (इत्मादुद्दौला) से मिलता है। बचपन का जमाना बड़े नाज-वो-नेमत (सुकुमार) और मुगलिया शाही शान-शौकत के बीच खुशियों में झूलते हुए गुजरा। जब जहाँआरा बेगम ने बचपन के खूबसूरत दौर गुजारकर सिन-ए-शउर (युवावस्था) की हसीन वादियों में कदम रखा तो उसकी पढ़ाई-लिखाई का खास इंतजाम किया गया क्योंकि उसमें प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त थी और शेरो-शायरी का शौक कुदरती देन था। इसलिए

तर्जुबाकार उस्ताद के द्वारा उनके छुपे हुए जौहर निखरते गए और बहुत ही कम अवधि में कुरानमजीद की पूरी तरह जानकारी हो गयी। फारसी के अतिरिक्त अरबी भाशा पर जहाँआरा ने पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। कुरान पढ़ने के बाद उसके खास उसूलों (सिद्धांतों) को भी उसने याद कर लिया और जीवन भर उस पर अमल करती रही। इबादत (प्रार्थना) उसके जीवन का मुख्य अंग बन गया। अपनी बेटी की इन्हीं खूबियों पर शाहजहाँ फिदा हो गया।[3] जहाँआरा को पढ़ाने के लिए कई अध्यापिकाएँ थीं जिनमें सबसे मुख्य तौर पर सतीउन्नीसा खानम का नाम लिया जाता है। जहाँआरा बेगम बेपनाह इल्मियत, काबिलियत, जबानदानी और शेरो-शायरी की मिसाल थी[4] और इसमें जहाँआरा की जाती सलाहियत के साथ-साथ प्रसिद्ध अध्यापिकाओं की मदद, खानदानी अदबी जौक (साहित्य-प्रेम), शोख और इल्मी माहौल का भी बड़ा हिस्सा रहा[5] जिसमें जहाँआरा बेगम पली और बढ़ी।[6] जिस मुगल हरम (अन्त:पुर या जनानाखाना) में वह पैदा हुई उससे पहले वह हरम नूरजहाँ जैसी काबिल बेगमों से सुशोभित थी। नूरजहाँ के तौर-तरीकों को जहाँआरा ने न केवल कायम रखा बल्कि उसे और ज्यादा अदबी रिवायत बनाकर पेश किया। जहाँआरा की परवरिश बड़े नाजो-नेमत के साथ शाही महल (दुनिया की जन्नत) में हुई। इस शाही अंदाज में पलने के बावजूद उसके मिजाज में बहुत नरमियत थी, जो आम इंसान में होना असंभव है। उसके आला स्वभाव, दानी प्रवृत्ति, मेहमान नवाजी और दरियादिली की मिसाल एशियाई बेगमों की श्रृंखला में शायद खोजने से भी न मिले। इतिहासकारों ने भी जहाँआरा बेगम के आला स्वभाव की तारीफ की है। वह सादा मिजाज थी और बेशुमार दौलत के बावजूद बेजा शानो-शौकत और दिखावे से परहेज करती थी। जहाँआरा के चरित्र का आलम यह था कि हर कोई, चाहे वह किसी भी दर्जे का हो, किसी भी रूतबे का हो, उससे बिना झिझक बात कर सकता था। इनकी यह जाती खूबी को बढ़ावा देने वाली वह मजहबी खूबी थी, जो जहाँआरा के ऊपर बहुत ज्यादा असर रखती थी। उसने हुस्नो-सूरत के साथ-साथ हुस्नो-सीरत से दुनिया को सजा दिया था। खूबसूरती के साथ-साथ कुदरत ने उसे एक ऐसी कशिश (शक्ति) दी थी, जिससे हर कोई उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था और अपने इसी व्यवहार के कारण उसने सारे जहाँ को अपना बना लिया।

1628 ई. में जब शाहजहाँ हिन्दुस्तान की गद्दी पर बैठा तो जहाँआरा बेगम के जीवन का एक नया दौर आरंभ हुआ। इसलिए कि वह *शाहजहाँ-ए-हिन्द* की बड़ी पुत्री थी और वह उस देश से ताल्लुक रखती थी, जिसका नाम पूरे एशिया और यूरोप में फैला हुआ था। शाही दरबार में बादशाह शाहजहाँ ने जहाँआरा बेगम को *''पादशाह बेगम''* का खिताब दिया। जहाँआरा ने शाही हुकूमत में अपना बहुत समय लगाया, क्योंकि उसकी माँ मुमताज महल शाही हुकूमत का सारा काम करती थी, इसलिए उसने अपनी माँ के काम में पूरा साथ दिया। मगर यह साथ ज्यादा दिनों का नहीं रह सका, क्योंकि बहुत जल्द 1631 ई. में मुमताज महल का देहान्त हो गया जिसका जहाँआरा के दिमाग पर इस कदर असर पड़ा कि सांसारिक सुख एवं भौतिकता की

तरफ से उसकी रूचि समाप्त हो गयी और उसने अपना सारा समय आध्यात्मिक चिन्तन एवं जनसाधारण की सेवा करने में समर्पित कर दिया। हालाँकि मुमताज महल की मृत्यु के बाद शाही हरम की वह प्रधान महिला थी और *''साहिबत-उस-जमानी''* (Mistress of the Age) जैसी उपाधि से नवाजी गयी।[7] वह *बेगम साहेब* के नाम से भी जानी गयी।[8]

शाहजहाँ जब बीमार हो गया तो उसने दारा शिकोह को, जो उसका सबसे बड़ा लड़का था, राजगद्दी पर बैठाना चाहा और जहाँआरा बेगम ने भी इसका समर्थन किया। परन्तु औरंगजेब ने ऐसा नहीं होने दिया। जहाँआरा अपना सारा समय अपने भाइयों, जो हमेशा एक-दूसरे से तख्त के लिए लड़ते रहते थे, में मोलजोल कराने और अपने वालिद की खिदमत में गुजारती थी। जहाँआरा ने बहुत कोशिश की कि यह लड़ाई-झगड़ा ना हो, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। औरंगजेब ने शाहजहाँ को आगरे के किले में कैद कर लिया और खुद मुगल बादशाह बन बैठा। अपने भाई के शाही शान-शौकत को छोड़कर और उसके जश्न में शामिल न होकर जहाँआरा बेगम ने अपने पिता के साथ-साथ अपने लिए भी कारागार को चुना और अपने वालिद के साथ करीब आठ साल कैद में गुजारा। 1666 में शाहजहाँ की मृत्यु हो गयी। शाहजहाँ के मरने के बाद जहाँआरा बेगम 15 साल जीवित रही। बाद में औरंगजेब ने उसे अपने महल में बुला लिया और शाही घरानों की सबसे बड़ी मलिका का दर्जा दिया।

अपने शासन के क्रम में शाहजहाँ प्रत्येक समस्या और प्रधान मुकदमों में जहाँआरा बेगम की राय अवश्य लेता था। हर घटना और मुकदमें पर पूरा ध्यान देना जहाँआरा का तरीका था। एक बार शाहजहाँ, आलमगीर (औरंगजेब) से नाखुश था। उसने किसी की बात जब नहीं सुनी तो बेगमों ने जहाँआरा से कहा और जहाँआरा की सिफारिश से शाहजहाँ का गुस्सा समाप्त हुआ[9] और आलमगीर जहाँआरा के इस एहसान को कभी नहीं भूला और शाहजहाँ के मरने के बाद भी उसे इज्जत की निगाह से देखता रहा और उसे हमेशा खुश रखना चाहता था। इसलिए उसने जहाँआरा बेगम को हरम की प्रधान महिला का खिताब दिया।

कुछ इतिहासकारों ने जहाँआरा बेगम के बारे में गलत बातें लिखकर उस पर यह भी इल्जाम लगाया है कि उसने शादी नहीं की। लेकिन इससे जहाँआरा के चरित्र में अंधेरा नहीं होता है। शादी नहीं करने की वजह खुदा से बेपनाह लगाव था। वह अपने जीवन का अधिकांश समय कुरान पढ़ने और मजहबी बातों को जानने में गुजारती थी। जहाँआरा के ख्याल में शादी मजहबी बातों की जानकारी में रूकावट बनती, जो उन्हें बहुत प्यारी थी। अंग्रेज इतिहासकारों ने शादी नहीं करने के कारण बहुत सी गलत बातें कह डाली हैं।[10] वे कहते हैं कि जहाँआरा बेगम को दारा शिकोह के प्रति आसक्ति थी। यहाँ तक कह डाला कि उसके अपने पिता के साथ अवैध व अनैतिक संबंध थे और इसी कारण उसने अपने पिता के साथ कारावास में रहना पसंद किया। शायद अंग्रेज इतिहासकारों ने अपनी उस दुश्मनी का बदला इस तरह से लेना चाहा

जो इन्हें औरंगजेब से थी। इस तरह जब हम जहाँआरा बेगम के चारों ओर के वातावरण, उसके पालन-पोषण और मुगल दरबार के आदाब को देखते हैं तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह इल्जाम बहुत गलत है। स्त्री की शादी न करने की यह पहली मिसाल नहीं थी, इसके पहले भी *''राबिया बसरी''*[11] ने भी शादी नहीं की। यह सच है कि इस्लाम में शादी करना जरूरी बताया गया है, लेकिन एक जरूरी बात को पूरी न करके हजारों अच्छे काम जहाँआरा बेगम ने किए, जिनसे इस एक काम न करने की पूर्ति हो जाती है और शायद जहाँआरा का शादी न करना ही अच्छा हुआ, क्योंकि जहाँआरा अगर शादी करके अपनी गृहस्थी में लग जाती तो उसे शाहजहाँ की खिदमत का मौका न मिलता जो उसके जीवन का स्वर्णयुग था।

कुदरती लगन रखने की वजह से ही जहाँआरा बेगम में लोगों की खिदमत करने की बेहद लालसा थी। इसका प्रमाण शाहजहाँ के जेल होने के बाद से लेकर मुराद के बच्चों के खिदमत करते हुए हम पाते हैं। जहाँआरा बहुत दु:खभरा दिल रखती थी। जनता के दु:ख-दर्द को समझना, उनके लिए हर समय आगे रहना जहाँआरा की बहुत बड़ी खूबी थी। उसने लोगों के लिए बहुत सारे काम किए। अपनी दौलत का ज्यादा हिस्सा आम प्रजा के काम में खर्च करती थी और उससे बचने के बाद वह मजहबी इमारतों को बनवाने या मरम्मत करवाने में भी खर्च करती थी। आजमगढ़ में जहाँआरा की बनायी कई सरायें अबतक मौजूद हैं। दिल्ली में भी उसने एक बड़ी सराय तैयार करवायी थी जिसके निशानात अब बर्बाद हो चुके हैं। लेकिन फिर भी ऐतिहासिक ग्रंथों में उसकी शानो-शौकत का वर्णन मिलता है।[12] जहाँआरा द्वारा निर्मित अटक के करीब का एक सराय, जो अपने जमाने में बहुत बड़ी होगी, लेकिन आज इसके सिर्फ खण्डहर ही मौजूद हैं, जो *'बेगम की सराय'* के नाम से मशहूर है।[13]

बादशाह शाहजहाँ ने अपनी प्यारी बेटी को बहुत सारे बाग उपहार में दिए थे जो आगरा, कश्मीर, दिल्ली और काबुल में हैं। दिल्ली में अवस्थित बाग *''मलिका का बाग''* के नाम से मशहूर है जिसे 1060 हिजरी यानि 1669 ई0 में बनवाया गया था जो 970 गज का है। मुमताज महल की मृत्यु के बाद जहाँआरा बेगम ने अपने पिता से *''बाग-ए-जहाँआरा''*[14] प्राप्त किया। इसके अलावे भी उसके वालिद ने *''बाग-ए-शाहदरा''*[15] उसे प्रदान किया। जहाँआरा बेगम को बाग लगाने का विशेष शौक था। उसने अम्बाला में एक बाग लगवाया[16] और दूसरा सूरत में।[17] उसके कब्जे में तीन और बाग कश्मीर में थे जिनके नाम क्रमश: *''बाग-ए-ऐशाबाद''*, *''बाग-ए-नूरअफसाँ''* और *''बाग-ए-सफा''* थे[18] जो सरदार जवाहर खान ख्वाजा सरा के देखरेख में लगवाये गये थे।[19] दिल्ली में जहाँआरा ने अपनी रूचि से एक बाग लगवाया था जिसका नाम *''बेगम बाग''* था। चन्द्रभान ब्राह्मण ने इसे *''बाग-नामुस-उल-मोमनीन''* और *''बेगम-साहिबे''* जैसे अलंकृत नामों से पुकारा है।[20] इसका चश्मा जो 400 फीट की ऊँचाई से गिरता था, मुगलकाल में शासक तथा शहजादे-शहजादियों के आकर्षण का विषय था। कश्मीर में जहाँआरा बेगम द्वारा लगाये गये एक और बाग का नाम *''बेगम साहिबा बाग''* था।[21]

लाल किला दिल्ली के लाहौरी द्वार के आगे चौड़ा और बहुत बड़ा बाजार था, जिसका नाम किसी जमाने में *''लाहौरी बाजार''* था। इस बाजार के सिरे पर सुनहरी मस्जिद है, जो कि पुरानी दिल्ली में जहाँआरा के द्वारा निर्मित बहुत बड़ा हिस्सा है। जहाँआरा बेगम हजरत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी से बहुत लगाव रखती थी, और वहाँ भी उन्होंने अपने बड़ों की तरह चन्द यादगार छोड़ा है। जिनमें से *''बेगम दालान''* का नाम लिया जा सकता है। जब पहली बार बेगम जहाँआरा यहाँ आयी थी, तो इसे बनवाया था। इसके अलावे जहाँआरा बेगम ने बगीचे, सराय, इमारतें इस कदर बनवाये हैं, जो मध्यकालीन इतिहास के क्षेत्र में अभूतपूर्व देन कही जा सकती है।

प्रशासन के क्षेत्र में भी जहाँआरा बेगम की सक्रिय भागीदारी रही। शाहजहाँ जहाँआरा बेगम से प्रभावित होते रहे। बादशाह से मिलने वालों को सर्वप्रथम जहाँआरा बेगम से आज्ञा लेनी पड़ती थी और उन्हें तोहफे नजराना स्वरूप भेंट देना पड़ता था। हम देखते हैं कि जहाँआरा द्वारा शाही फरमान भी जारी किए गए। शाही फैसलों में मुहर भी शाही हरम में ही लगती थी और यह शाही मुहर मुमताज महल के बाद जहाँआरा बेगम के पास रहती थी। जहाँआरा बेगम के नाम से मुहर भी मिलती है।[22] शाहजहाँ के समय में शाही फैसलों को जहाँआरा बेगम ने प्रभावित किया।

जहाँआरा ने फारसी जबान की बड़ी खिदमत की है जिसका प्रमाण उनकी कविताओं और रचनाओं में मिलता है। उन्हें साहित्य से पूरा लगाव था। इसलिए दूसरों की कविताओं और साहित्यों को पढ़ने और समझने के साथ-साथ खुद भी साहित्य को बढ़ाने में हिस्सा लिया करती थी। जहाँआरा को शेरो-शायरी के अलावा मलफुजात[23] (संतों व महात्माओं का प्रवचन) से बड़ा गहरा लगाव था और हमेशा इन्हीं विषयों के अध्ययन-चिन्तन में अपना समय व्यतीत करती थी। उनकी शायरी में हास्य-रस का समावेश रहता था, जिससे प्रभावित होकर उन्होंने कई पुस्तकें लिखी थी जिसमें *''मौनिसूल अरवाह''* के अलावा और का निशान बाकी नहीं है। लेकिन इन तमाम पुस्तकों में हजरत मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी और उसके बाद के लोगों के हालात हैं। यह पुस्तक 1069 हिजरी में लिखी गयी थी। यह संजीदगी, गंभीरता, चित्त की शांति जहाँआरा बेगम में उस समय पैदा हुई जब जहाँआरा की उम्र 26 साल थी।[24] इस पुस्तक की दो पाण्डुलिपि ब्रिटिश संग्रहालय में भी मौजूद है। ब्राउन ने भी एक पाण्डुलिपि के बारे में बताया है, जो शरीफ में मौजूद है। इसके अलावा एक पांडुलिपि शिवली अकादमी में मौजूद है जिसे खुद जहाँआरा ने सुनहरे हरफ में आकिल खान से वसीलों पर लिखवाया था। जहाँआरा ने एक *सेयाहतनामा* भी लिखा था जो बाद में बहुत खोजने पर भी नहीं मिला। इसे अदबी दुनिया की एक बहुत बड़ी क्षति कहना चाहिए कि जहाँआरा जैसी इतिहासकार का अदबी कारनामा गायब हो गया। गद्य के साथ-साथ जहाँआरा बेगम को फारसी, अरबी कविता से गहरा लगाव था। दूसरे की कविता से खुद भी खुश हुआ करती थी और अपनी कविता से दूसरों को भी खुश किया करती थी। अरबी, फारसी के अलावा तुर्की जबान की भी इन्हें जानकारी थी।

शायरी के लिए शायराना तबियत का होना बहुत जरूरी है, जो जहाँआरा में मौजूद था। शायरी का शौक कुदरती तौर से था। जहाँआरा बेगम की एक खास खूबी यह थी कि वह बिना विचार किए तुरन्त कविता करने लगती थी। साथ ही उसकी शायरी की सबसे बड़ी खूबी उसकी सादगी, हकीकत पसन्दी और पुरानापन रंग है। चूँकि जहाँआरा मजहब से बहुत करीब थी, इसलिए इनकी शायरी भक्ति प्रधान है। यही वजह है कि जहाँआरा की शायरी हुस्न व इश्क की रिवायती शायरी नहीं है। उनके गजल के भी नमूने मिलते हैं, लेकिन इनका माशूक दुनिया का कोई सुन्दर रूप नहीं बल्कि दुनिया को बनाने वाला खुदा है जिसे वह दिलोजान से चाहती है। उसने कसीदे भी लिखे और रूबाई भी, जो भक्ति से ओत-प्रोत हैं - *''इस दुनिया में तेरी बुजुर्गी के सिवा कुछ नहीं है। तेरी तारीफ को बयाँ करना हम जैसों से मुमकिन नहीं बल्कि खुद तेरी जात तेरी तारीफ के लायक है।''*[25]

जहाँआरा ने अपने जीवन में भी और अपनी शायरी में भी इश्क, मोहब्बत की रंगीनी को बेकार बताया है। उनकी गजल में भी जो इश्क का रूप है, वह भक्तिरस का है, जिसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है - *''ऐ खुदा हम सब तेरी खुलीबेआन करने को मजबूर हैं। तू ताकत वाला है, हम सब तेरे आगे कुछ भी नहीं हैं। हम जो कुछ भी देखते हैं, सिवाय एक तेरी जाति के और कुछ भी सच नहीं है।''*[26][26].

*ऐ ब सिफ्त बेआने मा हमा हेच*

*हम आन तुव आन मा हमा हेच*

*हरचे बीदन खेआले महमा नुकस*

*हर चे गोयद जबाने मा हमा हेच।*

जहाँआरा ने कविता के सभी भागों पर कमाल दिखाया था। गजल के अलावा *मसनीबयात* (उर्दू पद की एक किस्म) भी लिखी थी, लेकिन और दूसरी कविताओं की तरह लोगों ने इसे गायब कर दिया। मसनबी के केवल तीन पंक्तियाँ ही मिलती हैं जिसे उसने शाहजहाँ की मौत पर लिखा था। यह पंक्ति खुद जहाँआरा के दुखते दिल के जख्म (घाव) हैं जो दूसरों को भी रोने पर मजबूर कर देते हैं - *''ऐ मेरे आफताब जब तू मेरी नजर से दूर हुआ है, तेरी जुदाई की रात की सुबह हो गयी है। ऐ दुनिया के बादशाह और ऐ किला-ए-जहाँ, अपने रहमत की नजर खोल और मेरी तरफ देख।''*[27]

जहाँआरा बेगम खुद भी शेर कहती थी और कहने वालों की कदर भी करती थी। अच्छा शेर कहने वालों को इनाम देना जहाँआरा का दिलचस्प शौक था। शेख मोहम्मद अली माहिर अकबराबादी ने जहाँआरा की तारीफ में एक मसनवी लिखी। जहाँआरा की कद्रदान तबियत ने उसे 500 रूपया दिया। इनामो एकराम की यह बारिश बराबर जहाँआरा के दरबार में हुआ करती थी। धन की कोई कमी नहीं थी क्योंकि शाहजहाँ के समय सूरत बन्दरगाह से जितनी भी आय होती थी, वह जहाँआरा

के हिस्से में आती थी। जहाँआरा एक बार अपने बाग की सैर कर रही थी। परदे का पूरा इन्तजाम था, लेकिन बावजूद हजार परदे के मीर मेहंदी तेहरानी, जो उस समय का मशहूर शायर था, उसने जहाँआरा को देखकर यह शेर पढ़ा - *''रूख से नकाब उठा और जलवा-ए-हुस्न नजर आया और फूलों की खुशबू से दिमाग प्रसन्न हो गया।''*[28]

जहाँआरा उस शेर से बहुत प्रभावित हुई। शायर को सामने बुलवाया, बार-बार शेर पढ़वा कर सुना[29] और उसे 500 रूपया इनाम में दिया। लेकिन औरत की गैरतमन्द तबियत इस दुस्साहस और गुस्ताखी को बर्दाश्त नहीं कर सकी और उसे शहर से निकलवा दिया।[30] इन सब बातों से पता चलता है कि जहाँआरा बेगम बहुत ऊँचे दर्जे की शायरा थी।

1681 ई. यानि तीन रमजान 1092 हिजरी को 70 साल की उम्र में जहाँआरा ने वफात पायी। चिशतिया के खानदान से जहाँआरा को जिन्दगी भर लगाव रहा है। मरने के बाद भी उनकी वसीयत के मुताबिक यह लगाव मौजूद रहा। वह उस समय के निजामुद्दीन औलिया के मजार के ठीक पायताने दफन की गयी और उस मामूली और सादा मजार पर जो शेर लिखा है, वह उसकी नेकी, परहेजगारी की दास्तान दोहरा रहा है। जहाँआरा का मजार[31] संगमरमर का बना है। उसके चारों तरफ संगमरमर की जालियाँ लगी है। उस जाली के अन्दर चार कब्रें हैं, जिन्हें उसने अपनी दौलत के बदले में पसंद किया था। मजार पर जहाँआरा का यह शेर खुदा हुआ है जो उसे हमेशा ढके रहती है - *''मेरी मजार बिना सब्जा से ढँकी कैसे रह सकती है के हम गरीबों की कब्र पोश के लिए यह घास काफी है।''*[32]

हम देख सकते हैं कि बेगम जहाँआरा और उनकी अदबी खिदमात मुगलों के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण भाग रही थी और जहाँआरा बेगम ने अपने लम्बे समय तक मुगल बादशाह शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन को प्रभावित किया और शाही हरम में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी।

## संदर्भ -


1. बेगमात खानदान तैमूरया, पृ.सं.-42.
2. जहाँआरा बेगम, पृ.सं.-3.
3. बेगमात खानदान तैमूरया, पृ.सं.-40.
4. जहाँआरा बेगम, पृ.सं.-3.
5. बेगमात, तैमूरया, पृ.सं.-3 और पृ.सं.-448.
6. तारीख औरंगजेब, भॉल्यूम-3, पृ.सं.-63.
7. रेखा मिश्रा, वीमेन इन मुगल इंडिया, दिल्ली, 1967, पृ.सं.-60.
8. जे0एन0 सरकार, स्टडीज, भॉल्यूम-III, पृ0सं.-58.
9. जहाँआरा बेगम, पृ.सं.-29.
10. हेआते औरंगजेब.

11. सफरनामा, मनुची, पृ.सं.-221.
12. बादशाहनामा, भॉल्यूम-1, पृ.सं.-75.
13. डिब्लुबोर ने अपनी पुस्तक 'काबुल और पंजाब' में इस सराय का हाल ब्याँ किया है। आसारूल सनादीद, पृ.सं.-69.
14. अब्दुल हमीद लाहौरी, शाहजहाँनामा, पांडुलिपि सं.-74, प्रति दूसरी, खण्ड पहली, पृ.सं.-99.
15. लाहौरी, प्रति दूसरी, खण्ड-दूसरी, पृ.सं.-587.
16. कजवीनी, प्रति तीसरी, पृ.सं.-584.
17. थ्रेभनॉट, पृ.सं.-35( स्टेमोरनियस, प्रति दूसरी, पृ.सं.-468( प्रति तीसरी, पृ.सं.-177.
18. लाहौरी, प्रति पहली, खण्ड दूसरी, पृ.सं.-27.
19. अमल-इ-सलेह, प्रति दूसरी, पृ.सं.-36.
20. चन्द्रभान, चहार चमन, पांडुलिपि सं.-920, कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी, पृ.सं.-119.
21. लाहौरी, पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-230.
22. यह मुहर सितारा के एक साहब मिस्टर नवेस के पास है। जहाँआरा बेगम, पृ.सं.-47.
23. जहाँआरा बेगम, पृ.सं.-36.
24. बजमें तैमूरया, पृ.सं.-448.
25. आ जा के कमाल कि ब्रयाई तू दूर
आलमें नमी अज बहर अताई तू बूद
मारा चे हद हमदों सनाई तू बूद
हम हमदो सनाई तू सजाई तू बूद।
अलनदवा, जिल्द-8, नं.-4, 19.11., बज्मे तैमूरया, पृ.सं.-450.
26. ऐ ब सिफ्त बेआने मा हमा हेच
हम आन तुव आन मा हमा हेच
हरचे बीदन खेआले महमा नुकस
हर चे गोयद जबाने मा हमा हेच।
*जहाँआरा बेगम,* पृ.सं.-30.
27. ऐ आफ्ताबे मन के शूदी गायब अज नजर
आया शबे फेराक तोरा हम बवद सहर
ऐ बादशाह ऐ आलम बाचे किबलाये जहाँ
बकूशाई चशम रहमत वा बर हाल मन नगर।
*बजमें तैमूरया,* पृ.सं.-450.
28. बूरखा बारूख अफगन्दा बररूता जबों इशक
ता निब्हत बेखता आयेद बा दिमामर्श।
*जहाँआरा बेगम,* पृ.सं.-31.
29. *जहाँआरा,* लेखक- महबूमूर रहमान कलीम, पृ.सं.-26( *बजमें तैमूरया,* पृ.सं.-453.
30. *बजमें तैमूरया,* पृ.सं.-454.
31. *जहाँआरा बेगम,* पृ.सं.-32.
32. बगैर सबना नापोशद कसे मजार मोरा
के बसर पोश गरीब हमी गेयाबस अस्त।
मोकालत शिबली, पृ.सं.-120.

# मुगलकालीन चित्रकला

पवन कुमार

*शोधार्थी, इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर*

भारत में मुगलकाल के पूर्व चित्रकला के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिसके उद्भव एवं विकास का इतिहास वर्षों पुराना है। सर्वप्रथम इस कला के बीज आदिमानव द्वारा बोये गये हैं।[1] पुरा पाषाणकाल में मानव ने गुफा चित्रकारी की। सिंधुवासी बरतनों, आभूषणों एवं खिलौनों पर सुंदर चित्र बनाते थे। तत्पश्चात् प्रथम सदी ईसा पूर्व से चित्रकला के अनेक स्पष्ट प्रमाण सामने आने लगे। अजंता की गुफाओं में की गयी सबसे प्राचीन चित्रकारी ई.पू. प्रथम शताब्दी की है। इन चित्रों के विषय भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों की कथाओं को बनाया गया है। गुप्तकाल में अजंता और बाघ की गुफाओं के भित्ति-चित्रों का निर्माण हुआ।[2] छठी शताब्दी में चालुक्यों ने बादामी में भित्ति चित्रकारी के उत्तम नमूने तैयार करवाये। 7वीं शताब्दी में पल्लवकालीन चित्रकला तिरुमलैपुरम, काँची और सितण्णवासल में निर्मित मंदिरों की अंतर्वर्ती दीवारों एवं छतों पर अंकित है। 10वीं शताब्दी में एलीफैंटा के उमा-महेश मन्दिर के दूसरे तल के अंतर्वर्ती छत पर लिया गया चित्रांकन इस गुहा मन्दिर की शोभा को बढ़ता है। चोलों द्वारा 11वीं शताब्दी में भित्ति चित्रकला के अंतर्गत तंजौर के बृहदेश्वर मंदिर की दीवारों पर अजंता की चित्रकला से प्रभावित होकर धार्मिक चित्र बनाये गये हैं। 16वीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य के शासकों ने लेपाक्षी में भित्ति चित्रकला के अनेक रोचक नमूने बनवाये। सल्तनत काल में इस्लाम प्रतिबंधित होने के कारण चित्रकला पनप नहीं पायी।

बाबर मुगलवंश का संस्थापक था, जिसकी कला में बेहद रुचि थी। अपनी आत्मकथा में उसने अपने समय के प्रसिद्ध चित्रकार बिहजद की प्रशंसा की है। उसने उसके द्वारा निर्मित चित्रों का बारीकी से अध्ययन किया था। चूँकि उसका शासनकाल चार वर्षों का था, इसलिए चित्रकला के क्षेत्र में कुछ करने का उसे समय न मिला।

हुमायूँ ने मुगल चित्रकला की नींव डाली। जब वह शेरशाह से पराजित होकर फारस और अफगानिस्तान में अपना प्रवास व्यतीत किया, जहाँ उसका सम्पर्क ख्वाजा अबदुस्समद और मीर सैयद अली जैसे चित्रकारों से हुआ। वे दोनों कलाकार हुमायूँ की अस्थायी राजधानी काबुल में चित्रकारी करने लगे, जिनसे बालक अकबर ने वहीं चित्रकला सीखी। अबदुस्समद के द्वारा तैयार कृतियों में कुछ पादशाह जहाँगीर के लिए तैयार की गई गुलशन चित्रावली[3] में संगृहीत है, जो इस समय तेहरान के गुलिस्ताँ महल में सुरक्षित है। पुन: जब हुमायूँ को सन् 1555-56 ई० में हिन्दुस्तान की राजसत्ता हस्तगत करने में सफलता मिली, तो दोनों चित्रकार भी उसके साथ

दिल्ली में ही आकर चित्रकारी करने लगे, जिनकी शैली ईरानी थी। हुमायूँ के पश्चात् अकबर के सिंहासन पर बैठने पर भी वे दोनों चित्रकार वहाँ सेवारत रहे।

अकबर के समय में ही मुगल चित्रकला शैशवावस्था की दहलीज को पारकर प्रौढ़ावस्था में पहुँच गयी थी। अकबर बचपन से ही चित्रकारी में रुचि रखता था। राजगद्दी पर बैठने के अनन्तर उसने अलग चित्रकला विभाग की स्थापना की, जहाँ फतेहपुर सीकरी में देशी-विदेशी चित्रकार काम करने लगे। आइने-अकबरी में अबुल फजल ने प्रमुख चित्रकारों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं- दसवंत, बसावन, केशव, लाल, मुकुंद, मेशकिन, फारूख, कलमक, माधू, जगन, महेश, खेमकरण, तारा, सांवल, हरिवंश और राम।[4]

दास्ताने-अमीर-हम्जा मुगल चित्रकला की पहली महत्त्वपूर्ण कृति है, जो हम्जानामा के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। दुर्लभ आंशिक पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त इसमें 1200 चित्रों का अनोखा संग्रह हैं, जिसमें हरे, काले, कसानी, पीले, नीले और लाल रंगों का प्रयोग मिलता है। हम्जानामा की चर्चा अबुल फजल, शाहनवाज एवं बदायूँनी ने भी की है। अकबर की प्रेरणा से इस चित्र संग्रह का निर्माण सैयद अली एवं अबदुस्समद के मार्गदर्शन में बिहजद जैसे करीब 50 चित्रकारों के परिश्रम से 15 वर्षो में पूरा हुआ। मुल्ला अलाउद्दौला कजवीनी ने अपने नफाइसुल-मासिर में उसे हुमायूँ के मस्तिष्क की उपज माना है।[5] हम्जनामा के चित्रों की ये विलक्षणताएँ है: ''विदेशी या विजातीय पेड़-पौधे और उनके रंग-बिरंगे फूल-पत्ते, स्थापत्य अलंकरण की बारीकियाँ, साजो-समान आदि-आदि।[6]

अबुल फजल ने लिखा है कि दरबारी चित्रकारों में आपस में प्रतिस्पर्धा की भावना थी। अकबर हर हफ्ते कलाकारों के कार्यो का निरीक्षण करता था, वह उनकी दक्षता और गुणवत्ता का मूल्यांकन कर उन्हें सम्मानित करता था। उसने एक अदने से चित्रकार दसवंत को ''अपने समय का पहला अग्रणी कलाकार''[7] बनने में भरपूर सहयोग दिया।

दसवंत द्वारा बनाए गए चित्र रज्मनामा पाण्डुलिपि महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय जयपुर में उपलब्ध है। उनकी अन्य दो कृतियाँ खानदाने-तैमूरिया एवं तूतीनामा हैं। बाद में दसवंत ने मानसिक रूप से विक्षिप्त होकर सन् 1584 ई० में आत्महत्या कर ली। रज्मनामा पाण्डुलिपि को मुगल चित्रकला के इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है। अकबर के निजी उपयोग हेतु चित्रकारों द्वारा चुनिंदा विषयों के लघु-चित्र बनाये जाते थे। दसवतं के अलावा लाल, तुलसी, मेशकिन एवं बसावन ने भी उत्कृष्ट रचनाएँ तैयार कीं। इनमें बसावन चित्रकला सभी के क्षेत्रों में रंगों के प्रयोग में, रेखांकन में, भू-दृश्यों के चित्रण तथा छवि-चित्रकारी में निपुण था। बसावन की सर्वोत्कृष्ट कृति मजनू को एक कृशकाय घोड़े के साथ निर्जन क्षेत्र में भटकता हुआ चित्र था।

रज्मनामा के बाद शाही चित्रशाला में चित्रित पाण्डुलिपियों की भरमार हो गई, जिनमें प्रमुख हैं- रामायण (1589), अनवरे-सुहाइली (1595-96), बाबरनामा (1595-96), जमीयुत-तबारीख आदि।[8] उपर्युक्त पाण्डुलिपियों में संलग्न अधिकांश चित्र मुगल चित्रणशाला में निर्मित लघु-चित्रों के उत्कृष्ट नमूने हैं। रंग-योजना के लिहाज से इनमें तकनीक पर चित्रकारों का कौशल नजर आता है। इतना ही नहीं प्रकृति एवं मानव के विषय में चित्रकारों की परिपक्व अवधारणा परिलक्षित होती है। इन चित्रों में विभिन्न देशीय एवं स्थानीय कला के तत्त्वों का अनोखा सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। चित्रकारों ने चित्रों के माध्यम से अपने आश्रयदाताओं के अनुकूल अभिव्यक्ति प्रदान की। इन चित्रों के विषयों का चुनाव खुद बादशाह के इच्छानुसार होने से इनमें जनसाधारण की कलात्मकता के दर्शन समाप्त हो गए। अकबरनामा के चित्र यथार्थपरक और विश्वसनीय नजर आते हैं, जिसका तैमूरनामा, जमीयुत-तवारीख, तारीखे-अल्फी की हस्तलिखित प्रतियों में अभाव है। अकबरनामा के चित्र सजीव दृष्टिगोचर होते है, जिसके अधिकांश चित्रों में वन्य जीवों, पेड़-पौधों एवं भू-दृश्यों का अंकन प्रामाणिक परिलक्षित होता है।

ईरान एवं मध्य एशिया से आये चित्रकारों तथा भारतीय चित्रकारों ने आपस में मिल कर मुगल चित्रकला में ईरानी प्रभाव की जगह एक नवीन शैली को विकसित किया, जिसमें ईरानी एवं भारतीय शैली के तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ। वह नवीन मुगल शैली जो विशुद्ध भारतीय शैली मानी जाती थी, के प्रमुख विषय थे व्यक्ति के चित्र, ऐतिहासिक घटनाओं तथा दरबारी जीवन के चित्र, वृक्षों, फल-फूलों और पशुओं के चित्र, पौराणिक गाथाओं के चित्र आदि। तद्युगीन चित्रकार चित्र-निर्माण से सम्बन्धित सामग्री अपनी देख-रेख में बनवाते थे।

जहांगीर चित्र का शौकीन था। उसने हेरात के उत्प्रवासी आका रिजा के नेतृत्व में आगरे में एक चित्रणशाला की स्थापना की, जिसमें चित्र-निर्माण का काम तेजी से शुरू हो गया। जहाँगीर के शहजादा काल में शुरू चित्रकला की परम्परा उसके पादशाह बनने पर भी सक्रिय रही। बाद में उसी परम्परा ने मुगल चित्रकला को आकाशीय ऊँचाई पर पहुँचा दिया। जहाँगीर की इच्छा थी कि चित्रकार चित्रकला की विभिन्न शाखाओं में से किसी एक या अधिक शाखाओं में सिद्धहस्त हों, जो मेरे अनुकूल चित्र बना सकें। जहाँगीर की दिलचस्पी लघु एवं छवि-चित्रों में थी। छवि-चित्र के अन्तर्गत उसने शाही परिवार के सदस्यों, धर्म, साहित्य, संगीत, कला इत्यादि से सम्बन्धित व्यक्तियों के छवि-चित्र बनवाने लगे। उस समय के छवि-चित्र मानवाकार वाले एवं खड़े व्यक्तियों के प्राप्त होते हैं। आरम्भ में फारूख बेग, नन्हा एवं मनोहर ने छवि-चित्र बनाए, लेकिन बाद में बिशनदास, अबुल हसन, मनोहर और दौलत ने एकल तथा सामूहिक छवि-चित्र बनाए। वह अपने चित्रकारों को आदेश देता था कि वे त्योहारों एवं सभाओं का चित्रात्मक विवरण प्रस्तुत करें, जिनमें मेरी रुचि

के अनुकूल फूल-पौधों या पशु-पक्षियों के चित्र समायोजित हों। जहाँगीर की ताजपोशी के और होली तथा जन्मदिन पर तुलादान आदि खुशी के अवसरों पर लगाए गए सभाओं के उल्लासपूर्ण चित्र निर्मित हुए। इन चित्रों के अतिरिक्त उसके बाजपालन एवं आखेट के चित्र भी इस समय भारतीय और विदेशी संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। भारतीय संग्रहालय कोलकाता में उपलब्ध एक चित्र में यह देखने को मिला है कि राजकुमार शेरनी की दाईं नेत्र की तरफ संकेत कर रहा है एवं जहाँगीर वहीं बन्दूक का सही निशाना साधता है।

जहाँगीर के चित्रणशाला में कार्यरत अनगिनत चित्रकारों में फारूख बेग, दौलत, मनोहर, बिशनदास, मंसूर एवं अबुल हसन प्रमुख चित्रकार थे, जिन्होंने अपनी कलात्मक प्रतिभा की वजह से मुगल चित्रकला के इतिहास के सुनहले पृष्ठों में अपना नाम दर्ज करवा लिया। फारूख बेग जिस समय अकबरी चित्रशाला में प्रवेश किया, उस समय मुगल चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अकबर की मृत्यु के पश्चात् भी वह जहाँगीर की चित्रशाला में कार्यरत रहा एवं जिस दौरान उसने कवियों के रोचक चित्रों का निर्माण किया।

जहाँगीर के आदेशानुसार दौलत ने अपने सहकर्मी चित्रकारों- अबुल हसन, बिशनदास एवं गोवर्धन के सर्वोत्तम छवि-चित्रों का निर्माण किया तथा साथ-साथ अपना भी एक छवि-चित्र बनाया। मनोहर तथा बिशनदास छवि-चित्रों के निर्माण में दक्ष थे। पादशाह का मनोहर पर पूर्ण विश्वास था, जिसकी तूलिका से उस समय के उत्कृष्ट छवि-चित्रों का निर्माण हुआ था।

जहाँगीर अपनी सौन्दर्य-भावना को सन्तुष्ट करने वाले चित्र अच्छी कीमत देकर खरीदता था, वह सुन्दर चित्रों का संग्रह भी करता था। अपनी आत्मकथा में जहाँगीर एक जगह लिखता है- ''चित्रों में मेरी रुचि और उनका मूल्यांकन करने की मेरी क्षमता उस स्थिति पर पहुँच गई है कि जब कोई चित्र मेरे सम्मुख आता है, चाहे वह किसी मृत कलाकार का बनाया हुआ हो या जीवित का, तो मैं उसे देखते ही तत्क्षण यह बता सकता हूँ कि यह अमुक चित्रकार की कृति है। यदि कोई ऐसा सामूहिक चित्र हो, जिसमें अनेक छवि-चित्र बने हों और प्रत्येक चेहरा अलग-अलग कलाकार का बनाया हुआ हो तो भी मैं यह पहचान कर सकता हूँ कि अमुक-अमुक चेहरा अमुक-अमुक चित्रकार की रचना है। यदि किसी चेहरे की आँख किसी एक चित्रकार ने बनाई हो और उसकी भौंह किसी दूसरे ने तो भी मैं यह जान सकता हूँ कि मूल चेहरा किसने बनाया था और उस पर आँख किसने बनाई है और भौंह किसने।''[7]

वस्तुतः हुमायूँ के समय नींव रखी गयी चित्रकला शैली जहाँगीर के समय में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। इसलिए जहाँगीर के काल को मुगल चित्रकला का ''स्वर्ण काल'' कहा जाता है।

जहाँगीर के चित्रकारों में अबुल हसन एवं उस्ताद मंसूर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे, जिनकी प्रशंसा स्वयं पादशाह ने की है। उनकी कलात्मक प्रतिभा का सम्मान करते हुए उसने उन्हें नादिरूज्जमा और नादिर-अल-अस्र की उपाधियाँ दी थीं। जहाँगीर के प्रोत्साहन के कारण उस्ताद मंसूर चतुर चितेरा बन पाया। उसने अनूठे फूलों के, दुर्लभ पशुओं के एवं बिरले पक्षियों के चित्र बनाए। उस दक्ष चित्रकार के चित्र देश-विदेश के संग्रहालयों में संरक्षित हैं। उसने अपने आश्रयदाता जहाँगीर का भी प्रतिमापरक चित्र बनाया। वह लघु-चित्रों की प्रत्येक शाखा में माहिर था।

मुगल चित्रकला यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। अकबर द्वारा आमंत्रित किए जाने पर सन् 1580 ई० में गोवा से पहला ईसाई मिशन फतेहपुर सीकरी पहुँचा। उन ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म से सम्बन्धित यूरोपीय चित्रों और नक्काशी की प्रतिलिपियाँ पादशाह को उपाहार में दीं। यूरोपीय कलाकृतियों की नवीनता और तकनीकी गुणवत्ता को देखकर मुगल शहजादे के साथ-साथ मुगल चित्रकार भी आकर्षित हुए।

कुछ ही समय में उन कलाकृतियों का प्रभाव मुगल चित्रकारों पर परिलक्षित होने लगा। यूरोपीय नक्काशी का अनुकरण केशवदास, बसावन, सांवल और मेशकिन जैसे चित्रकरों ने किया। आगे चलकर मुगल चित्रकारों ने अपनी चित्रकला में दृश्य विधान की नीरसता को कम करने के लिए यूरोपीय नगर-दृश्यों और भू-दृश्यों की नकलें उतारीं, जिनके लक्षण जयपुर के रज्मनामा और रामायण में। तारीखे-अल्फी में। जमीयुत-तवारीख में एवं बहादिस्तान में दिखाई पड़ते हैं।[10] जहाँगीर के अधीन रहने वाले चित्रकारों ने नवीन प्रतिमा-विज्ञान विकसित करने के उद्देश्य से यूरोपीय धार्मिक विषयों एवं प्रतीकों का अनुकरण किया। यूरोपीय चित्रों को अपने चित्रों में संजोने वाले चित्रकार- अबुल हसन, दौलत मेशकिन, बसावन, केशवदास आदि थे। इससे पता चलता है कि मुगलकालीन भारतीय चित्रकला पर यूरोपीय चित्रकला का व्यापक प्रभाव पड़ा।

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् मुगल चित्रकला अपनी आभा खोकर पतन की ओर उन्मुख हो गई। शाहजहाँ की हार्दिक रुचि स्थापत्य कला में थी, फिर भी उसने जहाँगीर के समय के चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया।[11] उसके दरबार के प्रमुख चित्रकार मीर हासिम और मुहम्मद फकीर थे। धीरे-धीरे उसके दरबार में चित्रकारों की संख्या घटती गई। चित्रकला की जगह दरबारी शान-शौकत, संगीत एवं नृत्य की प्रधानता हो गई।

शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह चित्रकला का सम्पोषक था, किन्तु उसकी अकाल मृत्यु की वजह से चित्रकला पराभव के गर्त में पहुँच गई। इस सन्दर्भ में पर्सी ब्राउन ने सच ही कहा है कि जहाँगीर की मृत्यु के साथ ही मुगल चित्रकला की आत्मा विलीन हो गई।[12] कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के कारण औरंगजेब ने खुलकर

चित्रकला का विरोध किया था। समकालीन विदेशी यात्री मनूसी ने लिखा है कि अकबर के मकबरे में चित्रित चित्रों पर उसने चूना पुतवा दिया।[13] अत: दरबारी चित्रकार रोजी-रोटी की तलाश में अन्यत्र चले गए और मुगल चित्रकला का दिवावसान हो गया।

मुगलकाल में शाही चित्रणशाला की परिधि के बाहर भी अनेक प्रकार के सरल एवं सीधे-सादे लघु-चित्रों का निर्माण जारी था। तद्युगीन निर्धन लोक कलाकारों द्वारा निर्मित चित्रों में मुगल रूढ़ियों एवं विरासत में प्राप्त भारतीय सिद्ध प्रयोगों का समन्वय दिखाई पड़ता है। उन चित्रकारों ने आम जनता की माँग के अनुरूप शाही चित्रकला शैली अपना ली थी।

मुगल चित्रकला का प्रभाव राजस्थानी (बीकानेरी शैली, बूँदी शैली, मेवाड़ शैली, आमेर शैली) एवं पहाड़ी (काँगड़ा शैली, बसौली शैली) चित्रकलाओं पर पड़ा है।

इस प्रकार मुगलकालीन चित्रकला शैली भारतीय चित्रकला शैली की धारा में समाहित होकर उसके जीवन का हिस्सा बन गई, जिसकी वर्तमान युग में भी प्रासंगिकता है। तद्युगीन चित्र आज भी बनाए जा रहे हैं। अकबर एवं जहाँगीर की भाँति आज भी सरकार देश के चित्रकारों को सम्मानित कर रही है, फिर भी उस समय में चित्रकारों को जो विशेष राजकीय संरक्षण प्राप्त था, वह भारत जैसे लोकतंत्र में संभव नहीं है।

## संदर्भ :-


1. सभ्यता की कहानी (भाग- 1) - अर्जुन देव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और परिषद्, 1990 ई०, पृ० 12
2. वही, पृ० 58
3. मध्यकालीन भारत खंड- 2 (1540-1761 ई.), संपादक - हरिश्चन्द्र वर्मा, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998 ई०, पृ० 469
4. वही, पृ० 472
5. वही, पृ० 470
6. वही, पृ० 471
7. वही, पृ० 472
8. वही, पृ० 473
9. वही, पृ० 478, 479
10. वही, पृ० 481
11. भारत का इतिहास (1526 ई०-1761 ई०)- डॉ० एल.पी. माथुर, शिवा पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, उदयपुर (राजस्थान), 2001 ई०, पृ० 190
12. वही, पृ० 191
13. भारतीय इतिहास (प्राचीन काल से 1757 ई. तक) - डॉ० वी.एस. भार्गव, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2000 ई. पृ० 554

# मौर्य शासन काल में सामाजिक व्यवस्था

सुनील कुमार

*शोध छात्र, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा*

मनु महाराज की व्यवस्थाओं में, बौद्ध एवं मौर्य युग के तत्वावधान में ब्राह्मण समाज पर जो आघात हुए थे, उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक नियमन के विधान तो लगभग धर्मसूत्रों की पुनरावृत्ति हैं।[1] लेकिन आर्थिक दृष्टि से शूद्र वर्ण को हीन बनाए रखने के तमाम बौद्धिक व्यायाम[2] के बाद भी मौर्य युग में आर्थिक गतिविधियों में इनकी बढ़ती हुई हिस्सेदारी को कम नहीं किया जा सका।[3] कौटिल्य के बाद मनु की व्यवस्था में निम्न वर्णो की आबादी को लेकर ठीक विपरीत मान्यताओं के दर्शन होते हैं। कौटिल्य की मान्यता है कि जनपद में निम्नवर्णी लोग अधिक संख्या में निवास करने चाहिएँ[4] जबकि मनु महाराज इससे ठीक विपरीत अभिमत रखते हैं कि जिस राज्य में शूद्रों की जनसंख्या अधिक हो जाती है वह अकाल एवं व्याधि से पीड़ित होकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि शायद कौटिल्य से मनु तक आते-आते निम्नवर्णी लोग संगठित होने लगे थे और व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी जताने लगे थे मनु महाराज शूद्र आवादी इसीलिए कम रखना चाहते हैं।

कौटिल्य ने जिस आबादी को 'श्रम' की तलाश में एकत्र किया था बहुत संभव है इसने उन्हें तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध भी गोलबन्द होने का अवसर प्रदान किया हो क्योंकि मनुस्मृति में सामाजिक उथल-पुथल के कई चित्र मिलते हैं।[6] एक जगह तो बड़े स्पष्ट शब्दों में मनु ने क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उच्च वर्गों को होने वाली असुविधाओं के परिशमन हेतु उनके शस्त्र ग्रहण का विधान किया है।[7] औद्योगिक नहीं तो प्राक् औद्यौगिक समाज में यह मजदूरों की एकता का प्राचीनतम् साक्ष्य तो नही?

अब एक विचार दास प्रथा एवं तत्कालीन समाज में दासत्व की अवधारणा पर भी आलोच्य कालावधि में दासता यद्यपि सिर्फ शूद्रों के लिए ही आरक्षित नहीं थी।[8] तथापि अपनी जर्जर आर्थिक अवस्था एवं निम्नतम सामाजिक स्तर के चलते दासत्व की स्थिति तक पहुँचने वाले भी शूद्र ही थे।[9] दीघ निकाय में उल्लिखित 'सुद्दो वा सुद्द दासो वा'[10] के आधार पर ओल्डेनवर्ग ने निर्ष्कर्ष से सहमत हुआ जा सकता है कि यहाँ शूद्र और दास में कोई अन्तर नहीं किया गया है।[11] प्रो. रामशरण शर्मा अपने एक वैदुष्य विवेचन में लौह तकनीक के कृषि में प्रवेश को कृषि दासों के उद्भव का कारण ठहराते हैं। उनकी व्याख्या है कि लोहे के फाल ने बड़े-बड़े खेतों का अस्तित्व सम्भव बनाया। एक-एक घर के पास इतनी जमीन हो गई जिसे वे स्वयं के श्रम से नहीं जोत सकते थे।[12] फलत: बुद्ध कालीन विशिष्टता के तौर पर खेती में

दासों का नियोजन सामने आता है और चरम पर इसका निदर्शन राज्य नियंत्रित मौर्य युगीन अर्थ व्यवस्था में होता है। कौटिल्य स्पष्ट तौर पर यह व्यवस्था देते हैं कि आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता।[13] मनु भी इसी तरह का मन्तव्य रखते हैं और कहते हैं कि दासवृत्ति के लिए शूद्रों को ही क्रय किया जाय।[14] बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में दासत्व एवं तद्जन्य परिस्थितियों के बहुविध चित्र अंकित हैं[15] पालि त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का वर्णन हैं।[16] अर्थशास्त्र नौ प्रकार बताता है[17] जबकि मनुस्मृति में सात प्रकारों की चर्चा है।[18]

दासत्व के कारणों पर यदि विचार करें तो प्रथम दृष्टया जो कारण समझ में आते हैं, उनमें धनाभाव, ऋणग्रस्तता, युद्ध, प्राकृतिक आपदाएं तो कभी-कभी न्याय एवं दण्ड विधान प्रमुख है। दासों की जीवन स्थितियों के बारे में सर्वाधिकार उनके स्वामी के अधीनस्थ था। दासो के प्रति बुरे या कहें, अमानवीय व्यवहार के निदर्शन होते हैं[19] तो सहृदयता के दृष्टान्त भी मिलते हैं।[20] बहुत संभव है कि दास और स्वामी के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण ही होते रहे होंगे शायद इसीलिए यूनानी लेखक भारतीय समाज में दास प्रथा को चिन्हित नहीं कर पाए।[21]

'दासभोग'[22] शब्द के आधार पर दासों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी अनुमित किए गए हैं परन्तु स्वामी की सहमति के बिना यह सम्भव नहीं प्रतीत होता।[23] दासों की मुक्ति के भी अनेक प्रावधान किए गए हैं। दीघनिकाय के अनुसार दासत्व से छुटकारा तीन स्थितियों में हो सकता था[24] (1) संन्यास लेने पर (2) स्वामी स्वयं मुक्त कर दे (3) आवश्यक शुल्क चुका देने पर कौटिल्य ने भी बड़े विस्तार से दासों की मुक्ति से सम्बन्धित स्थितियों का जायजा लिया है[25]। उपरोक्त व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में यह लगभग प्रमाणित हो जाता है कि आलोच्य कालावधि में दास प्रथा ऐतिहासिक विकास के क्रम में विद्यमान तो थी लेकिन समकालीन विश्व में अन्य अनेक देशों की अपेक्षा काफी मानवीय सहृदय एवं खुले रूपों में।

अधीत कालीन सामाजिक संरचना में पारिवारिक जीवन का अध्ययन एवं अनुशीलन उस काल की बेहतर एवं सापेक्षिक समझ के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यदि परिवार के स्वरूप से प्रारम्भ करें तो सर्वप्रथम यह अभिज्ञात होता है कि प्रायः परिवार संयुक्त ही होते थे।[26] हालांकि पारिवारिक विघटन के भी साक्ष्य मिले हैं। कभी-कभी स्त्रियों के आपसी कलह के कारण[27] तो कभी आर्थिक दवाबों के चलते।[28] परन्तु बहुधा सम्बन्ध स्नेहिल बने रहते थे। परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष सदस्य घर का मुखिया होता था। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। परन्तु उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति के अवसर पर सारी सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।[29] ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति में शायद कुछ अधिक हिस्सा मिलता रहा होगा।[30] जिसके चलते बहुत संभव है कि भाईयों में कभी-कभी विवाद भी उत्पन्न हो जाता रहा होगा, ऐसी स्थिति में उसका निराकरण 'वोहारिक महामत्त' करता था।[31]

सूत्रकारों ने पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई को पितृतुल्य बताया है एवं अनुजों से उसके नियंत्रण में रहने एवं समतुल्य सम्मान प्रदर्शित करने को कहा है।[32]

पाणिग्रहण के बाद ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ मानते हुए पारिवारिक जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ती थी।[33] परिवार में माता की प्रतिष्ठा का विशद् वर्णन है[34] वैसे सामान्यतया स्त्रियों की स्थिति इस युग में पहले से कुछ बेहतर प्रतीत होती है, पुत्री का जन्म अब उतना कष्टकर नहीं रहा।[35] बुद्ध एवं महावीर ने स्त्रियों की स्थिति में गुणात्मक सुधार हेतु अप्रत्यक्षत: बड़ा काम किया। संघो में प्रवेश अपने आप में एक क्रान्तिकारी कदम था। थेरीगाथा में कई स्त्रियों को निर्वाण प्राप्त करते हुए बताया गया है,[36] जो यह अभिव्यंजित करता है कि बौद्धिक एंव दार्शनिक क्षेत्रों में वे भी पुरुषों के स्तर तक जाकर उच्चतम पद प्राप्त कर सकती थी।[37] बौद्ध विनय में एक भिक्षुणी को बड़े प्रशंसात्मक लहजे में पण्डिता एंव मेधाविनी इत्यादि कहा गया है।[38]

थेरी गाथा में एक कन्या को पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदारी प्रदान की गई है[39] और आगे चलकर मनु ने भी कुमारी कन्या को प्रत्येक भाई के हिस्से में चौथाई हिस्से की अधिकारिणी घोषित किया।[40] परन्तु चूँकि समाज पितृ सत्तात्मक ही था अत: परम्परागत रूप से स्त्री का स्थान पुरुष के नीचे था। वह हमेशा किसी न किसी पुरुष वर्ग के सदस्य के अधीन रखी गई कभी पिता के, कभी पुत्र के।[41] पति सेवा को स्त्री का परमधार्म बताया गया एवं विवाह के उपरांत आज ही की भांति तत्कालीन समाज में भी स्त्री पर पति तथा सास-श्वसुर का अधिकार समझा जाता था।[42] आर्दश वधू एवं गुणी पत्नी के लिए मनु एवं याज्ञबल्क्य जैसे स्मृतिकारों की व्यवस्था है कि वह सदा प्रसन्न रहे; घर की प्रत्येक सामग्री सहेज कर रखे. गृहकार्य में निपुण हो. अपव्यय न करे. पति के प्रिय कार्यों को करे. सास-श्वसुर की सेवा करें तथा सच्चरित्र एवं संयमी हो।[43] तत्कालीन समाज में एक पत्नीत्व[44] एवं बहुपत्नीत्व[45] दोनों ही सुप्रचलित था एवं दोनों ही के पक्ष-विपक्ष में तमाम तर्क दिए गए हैं। सामान्यत: वैवाहिक सम्बन्धों में जातिगत बन्धनों की अहम भूमिका रहती थी परन्तु प्रेम विवाह के अवसरों पर इन बन्धनों के टूटने के साक्ष्य भी है।[46] विवाह की आयु के सम्बन्ध में भी अल्पायु एवं परिपक्व आयु दोनों में ही विवाह विहित किया गया है। बौद्ध साहित्य में पोडषी कन्या का विवाह यानि सोलह वर्ष की उम्र में विवाह अच्छा माना गया है।[47] गौतम और पराशर ने बारह की अवस्था में विवाह उत्तम माना है।[48] सामान्यत: हिन्दू शास्त्रकारों ने बाल विवाह को समर्थन दिया है[49] परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव में परिपक्वावस्था में विवाह को प्रोत्साहन मिलता प्रतीत होता है। इससे भी स्त्रियों की स्थिति में कुछ फर्क पड़ा होगा। प्रो. जी.एस.पी. मिश्र ने बताया है कि चूँकि बौद्ध संघ में अल्पायु में प्रवजित होना वर्जित था और चूँकि स्त्रियों ने बड़ी संख्या में प्रवज्या ली थी जो बड़ी उम्र में विवाह का एक साक्ष्य बन बैठता है।

### *संदर्भ*


1. मनुस्मृति, 1.91. 8.410.10, 123. तुलनीय 9.334 10, 125.
2. मनुस्मृति, 10, 129. (शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धन संचय: शूद्रो हि धन मा साद्य ब्रह्मणानेव बाधते)

   मनुस्मृति, 8, 179. 8, 417. 11.13

उपरोक्त प्राय: सभी उद्धरणों में शूद्रों को आर्थिक दृष्टि से वंचित एवं शोषित रखने का प्रयास दिखाई पड़ता है।

3. मनुस्मृति, 10, 99 और 100 इन उपबन्धों से यह ज्ञात होता है कि मनु ने भी शूद्रों के लिए शिल्पवृत्ति ही अभिहित किया है। द्र. शर्मा, आर.एस.शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ.-178। उन्होंने कहा है कि इस काल में शिल्पियों की संख्या तो बड़ी ही उनकी परिस्थियाँ भी बेहतर हुई।
4. अर्थशास्त्र 6.1 द्र.-अर्थशास्त्र 2,1. अन्यत्र से भी ले आकर बसाने को प्रमुखता दी गई है।
5. मनुस्मृति, 8.418.7, 69; 10-57-58; इन दृष्टान्तों में सामान्य रूप से शूद्रों के प्रति बैरभाव का प्रकटीकरण हुआ है। वैश्य और शूद्र से अपने-अपने कर्तव्यों को करने या कराने के लिए बाध्य करना इस बात का संकेत हो सकता है कि वे अपने विहित कर्मों का अनुपालन शायद न करते हो।
6. 8.348, शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राध्यं धर्मो यत्रोप रूद्धयते। द्विजातीनां च वर्णाना विप्लवे कालकारिते:-
7. जातक, 1, 200; ग्राम भोजन (ग्राम मुखिया) की दासता का उल्लेख है, जातक, 6, 389; पर कुछ मंत्रीगण दासत्व की स्थिति तक पहुँचते हुए प्रतीत होते है, द्रष्टव्य- वंद्योपध्याय: ''स्लेवरी इन एन्शिएण्ट इण्डिया'' कलकत्त रिव्यू 1930 सं 8 पृ.-254 ब्राह्मणों क्षत्रियों एवं अन्य उच्च कुलोद्भूत लोगों को भी दासत्व ग्रहण किए हुए वर्णित किया गया है।
8. बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया, 2, 422, पी. वी काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र जि. 2 भाग-1, पृ.-33,34।
9. दीघ निकाय, 1, 104;
10. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-94 पर उद्धृत।
11. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-94
12. अर्थशास्त्र, 3.13
    म्लेच्छानाम् दोष: प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभाव:।
13. मनु स्मृति:, 8,413, शूद्रं तु कारयेछास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
    दास्यायैव हि सृष्टो*सौ बाह्मणस्य स्वयं भुवास्र
    8.414, न स्वामिना निसृष्टोपि शूद्रों दास द्विमुच्येत
14. दीघ निकाय, 1.6.4, मज्झिम निकाय, 1.452, जातक 4.99।
15. जातक, 1,200; 4,22,99; 6, 285 द्र. 307
16. अर्थशास्त्र, 3.13, आत्म बिक्रयिण....तेनोदरदासाहित कौ...प्रक्षेपानुरूप श्रास्य...
    दण्ड प्रणीत: ध्वजाहृत...गृहजात दायागत लब्ध...दासी व सगर्भाम्।
17. मनुस्मृति 8.415, ध्वजाहृतों भक्तदासों गृहज: क्रीतद्त्त्रिमौ पैतृका दण्ड दासस्व
    सप्तैते दासयोनय:।''
18. जातक, 1, 351 जातक, 1, 402 (एक दासी मति...विसिदायेत्वा रज्जुया पहारन्ति); मनु स्मृति, 8. 299, मनुमहाराज भी रज्जुप्रहार की व्यवस्था देते हैं; अंगतुर निकाय, 2, 4207-8 दण्ड के भय से दासों के मुख रुदन करते हुए दिखाए गए हैं।
19. जातक, ,451, कटाहक दासपुत्र था, परन्तु स्वामि-पुत्रों के साथ अध्ययननोपरान्त उसे परिवार का भाण्डागारिक बना दिया गया, जातक, 3, 167, इसमें दास स्वामी से अपने पुत्रवत सम्बन्धें की व्याख्या करता है।
20. मैकक्रिण्डल, एन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइण्ड वाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, फैगमेन्ट, 26, पृ. 68
21. पाराजिक, 196-197, विनय पिटक, 3, 136 (136)
22. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ.-102

23. दीघनिकाय, 1.60-61;
24. अर्थशास्त्र, 3.13
25. गौतम धर्मसूत्र, 28,1; अर्थशास्त्र, 3.5; याज्ञवल्क्य, 2.117 मनुस्मृति, 9.104 उध्वं पितृश्च मानुश्च समेत्य भ्रातर: समम्।
भजेरन्पैतृकं रिक्थनिशास्ते हि जीवतोस्त्र
26. दृष्टव्य, मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ.-381
27. वही
28. मिश्र, जी.एस.पी, दि एज आफ विनय, 184
29. अर्थशास्त्र, पृ.-184. द्र. मिश्र, जी.एस.पी की पुस्तक, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-145 पर उद्घृत।
30. मिश्र, जी.एस.पी, दि एज आफ विनय, 172-73
31. गौतम धर्मसूत्र, 28.1.3; आपस्तम्ब, 2.14,6, बौधायन, 2.3.13;
32. आश्वलायन गृ. सू.? 1.9.1; आपस्तम्ब, 2.5.15
33. गौतम धर्मसूत्र, 2.50, (आचार्य श्रेष्ठ: गुणां मातेत्येके) वशिष्ठ धर्मसूत्र, 13.48
34. द्र., मेहता रतिलाल, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ.-266, आई. वी. हार्नर, वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ.-3
35. मिश्र, जी.एस.पी, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्थ, पृ.-147
36. ए.एस अल्तेकर, दिपोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ.-12-13
37. पाचित्तिय, पृ.-283,
38. अल्तेकर, पूर्व, 236-37, थेरी गाथा (सं. 327) द्र. मिश्रा जी.एस.पी प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ. 147 पर उद्घृत।
39. मनुस्मृति 9, 118,
40. पाराजिक, पृ.2.00-201 स्त्रियों की दस कोटियाँ निर्धारित की गई है एवं प्रत्येक में वह किसी न किसी के अधीन बताई गई है। यथा-मातुरक्खिता, पितृरक्खिता, मातुरक्खिता। ठीक इसी तरह की व्यवस्था आगे चलकर मनुमहाराज भी देते हैं। 9.2; 9.3; पिता रक्षति कौमारे भर्तारं रक्षति यौवने रक्षान्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वात्रंमर्हतिस्त्र
41. द्र. जी.एस.पी मिश्र, दि एज आफ विनय पृ.-175
42. मनुस्मृति, 5.150, ''सदा प्रदृष्टया....चामुक्तहस्तया''
याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.83, 87
'संयतोपस्करा....भतृेतेत्परा''
'प्रतिप्रिय हिते...चानुपम सुखम्'
43. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5.12;
44. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5.12;
महावग्ग 8.1.15; जातक 23, 138;
45. जातक, जि. 2, सं.-152 सिगालजातक
जातक जि. 1, सं.-4 चुल्लकसेट्ठि जातक
46. थेरी गाथा, 445
47. गौतम धर्मसूत्र, 18.22 (अप्रयच्छन्दोषी) परशर स्मृति 7.7.8 प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे
48. धर्मशास्त्रों ने रजोदर्शन से पूर्व विवाह सर्वोतम बताया गया है। गौतम धर्मसूत्र 18.21-23 बौ. ध. सू. 4.1.12.14। यानि दूसरे शब्दों में बाल विवाह को समर्थन दिया गया। अर्थशास्त्र, 3.2 में भी स्त्री की उम्र बारह वर्ष विहित है। मनु 9.94, 12 और आठ वर्ष उम्र निर्धारित करते हैं।

# ईसवी पूर्व 200 के दौरान भारत में आर्थिक क्रियाकलाप

नागेन्द्र मिश्र

*केशोपुर ( सिमरी ) बक्सर।*

मौर्य युग में खेती के विकास में जो सर्व प्रधान कारक सिद्ध हुआ वह था राज्य द्वारा सिंचाई सुविधाओं का सुचारू प्रबन्धन एवं किसानों के हित में निर्वाध जलापूर्ति का नियमन[1]। अर्थशास्त्र में अच्छा प्रशासन उसे बताया गया है जिसके अन्तर्गत किसान को फसलों की सिंचाई के लिए सिर्फ प्राकृतिक जलापूर्ति यानी वर्षा पर आश्रित न रहना पड़े[2]। कौटिल्य ने सिंचाई की सुचारू सुव्यवस्था हेतु जहाँ संसाधनों के समुचित संयोजन पर बल दिया है,[3] वहीं कई तरह की सावधानियाँ भी बताई है जिन पर अमल किया जाना चाहिए।[4] परन्तु यदि कुछ अवांछित-असामाजिक तत्वों द्वारा सिंचाई सुविधाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया जाता है तो उसके लिए पर्याप्त दण्ड की भी व्यवस्था, अर्थशास्त्र में पायी जाती है,[5] जैसे तालाब को क्षति पहुँचाने के आरोप प्रमाणित हो जाने पर दोषी व्यक्ति को तालाब में डुबो देने का विधान किया गया।[6] सिंचाई हेतु सरकारी प्रयासों की अभिलेखिक पुष्टि भी हो जाती है जब रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख के द्वारा यह तथ्य सामने आता है कि मौर्य शासकों द्वारा या कहें चन्द्रगुप्त और अशोक के राजत्वकाल में उनके प्रान्तीय प्रशासकों द्वारा सुदर्शन झील का निर्माण एवं मरम्मत करायी गयी थी एवं एतद् द्वारा सिंचाई व्यवस्था को दुरुस्त किया गया था।[7] मौर्य काल में सिंचाई की नालियों की देख-रेख निर्माण एवं मरम्मती के लिए एक सरकारी कर्मचारी ही नियुक्त होता था।[8]

मनु ने भी सिंचाई की व्यवस्था बाधित करने वाले को समुचित दण्ड का भागी बताया है और राजा से इसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने की उम्मीद भी की है।[9] सिंचाई की इतनी उत्तम व्यवस्था के बाद भी आलोच्य कालावधि में अकाल जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थीं। महावग्ग में एक अकाल का जिक्र आता है जिसमें लोग मांस भक्षण को बाध्य हुए थे तथा स्वाभाविक ही जब अन्न भण्डार बचा ही नहीं था तो भिक्षुओं को भिक्षा स्वरूप भी यही सब कुछ मिलता रहा होगा।[10] अकाल की परिस्थिति में जनता कुछ चुने हुए भिक्षुओं को ही भोजन उपलब्ध करा पाती थी।[11] वैशाली में सूखा और महामारी के बचाव के निमित्त लोगों को प्रार्थनाएं करनी पड़ी थी।[12]

डायोडोरस की संकल्पना को स्वीकार करें तो भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति इतनी प्रचण्ड थी और सिंचाई की कृत्रिम व्यवस्था इतनी सुव्यवस्थित थी कि पर्याप्त अन्नोत्पादन होता था।[13] फलत: अन्न की कमी के कारण बड़े पैमाने पर लोग नहीं मरते होंगे। शायद इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर मेगस्थनीज ने भी कहा है कि भारत में अकाल नहीं पड़ते।[14] जैन कथाओं ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में अकाल

का जिक्र आया है।[15] सौहगौरा और महास्थान के अभिलेख भी अकाल ग्रस्त गंगा घाटी में जन सहायता का जिक्र करते हैं।[16]

लेकिन यह भी सत्य है कि फसलों का विनाश कई कारणों से हो जाता था, मसलन, चिड़ियों, चोरों, पशुओं एवं कीड़ो-मकोड़ों के द्वारा,[17] अनाजों की विभिन्न बीमारियों के द्वारा[18], तो कभी-कभी प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा जैसे ओलों के गिरने से,[19] कभी-कभी अति वृष्टि तो कभी अनावृष्टि[20] के द्वारा। दुर्भिक्ष की स्थितियों से निपटने के लिए, राजा के कर्तव्य के रूप में, कृषि के विकास को, पारिगणित किया गया।[21] कौटिल्य ने बड़े स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि दुर्भिक्ष के प्रकोप को कम करने के लिए राजा को किसानों का भू-राजस्व माफ कर देना चाहिए।[22] यदि राजा कोई सहायता करने में अक्षम है तो प्रजा सामूहिक रूप से पर राज्य गमन कर सकती थी।[23]

वैसे यह स्पष्ट करना युक्ति प्रतीत होता है कि उस समय अकाल जैसी स्थिति प्राय: कम ही आती थी और आती भी थी तो उसका प्रकोप आजकल की वनस्पति कम ही होता था।[24] इसका एक प्रमुख कारण वनों एवं वृक्षों के प्रति लोगों का लगाव एवं उनका संरक्षण भी था। बुद्ध[25] और महावीर[26] ने इनकी रक्षा के लिए जन मानस को तैयार किया तो अर्थशास्त्र[27] में भी वृक्षों को क्षति न पहुँचाने का आदेश पाया जाता है। अब यह पर्यावरणीय प्रेम था या उनकी उपयोगिता या आर्थिक उपादेयता यह तो निश्चित: नहीं कहा जा सकता परन्तु वृक्षों को क्षति न पहुंचाने सम्बन्धी विवरण निश्चित ही बहुत उपलब्ध है। यह भी बड़ा रोचक संयोग है कि बुद्ध ने जिन नगरों की यात्रा की उनमें प्रत्येक में एक बन पाया जाता है।[28] प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से सम्बधित अनेक नगरों के नाम भी कुछ पौधों एवं वनस्पतियों के नाम पर ही रखे गए प्रतीत होते हैं।[29]

अशोक ने अपनी राजाज्ञा में ही जंगलों की सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयास किया था।[30] अर्थशास्त्र में जंगलों को आग लगाने वाले को आग में ही जला देने का विधान है।[31] अर्थशास्त्र में जंगलों को आर्थिक एवं सैन्य उपादेयता के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, जिसकी तीन श्रेणियाँ है। (1) शिकार के जंगल-पशुचर्म, हड्डी नख, दन्त, सींग इत्यादि के लिए (2) वन्य वस्तुओं के जंगल-लकड़ी से गाड़ियाँ रथ बनते थे, किलों की दृष्टि से भी उपयोगी (3) हाथियों के जंगल-जहां से हाथी लाए जाते थे, युद्धों में उपयोगी होते थे।[32] कौटिल्य आगे भी वनो की उपादेयता बताते हुए यह कहते हैं कि नदी युक्त वन राजा की विषम परिस्थतियों में शत्रुओं से रक्षा के लिए उपयोगी होता है।[33] मनु के काल तक वनों के सरंक्षण पर जोर दिया जाता रहा जैसा कि मनु की इस स्थापना से अभिद्योतित होता है कि हरे पेड़ काटने वाले को जाति से निष्काषित कर दिया जाय।[34]

आलोच्य कालावधि की अर्थव्यवस्था के अन्य महत्वपूर्ण अवयव पशुपालन का विश्लेषण भी समीचीन प्रतीत हो रहा है, क्योंकि कृषि के विकास और प्रसरण के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि पशुपालन तत्कालीन अर्थव्यवस्था की पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया था, बल्कि इस पर और ध्यान दिया जाने लगा

क्योंकि कृषि कार्य में पशुओं की उपयोगिता असंदिग्ध थी। वैदिक धर्म में प्रचलित पशु बलि की प्रथा के विरोध में बौद्धों का अहिंसा सिद्धान्त और पशुओं का संरक्षण सिद्धान्त तत्कालीन कृषि अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही विकसित हुआ था।[35] तत्कालीन जनजीवन में विविध पशु-पक्षियों का महत्वपूर्ण स्थान था एवं उनके बारे में काफी विस्तृत जानकारी थी, ऐसा प्रतीत होता है।[36]

पशुपालन को कृषि एवं वाणिज्य के साथ उत्कृष्ट व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठा हासिल थी।[37] पालतू पशुओं में गांय को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। क्योंकि खाद्य पदार्थ के रूप में दूध का महत्वपूर्ण स्थान तो था ही, इसकी संततियाँ बैलो के रूप में कृषि कार्य की आधार शिला थी।[38] इनका मांस भी विशिष्ट अतिथियों को खिलाया जाता था।[39] उस दृष्टिकोण से भी इनका महत्व था।

कौटिल्य[40] एवं मनु[41] दोनों की व्यवस्था में पशुपालन को उतना ही महत्व दिया गया है जितना कृषि को, अधिक पशुओं को जंगल में बाड़ा बनाकर[42] तो कभी-कभी पहाड़ियों से घिरे स्थानों में भी रखा जाता था।[43]

पालि विनय में उत्तरा पथ से घोड़ों के व्यापार के बारे में जानकारी मिलती है।[44] घोड़ों के साथ साथ हाथी भी सैन्य बल का महत्वपूर्ण हिस्सा था,[45] और कौटिल्य ने इस पर विशेष ध्यान रखा था।[46] यूनानी लेखकों के विवरण भी पशुओं के बारे में जानकारी, उनकी विविध उपयोगी गतिविधियों एवं भारतीय जन जीवन से उनकी बहुविध सम्पृक्ति को पुष्ट करते हैं।[47]

## संदर्भ


1. प्रो. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 154
2. अर्थशास्त्र 6.1
3. अर्थशास्त्र 2.24
4. अर्थशास्त्र 2.9
5. द्र. जी.एस.पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. 188-189
6. द्र. राजबलिपाण्डेय, हिस्टारिल एण्ड लिटेरेरी इन्सक्रिप्शंस पृ. 62-63
7. स्ट्रैवो, 15.1.50
8. मनुस्मृति 9, 279
   'तड़ाग भेदक हन्यादप्सु शुद्धबधेन वा'
   अपरंच, 9.281
   'यस्तु पूर्व निविष्टस्य तड़ागस्योदकं हरेतू'
9. महावग्ग 6.23.10 के आगे
   इस दुर्भिक्ष में हाथी, घोड़ा, सांप, कुत्ता इत्यादि के मांस खाते लोगों को विस्तृत किया गया है।
10. चुल्लवग्ग 6.21.1
11. सुत्त निपात 2.1
12. डायोडोरस 2.26
13. परिशिष्ट पर्वन 71, 8 पृ. 415 और आगे,

14. सरकार, सेलेक्टेड इंस्क्रिप्शंस, पृ. 82-85
15. जातक, 4. 277, 5.336, 4.262, 1.193, 1.53, 54
16. चुल्लवग्ग, 10.1.6 अंगत्तुर निकाय 4.279
17. मिलिन्द पन्ह, पृ. 308
18. जी.एस.जी. मिश्र प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पृ. 190
19. अर्थशास्त्र 2.24
20. अर्थशास्त्र 2.1
21. अर्थशास्त्र 13.2
22. द्र. आर. गांगुली, फेमिन इन ऐश्येण्ट इण्डिया, एनल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट जि. 15 1933-34 पृ. 176-77
23. महावग्ग, 3, 1-3, चुल्लवग्ग, 5.32.1
24. जैकोबी, जैन सूत्राज, 2 पृ. 357
25. कौटिल्य 2.2
26. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं समाजिक संरचनाएं, पृ. 148
27. वही
28. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, खण्ड द्वितीय, पृ. 15
29. अर्थशास्त्र 4.11
30. अर्थशास्त्र 2.6, 2.17, 7.14
31. वही 7.12
32. मनुस्मृति 11.64
(इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणमवापातनम्)
33. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 170, 171, 172 अपरंच, रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 145।
34. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य बी.एस. अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, जी.एस.पी. मिश्रा, दि एज आफ विनय।
35. पाचितिय, पृ. 11
36. मिश्र जी.एस.पी., प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. 193
37. वैदिक एज, पृ. 530
38. अर्थशास्त्र 1.4
39. मनुस्मृति, 9.327, 9.328, 9.327 प्रजापति ने पशुओं के उत्पन्न करके वैश्य का दे दिया। 9.328 वैश्य यह कभी न समझें कि मैं पशुपालन नहीं करुँगा।
40. जातक, 3, 401
41. जातक, 3, 479
42. पाराजिक, पृ. 9
43. पाचित्तिय, पृ. 145
44. अर्थशास्त्र पृ. 49 (शामाशास्त्री का संस्करण)
45. स्ट्रेवो, 15.1.41 से आगे फिलीन, 6.22; एरियन 17।
46. सुत्तनिपात, ब्राह्मण धम्मिक सुत्त।
'गावो नो परमपिता यासु जायन्ति ओसधा, अन्नदा, बलदा, चेता वण्णदा सुखदा तथा'
47. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 159।

# आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद के उत्थान में शिक्षा का योगदान

**अभिषेक आर्ष**

***शोध छात्र, बीआरए बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर***

ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार का प्रारम्भ हुआ। ईसाई मिशनरी धर्म-परिवर्तन के लिए अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार आवश्यक समझते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी मूलत: भारत में व्यापार करने आयी थी। कंपनी भारत की राजनैतिक परिस्थिति का लाभ उठा कर राजनैतिक सत्ता के लिए भी प्रयासरत हुई। व्यापारिक तथा राजनैतिक हितों की रक्षा और विकास के लिए अंग्रेजों के लिए भारत में आधुनिक शिक्षा और अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाले स्कूल कॉलेजों की स्थापना आवश्यक हो गयी। प्रारम्भ में ये कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा किया गया।

कंपनी ने भारत में अंग्रेज़जी शिक्षा प्रसार के लिए कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई। 1698 ई. में ब्रिटेन की सरकार ने कम्पनी को जारी किए गये आदेश पत्र में यह निर्देश दिया कि कम्पनी को अपनी छावनियों में पादरी रखने और विद्यालय चलाने की आज्ञा प्रदान की। फलत: बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में अनेक विद्यालय खोले गए। कम्पनी के हाथों में प्लासी युद्ध (1757) तथा बक्सर युद्ध (1764) की विजय के उपरान्त राजनैतिक सत्ता आ गयी। अतएव ईसाई मिशनरियों को सहायता देने के साथ कम्पनी ने अपनी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की। ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में योगदान देने वाले नामों में बंगाल के सीरामपुर के तीन ईसाई मिशनरी कैरे (Carey), वार्ड (Ward) और मार्शमैन (Marshman) के नाम विशेष उल्लेखीय हैं। ये तीनों पादरी सीरामपुर त्रिमूर्ति (Serampore Trio) के नाम से प्रसिद्ध थे। 1808 ई. में इन्होंने एक पुस्तिका 'एड्रेस टु हिन्दूज़ एण्ड मुस्लिम्स (Address to Hindus and Muslims) प्रकाशित की। इसमें इन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों की निन्दा की। फलत: दोनों सम्प्रदाय के लोग भड़क गए।

तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड मिन्टो (Lord Minto) ने इस पर इन तीनों को बन्दी बना लिया और इनके प्रेस को जब्त कर लिया। साथ ही ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार पर रोक लगा दी। पादरियों ने इंग्लैंड में इसका विरोध किया। परिणामस्वरूप 1813 में जब कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र प्रसारित हुआ तो इसमें ईसाई मिशनरियों को भारत आने और ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करने की खुली छूट दे दी गयी। 1813 ई. के चार्टर एक्ट के प्रावधानों पर प्रकाश डालने के पूर्व अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतीय शिक्षा और साहित्य में पाश्चात्य विद्वानों की अभिरुचि का रेखांकन कर देना अनुचित न होगा। इस दृष्टि से कम्पनी के चार पदाधिकारियों यथा-चार्ल्स ग्राण्ट, डेविड हेयर, एलेक्जेण्डर इफ तथा सर टॉमस मुनरो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय साहित्य के वे बड़े जिज्ञासु थे। 'जोन्स' ने 'मनुस्मृति' का और 'विल्किन्स' ने 'भगवद्‌गीता' का अंग्रेजी में अनुवाद किया। जर्मन साहित्यकार 'गेटे' ने 'शकुन्तला' का काव्यानुवाद किया। वेदों का प्रथम संस्करण अंग्रेज़ी में मैक्समूलर ने प्रकाशित कराया। इस प्रकार भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुछ पदाधिकारियों ने भारतीय साहित्य का अध्ययन किया और इस कार्य में भारतीय जनता को भी उत्साहित किया।

वारेन हेस्टिंग्स के कार्य इस क्षेत्र में प्रशंसनीय हैं। उसने कलकत्ता में इस्लाम धर्म के साहित्य के अध्ययन के लिए 1781 ई. में एक मदरसा की स्थापना कराई। बनारस में इसके दस वर्ष बाद कम्पनी के रेजीडेंट जोनाथन डंकन ने एक संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज का मुख्य ध्येय यूरोपीय न्यायाधीशों को सहायता करने के लिए योग्य हिन्दू जूरियों एवम् शासकों को उत्पन्न करना था। सर विलियम जोन्स ने 1784 ई. में जो कलकत्ते में सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश थे, वारेन हेस्टिंग्स की सहायता से कलकत्ते में 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की स्थापना की। इस संस्था ने प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की श्लाघनीय विवेचना की है। उदार भारतीयों ने भी शिक्षा के क्षेत्र में हाथ बँटाया। इनमें राजा राममोहन राय, राजा राधाकान्त देव तथा जननारायण घोषाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कलकत्ता में राजा राममोहन राय के प्रयत्न के फलस्वरूप हिन्दू कॉलेज की स्थापना की गयी, जो कालान्तर में प्रेसीडेंसी कॉलेज के नाम से विख्यात हुआ। शासन-कार्य में भारतीयों की सहायता की बड़ी आवश्यकता थी। यह महसूस किया गया कि अंग्रेज अधिकारियों के निर्देशों को समझने एवं उन्हें कार्यान्वित करने के लिए अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों का एक जत्था तैयार करना आवश्यक है। लॉर्ड मिंटो ने 1811 ई. में भारत में साहित्य तथा विज्ञान की उपेक्षा के सम्बन्ध में खेद प्रकट किया तथा विद्यमान कॉलेजों में सुधार तथा अतिरिक्त नये कॉलेजों की स्थापना के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिये। जब ईस्ट इंडिया कम्पनी को 1813 ई. में पुनः चार्टर एक्ट स्वीकृत किया गया तो इसकी एक धारा में यह निर्दिष्ट किया गया कि "कम-से-कम एक लाख रुपये की राशि अलग रख दी जायेगी तथा भारत में ब्रिटिश प्रदेशों में साहित्य के पुनरुद्धार एवं सुधार तथा वैज्ञानिक ज्ञान के प्रारम्भ एवं वृद्धि के लिए व्यय की जाएगी।"

यह धन भारत के विशाल जनसमुदाय को शिक्षित बनाने के लिए अत्यन्त ही अपर्याप्त था, तथापि भारतीयों की शिक्षा की ओर 1813 ई. में सर्वप्रथम ब्रिटिश सरकार का ध्यान गया। किन्तु कम्पनी सरकार ने 1823 ई. तक इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया एवं अरबी, फारसी तथा संस्कृत की कुछ पुरानी किताबें छापने के अतिरिक्त शिक्षा संबंधी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया गया। हां, एक काम इसने अवश्य किया कि ईसाई मिशनरियों पर लगे प्रतिबन्धों को इसने उठा दिया एवं इन ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा प्रसार के लिए अनेकानेक स्कूलों को खोला। 1813 ई. के चार्टर एक्ट में प्रतिवर्ष शिक्षा पर व्यय होने वाली एक लाख रुपये की जो धन-राशि की व्यवस्था की गयी थी वह धन-राशि प्रतिवर्ष एकत्र होती गयी।

# भारत में ब्रिटिश राज्य की आरंभिक संरचना

**प्रणीता कुमारी**

***शोध छात्रा, इतिहास विभाग, तिलका मांझी, भागलपुर विश्वविद्यालय***

क्लाइव ने ही प्लासी के युद्ध का नेतृत्व कर भारत में अंग्रेज़ी शक्ति के उदय का मार्ग प्रशस्त किया था। क्लाइव को 1765 में पुनः भारत में अंग्रेज़ी प्रदेशों का मुख्य सेनापति तथा गवर्नर बना कर भेजा गया। यहाँ आकर क्लाइव ने देखा कि उत्तरी भारत की समस्त राजनैतिक प्रणाली अव्यवस्थित है। बंगाल का प्रशासन पूर्णतया अराजकता की स्थिति में है। कम्पनी के कार्यकर्त्ता धन के लोभ तथा उससे उत्पन्न हुए अवगुणों से इतने जकड़े हुए थे कि, कम्पनी का व्यापार ठप हो रहा था। कंपनी के अधिकारियों में उसने भ्रष्टाचार कम करने की कोशिश की।

क्लाइव ने 'सोसाइटी ऑफ ट्रेड' की स्थापना की। अवध से संधि–परास्त शक्तियों के साथ सम्बन्धों को सुनिश्चित करना क्लाइव का प्रथम कार्य था। वह अवध गया तथा अवध के नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला से इलाहाबाद में भेंट की तथा इलाहाबाद की संधि (16 अगस्त, 1765) की। शाह आलम से संधि–इसी तरह इलाहाबाद की दूसरी संधि (अगस्त 1765) के अनुसार भगोड़े सम्राट शाह आलम को अंग्रेज़ों के संरक्षण में ले लिया गया तथा उसे इलाहाबाद में रखा गया।

नवाब ने इलाहाबाद तथा कड़ा के जो ज़िले छोड़ दिये थे, शाह आलम को मिले। शाह आलम ने अपने 12 अगस्त के फ़रमान द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी स्थाई रूप से दे दी। कम्पनी ने इसके बदले सम्राट को 26 लाख रुपया वार्षिक तथा निज़ामत के व्यय के लिए 53 लाख रुपया देने का आश्वासन दिया। द्वैध प्रणाली–क्लाइव ने बंगाल की उलझन को कुख्यात द्वैध प्रणाली द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया।

प्रान्तों में मुग़ल साम्राज्य के स्वर्ण काल से ही दो मुख्य अधिकारी होते थे, सूबेदार तथा दीवान। सूबेदार का कार्य निज़ामत अर्थात् सैनिक संरक्षण, पुलिस तथा फ़ौजदारी कानून लागू करना, तथा दीवान का कार्य कर व्यवस्था तथा दीवानी कानून लागू करना था। एक दूसरे पर नियन्त्रण का काम भी ये दोनों अधिकारी करते थे तथा सीधे केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी होते थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल सत्ता क्षीण हो गयी तथा बंग़ाल का नवाब मुर्शिदकुली खाँ दीवानी तथा निज़ामत दोनों कार्य करता था। शाह आलम ने 12 अगस्त, 1765 के फ़रमान के अनुसार 26 लाख रुपए वार्षिक के बदले दीवानी का अधिकार कम्पनी को सौंप दिया। कम्पनी को 53 लाख

रुपए निज़ामत के कार्य के लिए भी देने थे। अपने पिता मीर जाफ़र की मृत्यु पर फ़रवरी 1765 में निजामुद्दौला को नवाब बनाने की अनुमति दे दी गयी परन्तु शर्त यह थी कि निज़ामत का लगभग समस्त कार्य-भार, अर्थात् सैनिक संरक्षण तथा विदेशी मामले पूर्णतया कम्पनी के हाथों में तथा दीवानी मामले डिप्टी सूबेदार, जिसको कम्पनी मनोनीत करेगी तथा जिसे कम्पनी की अनुमति के बिना हटाया नहीं जा सकेगा, सौंप दे।

कम्पनी इस समय सीधे कर-संग्रह करने का भार न तो लेना चाहती थी और न ही उसके पास ऐसी क्षमता थी। कम्पनी ने दीवानी कार्य के लिए दो उप दीवान, बंगाल के लिए मुहम्मद रज़ा खाँ तथा बिहार के लिए राजा शिताब राय नियुक्त कर दिए। 1765 से लेकर 1772 तक शासन का सारा कार्य इन दो हिन्दुस्तानी अफसरों के अधीन था। उप नाज़िम के रूप में भी मुहम्मद रज़ा खाँ कार्य करते थे। इस प्रकार समस्त दीवानी तथा निज़ामत का कार्य भारतीयों द्वारा ही चलता था यद्यपि उत्तरदायित्व कम्पनी का था। इस व्यवस्था को द्वैध प्रणाली की संज्ञा दी गयी है अर्थात् दो राजे, कम्पनी तथा नवाब।

व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था खोखली सिद्ध हुयी क्योंकि समस्त शक्ति तो कम्पनी के पास थी तथा भारतीय अधिकारी केवल बाहरी मुखौटा मात्र ही थे। असैनिक सुधार–अब कम्पनी एक राजनैतिक संस्था बन चुकी थी। अतएव प्रशासनिक सुधारों की आवश्यकता थी। बंगाल की तीन क्रान्तियों (1757, 1760 तथा 1764) के कारण गवर्नर, पार्षद तथा कम्पनी के अन्य कार्यकर्ता पूर्णतया भ्रष्ट बन चुके थे। केवल धन एकत्रित करने की प्रत्येक व्यक्ति को पड़ी थी। घूस, बेईमानी तथा उपहार लेने की परम्परा बन चुकी थी। कम्पनी के कार्यकर्ता निजी व्यापार करते थे तथा आन्तरिक करों से बचने के लिए दस्तक का प्रयोग करते थे। वे कम्पनी के हितों की नहीं सोचते थे।

उपहार लेने क्लाइव ने बन्द कर दिये, निजी व्यापार बन्द कर दिया। आन्तरिक कर देना अनिवार्य बना दिया। इस तरह इन प्रतिबन्धों से जो हानि हुयी उसकी क्षतिपूर्ति के लिए अगस्त 1765 में कम्पनी के कार्यकर्ताओं की एक व्यापार समिति बना दी गयी जिसको नमक, सुपारी तथा तम्बाकू के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। उत्पादकों से समस्त माल मोल लेकर यह निकाय निश्चित केन्द्रों पर खुदरा व्यापारियों को बेच देता था। कम्पनी के अधिकारियों को उनके पद के क्रमानुसार इस व्यापार के लाभ को बांट दिया जाता था।

उदाहरण के लिए गवर्नर को 17,500 पौंड, सेना के कर्नल को 7,000 पौंड, मेजर को 2,000 पौंड तथा अन्य कार्यकर्ताओं को कम धन मिल पाता था। सभी दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के मूल्य इस व्यवस्था के कारण बढ़ गये तथा बंगाल के लोगों को बहुत कठिनाई होने लगी। यह एक संगठित लूट थी। लोगों की इस व्यापार

समिति के कारण कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयी। परन्तु कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने 1766 में इस योजना को अस्वीकार कर दिया।

क्लाइव ने जनवरी 1767 में इस आशय के आदेश दे दिये तथा सितम्बर 1768 में यह योजना समाप्त हो गयी। सैनिक सुधार–कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने 1763 में सैनिकों का दोहरा भत्ता बन्द कर दिया था। किसी कारणवश क्लाइव के आने तक इस पर अमल नहीं हुआ था। यह दोहरा भत्ता आरम्भ में केवल युद्ध के दिनों में ही दिया जाता था, परन्तु मीर जाफ़र के दिनों से यह शान्ति काल में भी मिलने लगा था। यह अब सैनिकों के वेतन का भाग बन चुका था। इस प्रकार बंगाल के सैनिकों को मद्रास के सैनिकों की अपेक्षा दुगुना भत्ता मिलता था।

क्लाइव ने आज्ञा दी कि यह दोहरा भत्ता बन्द कर दिया जाए तथा जनवरी 1766 से यह भत्ता केवल उन सैनिकों को ही मिलता था जो बंगाल तथा बिहार की सीमा से बाहर कार्य करते थे। इस आज्ञा का मुंगेर तथा इलाहाबाद स्थित अंग्रेज अधिकारियों ने विरोध किया तथा सामूहिक रूप से सैनिक कमीशनों से त्यागपत्र देने की धमकी दी। उन्हें आशा थी कि मराठों के संभावित आक्रमण के कारण क्लाइव डर जाएगा। एक अफ़सर ने तो क्लाइव की हत्या की योजना भी बनाई। क्लाइव ने स्थिति से साहसपूर्वक निबटने की सोची। त्यागपत्र स्वीकार कर लिए गए। नेताओं को बन्दी बनाने तथा मुकदमे चलाने की आज्ञा दे दी गयी। छोटे पदाधिकारियों को जिन्हें कमीशन नहीं मिले हुए थे, उन्हें कमीशन दे दिये गए। मद्रास से भी कुछ अफ़सर बुला लिए गए। इस प्रकार यह विद्रोह दबा दिया गया। 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्ज की नियुक्ति ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

प्रशासनिक सुधार–कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने 1772 में द्वैध प्रणाली को समाप्त करने का निर्णय किया तथा कलकत्ता परिषद तथा उसके प्रधान को आज्ञा दी कि वे स्वयं दीवान बनें और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के प्रबन्ध को अपने हाथ में ले लें।

दोनों उपदीवानों, मुहम्मद रज़ा खाँ तथा राजा शिताब राय को वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने पदच्युत कर दिया। परिषद तथा प्रधान मिलकर अब राजस्व बोर्ड बन गए। मुर्शिदाबाद से कोष कलकत्ता लाया गया। समस्त प्रशासन का बोझ कम्पनी के कार्यकर्त्ताओं पर डाल दिया गया तथा नवाब को इस कार्य का लेशमात्र भी अधिकार नहीं रहा। इधर नवाब की अपनी स्वायत्तता थी परन्तु उसके निजी गृह-प्रबन्ध का पुनर्गठन किया गया और मीर जाफ़र की विधवा मुन्नी बेगम अल्पवयस्क नवाब मुबारिकुद्दौला की संरक्षिका नियुक्त की गयी। उसका भत्ता 32 लाख से घटा कर 16 लाख कर दिया गया। मुगल सम्राट से फिर हेस्टिंग्ज़ ने अपने सम्बन्धों को पुनः स्पष्ट किया। 1765 से दिया जाने वाला 26 लाख वार्षिक रुपया बन्द कर दिया गया। मुगल सम्राट को दिये हुए इलाहाबाद तथा कड़ा के ज़िले पुनः ले लिए गये तथा 50 लाख रुपए में अवध के नवाब को बेच दिये गए। इस पर बाह्य रूप से यह कहा गया कि, सम्राट

ने मराठों का संरक्षण स्वीकार कर लिया है परन्तु वास्तविक कारण केवल धन एकत्रित करना था। दरअसल वॉरेन हेस्टिंग्ज़ का विश्वास था कि समस्त भूमि शासक की है। उसने समस्त संयुक्त तथा पुश्तैनी अधिकारों की अवहेलना की। ज़मीदारों को केवल कर संग्रहकर्ता ही माना जिन्हें कृषकों से कर संग्रह करने के लिए केवल अपनी आढ़त का ही अधिकार था। उसने सन्तोषजनक राजस्व व्यवस्था स्थापित करने के लिए सुप्रसिद्ध परीक्षण तथा अशुद्धि का नियम अपनाया।

वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने 1772 में कर-संग्रहण के अधिकार ऊँची बोली बोलने वाले को पाँच वर्ष के लिए नीलाम कर दिए। इस तर्क पर कि ज़मींदार भूमि का स्वामी नहीं है, उसे नीलामी में कोई श्रेष्ठता नहीं दी गयी अपितु उसके मार्ग में बाधा डाली गयी। कर-संग्रह की व्यवस्था में 1773 में कुछ परिवर्तन किए गए। भ्रष्ट तथा निजी व्यापार में लगे कलेक्टरों को हटा दिया गया तथा उनके स्थान पर ज़िलों में भारतीय दीवान नियुक्त किए गए। उनका कार्य निरीक्षण करने के लिए 6 प्रान्तीय परिषदें नियुक्त की गईं। कलकत्ता स्थित राजस्व समिति के ये सब अधीन होती थीं। हेस्टिंग्ज़ का विचार था कि यह समस्त कार्य कलकत्ते में केन्द्रित होना चाहिए। यह पंचवर्षीय व्यवस्था सर्वथा असफल रही। कृषकों को बहुत कष्ट हुआ। अधिकतर ठेकेदार केवल सट्टेबाज़ थे। न तो उन्हें कोई जानकारी थी और न ही भूमि में स्थाई रुचि। उन्होंने कृषकों से अधिकतम कर प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अपने निजी नौकरों तथा गुमाश्तों की सहायता से कम्पनी के अधिकारियों ने भी नीलामियों में भाग लिया। वॉरेन हेस्टिंग्ज़ स्वयं भी इस लोभ से नहीं बच सका। उसके एक भारतीय नौकर कुन्तु बाबू के दस वर्षीय पुत्र के नाम में भी एक नीलामी पंजीकृत थी। भूमि की क्षमता इसके अतिरिक्त अधिक मानी जाती थी तथा कर अत्यधिक निश्चित किया जाता था। कर एकत्रित करने वालों की लोलुपता इसके अतिरिक्त होती थी। परिणामस्वरूप कर की राशि ठेकेदारों पर बकाया रहने लगी। कई लोग पकड़ लिए गये तथा कई भूमि छोड़ कर भाग गए। पंचवर्षीय ठेके की समाप्ति पर 1776 में पुन: एकवर्षीय प्रणाली अपनाई गयी और कर संग्रहण के अधिकार नीलाम कर दिये गए। परन्तु इस बार ज़मीदारों को अपेक्षाकृत अधिक योग्य समझा गया। पुन: इस व्यवस्था में 1781 में सुधार किया गया तथा प्रान्तीय परिषदें समाप्त कर दी गईं। ज़िलों में पुन: कलेक्टर नियुक्त किए गये लेकिन उन्हें कर निश्चित करने का अधिकार नहीं था। इसमें कानूनगो पुन: नियुक्त किए गये तथा सर्वोपरि निरीक्षण कलकत्ता स्थित राजस्व समिति में था। वॉरेन हेस्टिंग्ज़ कोई निश्चित कर-व्यवस्था अथवा प्रणाली बनाने में असफल रहा। इसका मुख्य कारण उसकी केन्द्रीयकरण की नीति थी।

न्यायिक सुधार–हेंस्टिंग्ज न्यायिक सुधार का जन्मदाता माना जाता है। वारेन हेस्टिंग्ज़ के न्यायिक सुधार अधिक सफल रहे। उससे पूर्व बंगाल में न्यायिक अवस्था बहुत असन्तोषजनक तथा संक्षिप्त थी। दीवानी तथा फ़ौजदारी निर्णय ज़मींदार ही करते

थे। मध्यस्थता का प्रचलन बहुत था। धन से फ़ैसले होते थे। छोटे-छोटे अपराधों में भारी जुर्माने किए जाते। लोभी न्यायाधीश हत्या के अपराधियों को भी छोड़ देते थे। मुग़ल रूपरेखा पर आधारित न्याय-प्रणाली को वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अपनाने का प्रयत्न किया। 1772 में प्रत्येक ज़िले में एक दीवानी तथा एक फ़ौजदारी न्यायालय स्थापित कर दिया गया। दीवानी न्यायालय कलेक्टरों के अधीन होता था। वे सभी प्रकार के मामले सुनते थे। हिन्दुओं पर हिन्दू विधि तथा मुसलमानों पर मुस्लिम विधि लागू होती थी। 500 रुपए तक के मामले सुने जा सकते थे। उससे ऊपर सदर दीवानी अदालत में अपील हो सकती थी जिसके अध्यक्ष, सर्वोच्च परिषद के प्रधान तथा दो अन्य सदस्य होते थे। उनकी सहायता के लिए भारतीय अधिकारी होते थे। एक भारतीय अधिकारी के अधीन ज़िला फ़ौजदारी अदालत होती थी जिसकी सहायता के लिए एक मुफ़्ती और एक काज़ी होता था। इसमें कलक्टर को यह देखना होता था कि साक्षी ठीक से ली गयी तथा उस पर ठीक-ठीक विचार किया गया है या नहीं। न्याय खुली अदालत में होता था। यहाँ मुस्लिम कानून लागू होता था।

सदर निज़ामत अदालत को मृत्युदण्ड तथा सम्पत्ति की ज़ब्ती के लिए प्रमाणित करना आवश्यक था। ज़िला निज़ामत अदालत से अपील सदर निज़ामत अदालत में होती थी, जिसका अध्यक्ष उपनिज़ाम होता था। एक मुख्य काज़ी, एक मुख्य मुफ़्ती तथा तीन मौलवी भी उसकी सहायता करते थे। इस सदर निज़ामत अदालत के कार्य का निरीक्षण परिषद तथा उसके अध्यक्ष करते थे। 1773 में रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा एक सुप्रीम कोर्ट कलकत्ता में स्थापित किया गया जिसके अधिकार-क्षेत्र में कलकत्ता में रहने वाले सभी भारतीय तथा अंग्रेज़ थे।

यह न्यायालय कलकत्ता से बाहर रहने वाले भारतीयों के झगड़ों को तभी सुन सकता था यदि दोनों पक्ष इसके लिए स्वीकृति दे दें। यहाँ अंग्रेज़ी कानून लागू होता था जब कि सदर निज़ामत तथा सदर दीवानी अदालतों में हिन्दू अथवा मुस्लिम कानून लागू होता था। परिषद को इसके अतिरिक्त कुछ नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया। इन न्यायालयों का कार्यक्षेत्र प्राय: आपस में टकराता था, विशेषकर सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों का। इस झगड़े को कम करने के लिए अक्तूबर 1780 में वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने इम्पे को जो सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश था, सदर दीवानी अदालत का 5,000 रु. मासिक पर अधीक्षक नियुक्त कर दिया। हेंस्टिग्ज के इस कार्य को डाइरेक्टरों ने अस्वीकार कर दिया तथा नवम्बर 1782 में इम्पे को त्यागपत्र देना पड़ा। इस प्रकार न्याय व्यवस्था में भी द्वैधता चलती रही।

हिन्दू तथा मुस्लिम विधियों को भी वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने एक पुस्तक का रूप देने का प्रयत्न किया। 1776 ई. संस्कृत में एक पुस्तक ब्वकम वि ळमदजवव सूें छपी। 1791 में विलियम जोन्स तथा कोलब्रुक की क्पहमेज वि भ्पदकन सूं छपी। इसी प्रकार 'फ़तवा-ए-आलमगीरी' का अंग्रेज़ी अनुवाद करने का भी प्रयत्न किया गया।

'कोलब्रुक डाइजेस्ट' को भी इसने संहिताबद्ध करवाया। इसी के समय 1784 में विलियम जोंस ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। वाणिज्य सम्बन्धी सुधार–इसी तरह वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने आन्तरिक व्यापार के क्षेत्र में भी रुकावटें दूर करने का प्रयत्न किया। ज़मीदारों के क्षेत्रों में स्थित शुल्क गृह बन्द कर दिये गए। केवल अब 5 शुल्क गृह कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका तथा पटना में रह गए। शुल्क 2ऋ% रह गया जो सभी को देना होता था। उसने कम्पनी के अधिकारियों द्वारा छूट देने के पत्र बन्द कर दिये, विशेषकर उनके अपने निजी व्यापार के लिए। इसी प्रकार कम्पनी के गुमाश्तों द्वारा जुलाहों का शोषण भी बंद कर दिया गया। तिब्बत तथा भूटान से व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न भी किया गया।

इस तरह वारेन हेस्टिंग्ज के सुधार की सफलता मिली जुली रही। रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 में पारित किया गया। इसके अनुसार भारत में शासन का भार गवर्नर-जनरल तथा उसकी 4 सदस्यों वाली परिषद् पर डाल दिया गया। यद्यपि इस परिषद् का अध्यक्ष गवर्नर-जनरल होता था परन्तु निर्णय बहुमत से करने होते थे। केवल बराबर-बराबर मत की अवस्था में ही गवर्नर-जनरल के निर्णायक मत का प्रयोग हो सकता था जो 5 सदस्यीय परिषद् में बहुत कम हो सकता था। परिषद् की सभा के लिए न्यूनतम निर्दिष्ट संख्या 3 थी। इन 5 सदस्यों के नाम एक्ट में दिये गये थे। इनमें से हेस्टिंग्ज़ तथा बारवैल तो भारत में ही थे, शेष 3 क्लेवरिंग, फ्रांसिस तथा मॉनसन अक्तूबर 1774 में इंग्लैंड से भारत पहुँचे। इनके झगड़े कलकत्ता पहुँचने के दिन से आरम्भ हो गए। प्रथम शिकायत यह थी कि इनका यथायोग्य सत्कार नहीं हुआ। प्रथम बैठक से ही झगड़ा आरम्भ हो गया। इन सदस्यों ने वॉरेन हेस्टिंग्ज़ के शासन की अनियमितताओं पर बहस करने का प्रस्ताव किया।

परिषद के सदस्यों ने बनारस में नवाब वज़ीर से हुए समस्त पत्र-व्यवहार का ब्यौरा मांगा। इसी प्रकार रुहेला युद्ध में कम्पनी के सम्मिलित होने के बारे में भी पूर्ण ब्यौरा प्राप्त करना चाहा।

## *संदर्भ*


- K K Datta: *A Survey of Recent Studies on Modern Indian History*, Firma KLM, 1981.
- Biswamoy Pati: *Issues in Modern Indian History for Sumit Sarkar*, Popular, 2000.
- Ramprakash Mathur: *Modern Indian History*, Murari Lal and Sons, 2006.
- Peter Heehs: *Nationalism, Terrorism, Communalism : Essays in Modern Indian History*, OUP, 1998.
- Ranjan Chakrabarti: *Random Notes on Modern Indian History*, Readers Service, 2006.
- M.N. Sharma: *Studies in Modern Indian History : Chauri Chaura Violence: Suspension of Movement*, Sarup Book, 2011.
- B.R. Sharma: *Studies in Modern Indian History : India's March to Swaraj*, Sarup, 2010.

# लैंगिक पूर्वाग्रह एवं महिलाओं के खिलाफ अत्याचार

**डॉ. प्रो. नीलम कुमारी**

*रीडर, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग*
*आर. डी. एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर*

## प्रस्तावना

पूर्वाग्रह एवं भेदभाव आत्मसात करने की क्षमता का नकारात्मक प्रदर्शन है। पूर्वाग्रह एवं भेदभाव लोगों को एक साथ जोड़ने के बजाय एक दूसरे से अलग कर देते हैं। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि पूर्वाग्रह एवं भेदभाव की भावनाएं भी एक तरह के संबंध के द्योतक हैं क्योंकि अगर कोई संबंध नहीं होगा तो एक जनसमूह के अस्तित्व की कोई जानकारी नहीं होगी। ज्यादातर समाजों के साथ लैंगिक पूर्वाग्रह सामाजिक ताने-बाने के साथ गुंथा हुआ है। औरतों के बारे में यह एक वैश्विक समझ रही है कि वे शारीरिक एवं भावनात्मक स्तर पर कमजोर होती हैं अत: घर से बाहर उनकी हिफाजत की जानी चाहिये।

आमतौर पर पुरुषों पर परिवार को चलाने की जिम्मेदारी होती है और पारिवारिक मामलों में उनका वर्चस्व रहता है। खासकर के बाहरी कार्य जैसे व्यापार एवं राजनीति उन्हीं के हाथों में रहती है। औरतों को घर में खाना बनाना, सूत कातना, सीना-पिरोना, साबुन एवं मोमबत्तियां बनाना आदि घर के लिये आवश्यक चीजें तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। इसके अलावे बच्चों को जन्म देना तथा वे जिस सामाजिक वातावरण में रह रही हैं उसके मूल्यों और नैतिकताओं के अनुरूप बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी भी उन्हीं के हाथों में थी।

खेती आधारित अर्थव्यवस्था में पुरुषों का कार्य जंगल साफ कर जमीन तैयार करना, हल चलाना, अनाज पैदा करके उसे तैयार करना, शिकार करना, लकड़ी काटना तथा बाड़े का निर्माण करना था। परिवार से बाहर के संबधियों से पत्नियों को अलग रखा जाता था और उन्हें व्यापार और राजनीति में हिस्सा लेने का अधिकार नहीं था।

इसी तरह हर तरह के अब तक के ज्ञात समाजों में लड़कों को लड़कियों की अपेक्षा ज्यादा स्वतंत्रता प्राप्त थी। औद्योगिकीकरण के उदय के साथ लैंगिक भूमिका एवं पूर्वाग्रहों में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। 18वीं एवं 19वीं सदी का औद्योगीकरण एक बड़ा आर्थिक परिवर्तन था। इस दौर में कारखानों में मजदूरी पर कार्यरत मजदूरों ने मशीनों के जरिये बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करना शुरू किया।

## लैंगिक पूर्वाग्रह

1. महिलाओं के प्रति एक नकारात्मक पूर्वाग्रह,
2. पूर्वाग्रह पूर्ण अभिमुखीकरण,
3. गलत एवं अपूर्ण सूचनाओं एवं आम धरणाओं के आधर पर महिलाओं के प्रति दुर्भावनापूर्ण एवं नकारात्मक रूख रखना।
4. मनोभावों के छुपे रहने के बावजूद पूर्वाग्रह एवं भेदभाव प्रदर्शित हो जाते है।
5. 4-5 वर्ष की उम्र से ही लैंगिक पूर्वाग्रह एवं भेदभाव की शुरूआत हो जाती है।
6. लैंगिक पूर्वाग्रह दूसरे पूर्वाग्रहों की तुलना में सबसे ज्यादा सबल पाया गया है। पुरुषों द्वारा महिलाओं के खिलाफ भेदभाव का व्यवहार पूरे विश्व में पाया जाता है।

## लैंगिक भेदभाव

1. व्यक्तित्व – तानाशाही पूर्ण व्यक्तित्व, प्रचलित मूल्यों को मानना, अंधविश्वास, बदलाव के खिलाफ प्रतिरोध, कमजोरियों के प्रति अनुदारता तथा कठोर रूप से दंडित करने की प्रवृत्ति।
2. न्याय आधरित दुनियां – ऐसा विश्वास करना कि एक आदमी को जिन्दगी में वही प्राप्त होता है जो प्राप्त करना उसकी नियति है। उदाहरणस्वरूप उस समाज में बलकृत महिला पर ही आरोप लगाया जाता है जो न्याय आधारित दुनिया में विश्वास करते हैं।

## लैंगिक आधारित हिंसा

कोई ऐसी लैंगिक आधारित हिंसा जिससे किसी महिला को शारीरिक यौन संबंधी या मनोवैज्ञानिक कष्ट का अनुभव हो यहाँ तक कि ऐसे कार्यो की धमकी, दबाव या मनमाने तौर पर उनकी स्वतंत्रता का अपहरण हो, ऐसी घटना खुले तौर पर हो या निजी जीवन में हो।

## महिलाओं के खिलाफ अत्याचार

महिला जीवन के हर स्तरों पर भारत में महिलाओं के खिलाफ अत्याचार होते हैं।

| *जीवन स्तर* | *अत्याचार* |
|---|---|
| गर्भ में | भ्रूण हत्या (वर्ष 1999-2000 के बीच 49.2% बढ़ गया भारत में अपराध, (1999-2000) लिंग की पहचान के बाद गर्भ गिराना<br>आरंभिक काल एवं बचपन आरंभिक काल में मृत्यु, तिरस्कार, घरेलू काम में लगाना। |

| | |
|---|---|
| | किशोरवस्था घरेलू काम, स्वास्थ्य एवं पोषण के प्रति उदासीनता, यौन कार्यों में धकेलना। |
| | वयस्क एवं युवा कम उम्र में विवाह, गर्भधारण एवं बच्चे के जन्म देने के समय देख-भाल का अभाव, मातृ मृत्यु, दहेज। |
| बुढ़ापा | अपने सहचर द्वारा हिंसा, डायन बताना, अपने संबंधियों द्वारा प्रताड़ना। |

गाली गलौज एवं हिंसा पर आधारित संबंधों में एक महिला दोस्त के खिलाफ उसके पुरुष दोस्त, पारिवारिक सदस्य एवं साथ पढ़ने वाले दोस्तों के द्वारा ताकत एवं नियंत्रण का इस्तेमाल किया जाता है। नीचे कुछ शारीरिक, मुंह से बोलकर एवं यौन उत्पीड़न एवं हिंसा के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

## दूसरा लिंग ( पुरुष )

दूसरे लिंग अर्थात् पुरुषों को निम्नलिखित सुविधाएं एवं जिम्मेदारियां प्राप्त हैं।

1. पुरुषों के कार्यों के साथ सामाजिक मूल्य जुड़े हुए हैं।
2. संसाधनों पर नियंत्रण।
3. निर्णय लेने का अधिकार।
4. महिलाओं की सहयोगी भूमिका।
5. गतिशीलता।
6. यंत्रणा से वंचित।

### जिम्मेदारियां

1. एक बनी बनाई भूमिका के साथ जुड़े रहने का दबाव।
2. आर्थिक जिम्मेदारी।
3. शक्तिहीन महिलाओं के भार को ढोने की जिम्मेदारी।
4. महिलाओं एवं परिवार के प्रतिष्ठा की हिफाजत करना एवं पालक की जिम्मेदारी।
5. मनोभावों को प्रदर्शित करने का अभाव एवं सहयोग प्राप्त करने वाली व्यवस्था का न होगा।

वर्ष 1999 से 2000 के बीच भारत में बच्चियों के भ्रूण मृत्यु दर में 49.2% की वृद्धि हुई। (श्रोत–एन.सी.आर.बी. भारत में अपराध 1999–2000) इससे बच्चों के लैंगिक अनुपात में कमी आई (0–6 वर्ष) यह वर्ष 1991 में 1000 प्रति लड़के पर लड़कियों का अनुपात 945 हो गया तथा वर्ष 2001 में यह और ज्यादा बढ़कर प्रति 1000 लड़के पर 927 लड़कियों का अनुपात हो गया।

संयुक्त राष्ट्र बालकोष के अनुमान के मुताबिक करीब 5 करोड़ लड़कियां एवं महिलाएँ, भारत की जनसंख्या से गायब हो गई हैं। इसका कारण बच्चियों की भ्रूण हत्या तथा बच्चियों के पालन-पोषण के अभाव के चलते उनकी मृत्यु दर बहुत ज्यादा है।

### *बच्चों का यौन शोषण*

350 स्कूली छात्राओं में से

1. 63% ने अपने परिवार के सदस्यों के द्वारा यौन शोषण का अनुभव किया।
2. 25% के साथ बलात्कार हुआ या यौन शोषकों द्वारा हस्तमैथुन या मुखमैथुन करने के लिये बाध्य किया गया।
3. करीब 33% छात्राओं ने बताया कि यौन शोषण करने वाले चाहे तो पिता, दादा या परिवार के कोई पुरुष दोस्त थे।

### *यौन शोषण*

1. 600 महिलाओं से पूछताछ के दौरान पाया गया कि 76% अपने बचपन या किशोरावस्था में यौन शोषण के शिकार हुई।
2. शोषण करने वाले।
3. 42% चाचा या चचेरे भाई तथा 4% पिता या भाई थे।

### *बलात्कार*

1. इन वर्षो के दौरान 16,373 महिलाओं के साथ बलात्कार हुए।
2. 45 महिलाओं के साथ प्रतिदिन बलात्कार हुए।
3. प्रत्येक 45 मिनट पर एक महिला के साथ बलात्कार हुआ।
4. 1997-2002 के बीच बलात्कार की घटनाओं में 6.7% की बढ़ोतरी हुई।

### *पिता या निकट संबंधी द्वारा बलात्कार*

पूरे बलात्कार की घटनाओं का 2.25% निकट संबंधियों द्वारा किया गया था।

### यौन यंत्रणा

1. यौन-यंत्रणा की 44,090 घटनाओं की सूचनाएँ प्राप्त की गई।
2. प्रत्येक दिन 121 महिलाओं को यौन-यंत्रणा से गुजरना पड़ा।
3. प्रत्येक 12 मिनट पर एक महिला यौन-यंत्रणा की शिकार होती है।
4. वर्ष 1997 और 2002 के बीच यौन-यंत्रणा में 20.6% की वृद्धि देखी गई।

### *लड़कियों का आयात एवं अवैध व्यापार*

1. 11,332 महिलाओं एवं लड़कियों का अवैध व्यापार किया गया।

2. प्रत्येक दिन 31 महिलाओं एवं लड़कियों का अवैध व्यापार किया गया।
3. प्रत्येक 46 मिनट पर एक लड़की या महिला का अवैध व्यापार किया गया।

## अपहरण या भगा ले जाना

- 14,630 महिलाओं एवं अवयस्क लड़कियों का या तो अपहरण किया गया या भगा ले जाया गया।
- प्रत्येक दिन 40 महिलाएँ या अवयस्क लड़कियाँ अपहृत की गई।
- प्रत्येक 36 मिनट पर एक लड़की या महिला अपहृत की गई।

## दहेज संबंधी हत्याएँ

- दहेज के कारण 7,895 महिलाओं की हत्या की गई।
- प्रत्येक दिन 21 महिलाओं की हत्या की गई।
- प्रत्येक 66 मिनट पर दहेज के कारण 1 महिला मारी गई।

## *घरेलू हिंसा*

- विवाहित महिलाओं में से 40% अपने पतियों द्वारा हिंसा की शिकार होती हैं।
- प्रत्येक 2 में से 1 महिला शारीरिक, यौन, मनोभावनात्मक या आर्थिक रूप में घरेलू हिंसा की शिकार होती है।
- अपने ससुराल में 49,237 महिलाओं को घरेलू हिंसा का शिकार होना पड़ा।
- प्रत्येक दिन 135 महिलाएँ अपने पति या सास-श्वसुर के द्वारा प्रताड़ित की गई।
- प्रत्येक मिनट 1 महिला को अपने वैवाहिक संबंधों के लिये प्रताड़ित होना पड़ा।
- महिलाओं के खिलाफ होनेवाली हिंसा 33.3% घरेलू हिंसा से जुड़ी हुई है।
- 1997 से 2002 के बीच घरेलू हिंसा में बड़ी तेज वृद्धि दर्ज की गई।
- एन.एफएच.एस. 5 महिलाओं में 2.9% अपने सहचर द्वारा घरेलू हिंसा की शिकार होती हैं।
- वर्ष 2007 के नेशनल क्राइम रेकॉर्ड ब्यूरो की रिपोर्ट के मुताबिक वर्ष 2006 से महिलाओं के खिलाफ सम्पूर्ण हिंसा में 12.5% की बढ़ोतरी हुई है।
- वर्ष 2006-2007 के दौरान दहेज हत्या के मुकदमे में 6.2% की वृद्धि दर्ज की गई।

## आत्महत्या

- 12,134 महिलाएँ दहेज के कारण आत्महत्या के लिये मजबूर हुई।
- वर्ष 1997 से 2001 के दौरान 1,10,424 महिलाओं ने आत्महत्याएँ की जो पूरी महिला आत्महत्या का 52% है। (स्रोत–नेशनल क्राइम रिपोर्ट ब्यूरो वर्ष 1997-2000 के बीच दुर्घटनाओं एवं आत्महत्या के जरिये मृत्यु)।

### *कामगार के रूप में महिलाएं*

- गैर कृषि कार्यों में महिला कामगारों की मजदूरी पर कार्य करने वाले कामगार के रूप में मात्र 17% भागीदारी है।
- शहरी क्षेत्रों में महिला कामगारों की भागीदारी 13.9% तथा देहाती क्षेत्रों में 29.9% है।
- महिलाओं की मजदूरी, पुरुषों की मजदूरी के अनुपात में औसतन 75% है और पारिवारिक आय में उनका योगदान मात्र 25% है।
- किसी भी भारतीय राज्य में महिलाएँ एवं पुरुष कृषि कार्य में समान वेतन नहीं पाते हैं।
- महिलाओं का मात्र 9% संसदीय सीट पर कब्जा है।
- उच्च एवं उच्चतम न्यायालयों में महिला न्यायाधीशों की संख्या मात्र 4% है।
- प्रशासनिक एवं प्रबंधकीय पदों पर मात्र 3% महिलाएँ कार्यरत हैं।

### *महिलाएँ*

- पूरे विश्व में जितने घंटे काम होते हैं उसका 67% हिस्सा महिलाएँ करती है।
- विश्व में सृजित आय का मात्र 10% उनके हिस्से में आता है।
- पूरे विश्व की संपदा के 1% पर ही उनका अधिकार है।
- महिलाओं द्वारा बिना वेतन के किये गये कार्यों के मूल्य का अनुमान करीब 16 खरब डॉलर है जिसमें 4 खरब डॉलर का योगदान दिखाई नहीं पड़ता है।
- पुरुषों के अनुपात में महिलाओं द्वारा किये गये कार्यों पर 30 से 40% कम मजदूरी दी जाती है।
- ज्यादातर विकासशील देशों में 60 से 80% भोजन सामग्री महिलाओं द्वारा उत्पादित की जाती हैं।
- महिलाएँ 10 से 20% के बीच प्रशासनिक एवं प्रबंधकीय पदों पर कार्यरत है।
- दुनियाँ के सरकारों के प्रधान के रूप में महिलाओं की संख्या मात्र 5% है।

### *महिलाएँ एवं गरीबी*

- 2 करोड़ 45 लाख भारतीय महिलाएँ पढ़ना-लिखना नहीं जानती है।
- 15 वर्ष के ऊपर की महिलाओं में वयस्क साक्षरता दर वर्ष 2000 में 40.4% एवं पुरुषों में 69% था।
- 6 से 11 वर्ष के समूह के बच्चे जो स्कूल नहीं जाते हैं उसमें 1 करोड़ 30 लाख बच्चों में से बच्चियों की संख्या 60% हैं।
- विश्व के 8 करोड़ 75 लाख निरक्षरों में 67% महिलाएँ हैं।

## *महिलाएँ एवं स्वास्थ्य*

महिलाओं का औसत पोषण आहार मात्र 1400 कलौरी है जबकि 2200 कैलोरी आहार आवश्यक है।

भारत में पाये जाने वाले एच.आई.वी. संक्रमित लोगों में महिलाओं की संख्या 38% है लेकिन भारत के एड्स की देखभाल करने वाले केन्द्रों की संख्या के मात्र 25% पर उनका कब्जा है।

हालाँकि महिलाओं के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयास किये गये है लेकिन लैंगिक समानता का जो संवैधानिक स्वप्न देखा गया है उसे वास्तविक आकार लेना अभी वर्षों दूर है। आज भी मुख्यधारा पुरुषधारा के रूप में मौजूद हैं।

महिलाओं से जुड़े मुद्दों एवं महिलाओं को निजी दायरे में ही बन्द कर रखने की प्रमुख प्रवृत्ति लगातार रही है।

महिलाओं के लिये क्या अच्छा है क्या बुरा इस पर परंपरागत रूप से नियंत्रण रखने की प्रवृत्ति का बोलबाला है और जो विद्रोही महिलाएँ हैं और उनके सहयोगी हैं, उन्हें हिंसा का सहारा लेकर दण्डित किया जाता है।

अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं कि नेशनल क्राइम रिपोर्ट ब्यूरो के मुताबिक 2010 तक जनसंख्या वृद्धि दर की तुलना में महिलाओं के खिलाफ अपराध की गति में तेज वृद्धि होगी।

इस विषय पर विस्तार से चर्चा के लिये हम कुछ सरकारी एवं गैर-सरकारी आंकड़ों पर गौर करें।

हालांकि यहाँ जो आँकड़ें प्रस्तुत किये गये हैं वे सरकारी संगठनों द्वारा एकत्र किये गये हैं।

इन आँकड़ों से महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों के एक हिस्से का पता चलता है क्योंकि महिलाओं के खिलाफ होनेवाली हिंसा के बड़े हिस्से की सूचना नहीं मिल पाती है।

## *महिलाओं की स्थिति–एक विहंगम दृष्टि*

- ❑ भारत की जनसंख्या 1.07 अरब है।
- ❑ लैंगिक अनुपात 1000 पुरुष पर 930 महिलाएँ।
- ❑ यह अनुपात मौटे तौर पर वर्ष 1901 से लगातार जारी है।
- ❑ मात्र मृत्यु दर-प्रति 1 लाख में 540 माताओं की मृत्यु हो जाती है।
- ❑ साक्षरता दर 65.38%।
- ❑ महिला – 52.82%, पुरुष – 75.96%
- ❑ पूर्ण जन्म दर – 2.9 बच्चे प्रति महिला।

- अगर अनचाहे बच्चे को जन्म देने की घटनाओं को समाप्त किया जा सके तो पूर्ण जन्म दर 2.1 बच्चा प्रति महिला हो जायेगा।
- 52% विवाहित महिलाएँ अपने स्वास्थ्य के बारे में खुद निर्णय लेती है।
- 29% अवयस्क लड़कियाँ विवाह के बंधन में बलपूर्वक बाँध दी जाती है।
- 52% महिलाएँ रक्त अल्पतता से ग्रस्त हैं।

### *लैंगिक भेदभाव के साथ*

- निजी एवं सार्वजनिक जगहों पर महिलाओं के साथ शारीरिक, यौन, भावनात्मक एवं आर्थिक उत्पीड़न किया जाता है। लड़के को जन्म देने की प्रथा को वरीयता, संसाधनों का असमान वितरण तथा निर्णय लेने में असमानता का सामना महिलाओं को करना पड़ता है।
- जातीय भेदभाव, खासकर कुछ खास जातियों से संबंध रखने वाली महिलाओं के साथ।
- महिलाओं के खिलाफ साम्प्रदायिक हिंसा।
- नव-उदारवादी नीतियां महिलाओं के जीवन को विभिन्न ढंग से प्रभावित कर रही हैं। महिलाओं के लिए खास तरह की नौकरियाँ। बाजार के प्रभाव से महिलाओं के खिलाफ हिंसा में बढ़ोतरी।

**लैंगिक अनुपातः (प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं की संख्या)**

| *जनगणना वर्ष* | *लैंगिक अनुपात* |
|---|---|
| 1901 | 972 |
| 1911 | 964 |
| 1921 | 955 |
| 1931 | 950 |
| 1941 | 945 |
| 1951 | 946 |
| 1961 | 941 |
| 1971 | 930 |
| 1981 | 934 |
| 1991 | 927 |
| 2001 | 933 |

(स्रोत – भारत की जनगणना)

बच्चियों को जिन्दा रखने में सहायता करने के लिये बीजिंग कार्य योजना के मंच ने सरकारों एवं निजी संस्थाओं को निम्नलिखित सुझाव दिये हैं।

(अ) बच्चियों के खिलाफ सभी तरह के भेदभावों को समाप्त किया जाये।

- बच्चियों के प्रति नकारात्मक सांस्कृतिक धारणाओं एवं व्यवहारों को समाप्त किया जाय।
- बच्चियों के हितों को आगे बढ़ाया जाय एवं उसकी रक्षा की जाय तथा उसकी आवश्यकताओं एवं क्षमताओं के बारे में चेतना फैलाई जाय।
- स्वास्थ्य एवं पोषण के मामले में बच्चियों के साथ बरते जाने वाले भेदभाव को समाप्त किया जाय।
- कामगार लड़कियों के शोषण पर रोक लगाई जाय तथा कार्यस्थलों पर उनकी रक्षा की जाय।
- बच्चियों के खिलाफ हिंसा को समाप्त किया जाय।
- बच्चियों के बारे में चेतना का प्रसार किया जाय तथा सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों में उनकी भागीदारी को सुनिश्चित किया जाय।
- बच्चियों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये परिवार की भूमिका को मजबूत बनाया जाय।
- 1989 में बच्चों के अधिकार से जुड़े कन्वेंशन ने बच्चियों के खिलाफ व्यवहार में लम्बे से हो रहे भेदभावों, असमानताओं के पहचान की बातें कही गई हैं तथा वैसे व्यवहारों एवं परंपराओं को को समाप्त करने की सिफारिश की गई है जो उन बच्चियों के अधिकार प्राप्त करने के रास्ते में बाधक हैं तथा इन अधिकारों की रक्षा के लिये प्रभावी रणनीति बनाई जाय। महिलाओं के खिलाफ सभी तरह के भेदभावों को समाप्त करने के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहमति बनी हैं।

वर्ष 2001 में भारत सरकार ने महिलाओं के सशक्तीकरण के संबंध में राष्ट्रीय नीति में कहा है कि–

बच्चियों के खिलाफ हर तरह के भेदभावों को समाप्त करने के लिये कठोर कदम उठाये जायेंगे। भेदभावों पर रोक के साथ-साथ दण्डात्मक कार्रवाइयाँ भी की जायेंगी। माता-पिता द्वारा लैंगिक चुनाव की गतिविधियों पर कानूनी रोक पर सख्ती से अमल रना तथा बच्चियों के भ्रूण हत्या पर रोक लगाना। बच्चियों की हत्या पर रोक, बाल विवाह पर रोक बच्चियों के यौन शोषण, बाल वेश्यावृत्ति आदि पर रोक। परिवार और बाहर में भी बच्चियों के इलाज के संबंध में बरते जाने वाले भेदभाव पर रोक तथा बच्चियों के बारे में सकारात्मक दृष्टिकोण को सक्रियता पूर्वक मजबूत बनाया जायेगा। बच्चियों से जुड़ी आवश्यकताओं पर विशेष जोर होगा तथा भोजन, पोषण, स्वास्थ्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में ज्यादा निवेश किया जायेगा। उन्हें कारोबारी

शिक्षा दी जायेगी, बाल श्रम को समाप्त करने के लिये कार्यक्रम लागू किये जायेंगे और इन तमाम गतिविधियों में बालिका पर ज्यादा ध्यान दिया जायेगा।

## राष्ट्रीय कार्य योजना

भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय कार्य योजना तैयार की और उसकी घोषणा की। इसे सार्क देशों की योजना का नाम दिया गया। वर्ष 1991 से 2000 की अवधि में एक दशक तक बच्चियों के बारे में प्रभावी कदम उठाने की बातें कही गई हैं –

1. बच्चियों की जिन्दगी को बचाना तथा उनकी हिफाजत करता तथा सुरक्षित मातृत्व की गारंटी करना।
2. बच्चियों का सर्वांगीण विकास।
3. कठिन परिस्थितियों जैसे आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े या अपंग बच्चियों को विशेष सुरक्षा प्रदान करना।

इसके साथ-साथ लैंगिक असमानता बाल मृत्यु एवं कुपोषण को समाप्त करने पर विशेष ध्यान, कन्या भ्रूण हत्या एवं बालिका मृत्यु को रोकने के साथ-साथ बालिकाओं का स्कूलों में नामांकन एवं उनकी पढ़ाई की निरंतरता बनाये रखने का प्रयास, इसके अलावे बालिका श्रम (बाल श्रम) की समाप्ति।

लड़कियों का सशक्तीकरण – राष्ट्रीय पहल पर एक दृष्टि –

1. मध्य अमेरिकी देश निकारागुआ में अवयस्क गर्भधारण की समस्या उच्चतम है। यू.एन.एफ.पी.ए. ने किशोरवय के जनन संबंधी स्वास्थ्य कार्यक्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देहाती क्षेत्रों के युवाओं तक पहुँचने के लिये चलन्त चिकित्सा केन्द्र एवं थियेटर समूह का उपयोग किया जाता है।
2. दक्षिणी अफ्रीका की युवतियों को आर्थिक उपार्जन का अवसर प्रदान किया जाता हैं जिससे वे अपनी शिक्षा बरकरार रख सकें। इसमें साथ में पढ़ने वाले हम उम्र साथी के प्रशिक्षण देने में शरीक किया जाता है जो दूसरों के लिये अनुकरणीय उदाहरण के रूप में काम करते हैं। वे अपने अनुभवों को बाँटती हैं तथा नेतृत्व का गुर सीखती हैं, अपनी बातें कहने उसे मजबूती से रखने, लक्ष्य निर्धारण तथा विवाहों को सुलझाने का कार्य सीखती हैं। वे अपने जनन संबंधी तथा यौन संबंधी स्वास्थ्य की जानकारी हासिल करती हैं और उससे संबंधित अपनी आवश्यकता के अनुसार सेवा हासिल करना भी इस योजना का महत्वपूर्ण तत्व है।
3. मिश्र – युवा नेतृत्व परियोजना, स्थानीय गैर सरकारी संगठनों को युवा परियोजना लागू करने में सहायता प्रदान करता है। इस परियोजना के अन्तर्गत युवाओं को जनन संबंधी स्वास्थ्य जानकारियों के बारे में स्पष्ट एवं व्यावहारिक सूचनाएँ प्रदान करता है। इस सिलसिले में युवतियों से जुड़ी आवश्यकताओं पर खास जोर दिया जाता है।

4. श्रीलंका – स्वास्थ्य केन्द्रों में सुझाव केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिसके माध्यम से युवतियों को जनन संबंधी स्वास्थ्य समस्याओं के बारे में जानकारियाँ दर जाती हैं। इस परियोजना के माध्यम से बाल शोषण की जानकारी प्राप्त करने में पुलिस की सहायता की जाती है और वैसे अपराधियों को न्याय के कठघरे में खड़ा किया जाता है। इस परियोजना के कठघरे में खड़ा किया जाता हैं। इस परियोजना के साथ हासिल आरक्षी को को जोड़ना एक महत्वपूर्ण कदम है। पुलिस को सदमाग्रस्त बच्चों को परामर्श देने का प्रशिक्षण दिया गया और स्वयं सेवकों ने स्थानीय पुलिस के साथ मिलकर बाल यौन-शोषण के मुद्दे पर काम किया। सभी पुलिस थानों में बाल यौन- शोषण के मामले को देखने के लिये कर्मचारियों के जिम्मे रहता है। बाल-शोषण को रोकने के लिये एक कानून पारित किया गया।

## भारत

हमारी सरकार ने 2 अक्टूबर 1997 में बालिका समृद्धि योजना की शुरूआत की। इसके तहत बालिकाओं का विद्यालयों में दाखिला, वहां उनकी निरंतरता बरकरार रखने तथा जो विद्यालयों में अध्ययन कर रही हैं उन्हें आर्थिक मदद पहुँचाना आदि। इस बात पर गौर किया जाना चाहिये कि हमारे देश द्वारा उठाया गया यह कदम उत्साह पैदा करनेवाला है।

24 जनवरी बालिका दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया है। राष्ट्रीय महिला आयोग के 16वें स्थापना दिवस पर संगठन ने महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के बारे में अपनी प्रतिबद्धता दुहराई। उन्होंने हिन्दू अखबार में 31 जनवरी 2001 को एक विज्ञापन प्रकाशित कराया। इस विज्ञापन में माता-पिता द्वारा भ्रूण के लिंग के बारे में जानकारी प्राप्त करने की बात को पूरी तरह गैर-कानूनी बताते हुए कहा गया कि नगर समाज और अच्छे लोग अगर इस कार्य में सहायता करते हैं या इसमें शामिल होते हैं उनके खिलाफ सख्ती से कानूनी कार्रवाई होगी। इसके अन्तर्गत उनको भारी कीमत चुकाना पड़ेगी या जेल जाना होगा।

## बिहार में बालिकाओं की स्थिति को ऊँचा उठाये जाने के संबंध में उठाया गया कदम

वर्ष 2008-09 में बिहार सरकार ने लैंगिक संवेदनशीलता वाला बजट प्रस्तुत किया। यह एक प्रसंशनीय कार्य है। इस बजट में महिलाओं एवं बालिकाओं के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिये सर्वशिक्षा अभियान एवं वजीफे में पूरे प्रावधान का 30% हिस्सा खर्च करने का निर्णय लिया गया।

राज्य की पूरी आबादी का 50% महिलाएँ हैं। वे तमाम मानव-विकास मानदंडों पर सबसे निचले पायदान पर हैं। बिहार में लैंगिक अनुपात 1000 पुरुषों पर 921

महिलाओं का है। पुरुषों की 4 करोड़ 32 लाख की तुलना में औरतों की जनसंख्या 3 करोड़ 97 लाख है।

औरतों में साक्षरता दर पुरुषों के मुकाबले आधी है। सिर्फ 50% महिलाएँ साक्षर हैं। राज्य सरकार ने 10 मुख्य क्षेत्रों के लिये 22 अरब 48 करोड़ रूपयों का प्रावधान किया है और अगले वित्तीय वर्ष के लिये 149 करोड़ 57 लाख का प्रावधान किया गया है। मुख्यमंत्री पोशाक योजना के लिये 7 करोड़ 20 लाख का प्रावधान किया गया है। 4 करोड़ 21 लाख बालिका साईकिल योजना, 2 करोड़ कन्या विवाह योजना, 2 करोड़ 60 लाख कन्या सुरक्षा योजना खर्च किये जायेंगे।

इसके अलावे 51 करोड़ 5 लाख स्वयं सिद्धा योजना, 5 करोड़ 30 लाख लक्ष्मीबाई सामाजिक सुरक्षा योजना, 1 करोड़ 38 लाख किशोरवय की बालिकाओं के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर खर्च करने हेतु 1 अरब अतिरिक्त पोषण के मद में, 4 अरब 90 लाख इंदिरा आवास योजना और 1 अरब 44 करोड़ 5 लाख रुपये दुलार कार्यक्रम पर खर्च होगी।

बिहार सरकार 1 करोड़ 40 लाख रुपये निवेश कर महिलाओं के लिये एक नई आई.टी.आई. की स्थापना करेगा।

## निष्कर्ष

बालिकाओं के प्रति भेदभाव समाज के लिये कलंक है। बालिकाओं की जीवन रक्षा तथा उसे मानवाधिकार प्रदान करने, शिक्षा के लिये पहल लेकर ही सकारात्मक बदलाव लाया जा सकता है।

जब आम जनता बालिकाओं की जीवन रक्षा के सवाल से जुड़ेगी तभी बालिकाओं को अकाल मृत्यु से बचाया जा सकेगा और उसके साथ-साथ उनके स्वास्थ्य एवं शिक्षा की आवश्यकताओं को भी पूरा किया जा सकेगा। इस अभियान को गाँवों तक पहुँचाने की जरूरत है।

ग्रामीणों में यह चेतना पैदा करने की जरूरत हैं कि बिना बालिकाओं की जीवन रक्षा के समाज को गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। इस मुद्दे को सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सभी स्तरों पर बहस किया जाना चाहिये। बालिकाओं को कम्प्यूटर साक्षर एवं तकनीकी ज्ञान देना चाहिए।

इसके साथ-साथ अनहोनी से अपनी रक्षा के लिये तथा अपने अन्दर आत्म विश्वास पैदा करने के लिये उन्हें कराटे का प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिये। अगर हमारे समाज को एक सभ्य समाज के रूप में स्थापित होना है तो समाज के चेतनशील लोगों को सिर्फ सेमिनार आदि में बहसों तक इस मुद्दे को संक्षिप्त रखने के बजाय उन्हें महिलाओं को अधिकार संपन्न बनाने, हर स्तर पर भेदभाव खत्म करने समानता स्थापित करने में महिलाओं को संगठित करने का प्रयास करना होगा।

# विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन की समीक्षा

**डॉ. शंकर जी**

*रीडर, राजनीतिक विज्ञान विभाग, वैशाली महिला कॉलेज*
*हाजीपुर ( वैशाली )*

विनोबा भावे 18 अप्रैल 1951 को आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना के नालगुंडा जिले के पंचमपल्ली गांव में भूमिहीन हरिजनों की दर्द भरी कहानी सुनकर भूदान का कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि भूमिहीन कृषकों को किसी प्रकार से भूमि प्राप्त हो जाये तो भारत की भूमि समस्या का समाधान हो सकता है। उनके अनुमान से पांच करोड़ एकड़ जमीन भारत से भूमिहीनता को मिटाने के लिए आवश्यक थी जो कि कुल काश्तकारी जमीन का छठा हिस्सा था। उन्होंने गांव-गांव में घूम कर भूमि का दान मांगा और भूदान आन्दोलन का सूत्रपात किया। वहां से वे पुनः पवनार आश्रम आये, तीन महीने बाद उन्होंने दिल्ली की ओर प्रयाण किया और 62 दिन की पवनार से दिल्ली की यात्रा में उन्हें 19 हजार 436 एकड़ भूमि दान में मिली। इसके बाद उन्होंने उत्तर प्रदेश की पदयात्रा की और वहाँ उनको 2,95,018 एकड़ भूमि प्राप्त हुई। बिहार में उन्हें 839 दिन की यात्रा में 22,32,474 एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त हुई। बिहार के लिए उन्होंने यह दिखा दिया कि अहिंसा की शक्ति से भूमि समस्या का निराकरण कैसे किया जा सकता है। इसके बाद विनोबा ने उड़ीसा की 249 दिन की पदयात्रा में 2,57,277 एकड़ भूमि, आन्ध्र प्रदेश की 224 दिन की पदयात्रा में 50,754 एकड़ भूमि, तमिलनाडु में 341 दिन की पदयात्रा में 47,092 एकड़ भूमि केरल की 138 दिन की पदयात्रा में 1,571 एकड़ भूमि तथा कर्नाटक की 212 दिन की पदयात्रा में 1,109 एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त की। विनोबाजी ने सर्वोदय कार्यकर्ताओं को 8 मार्च 1953 को चान्डिल्य में सम्बोधित करते हुए कहा, ''हमारा उद्देश्य केवल भूदान प्राप्ति ही नहीं है। हमें स्वतंत्र लोकशक्ति का निर्माण करना है, जो हिंसक शक्ति के विरोधी और दंड शक्ति से भिन्न होगी। इस अहिंसक लोकशक्ति से देश की विभिन्न समस्यायें आसानी से हल की जा सकेंगी।''

विनोबा जी के भूदान आन्दोलन का यह प्रभाव हुआ कि जयप्रकाश नारायण ने इस अहिंसक क्रांति के लिए लगभग 600 कार्यकर्ताओं के साथ जीवन दान का व्रत लिया। जमीन के दाम गिरने लगे। जमींदार स्वयं विनोबाजी के पास आते और हाथ जोड़कर भूमि का छठा हिस्सा स्वीकार करने का आग्रह करते। किन्तु बिहार में इसकी एक प्रतिक्रिया यह हुई कि अनेक बड़े जमीन्दार घबरा गये। कांग्रेस तथा उसके समर्थक राजनीतिक क्षेत्रों में खलबली मच गई। जमीन हाथ से जाती देखकर कई कांग्रेसी झल्ला उठे और उन्होंने किसी तरह से विनोबा जी को बिहार से विदा किया।

लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार के जमींदार तथा बिहार की कांग्रेसी सरकार ने बिहार के भूदान आन्दोलन को जर्जरित कर दिया और भूमिहीनों की समस्या वैसे की वैसी बनी रह गई।

भूदान आन्दोलन शनैः शनैः शिथिल होता गया। उनकी पदयात्रायें दिखावा रह गई। बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी तथा मंत्री उनकी पदयात्रा की अगवानी करते और स्वागत के लिए तैयार रहते लेकिन विनोबा जी के साथ फोटो खिंचाते ही फिर गायब हो जाते। उन लोगों का भूमि समस्या को हल करने में अथवा राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने में कोई योगदान नहीं था। वे केवल स्वार्थवश विनोबाजी के साथ हो जाते थे। भूदान के बाद विनोबा जी ने ग्रामदान की योजना प्रारम्भ की। उन्हें पहला ग्रामदान 23 मई 1951 को उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले के मंगरात गांव में प्राप्त हुआ जहाँ सभी भूमिवालों ने अपनी जमीन विनोबाजी को दान कर दी। विनोबाजी ने ग्रामदान की 4 शर्त्तें रखीं थी : (1) गांव के सब वयस्क निवासी, स्त्री हों अथवा पुरुष, मिलकर ग्रामसभा बनायें। (2) गांव के सब भूमिवान अपनी-अपनी जमीन का स्वामित्व ग्रामसभा को सौंप दें। (3) गांव के सब भूमिवान अपनी जमीन का बीसवां हिस्सा ग्रामसभा को दान कर दें ताकि वह भूमिहीनों को दिया जा सके। (4) गांव में ग्राम कोष खोला जाये जिसमें भूमिवान लोग अपनी जमीन में होने वाली पैदावार का चालींसवा हिस्सा जमा करें और मजदूरी करनेवाले या वेतन पाने वाले लोग प्रतिमाह एक दिन की मजदूरी या वेतन जमा करें।

विनोबा ही ग्रामदान के माध्यम से प्रत्येक गांव को एक परिवार जैसी सूरत देना चाहते थे। परिवार के सदस्य जिस प्रकार मिल-जुलकर आपसी सलाह से काम करते हैं उसी तरह गांव के सारे विवाद ग्रामसभा के द्वारा तय करें, उन्हें कोर्ट अथवा पुलिस थाने में जाने की आवश्यकता नहीं रहे। सारे झगड़े ग्रामसभा में निपटाये जायें। इसी तरह प्रत्येक गांव में ग्राम भंडार की स्थापना की जाय। गांव की सफाई, सिंचाई, शिक्षा, सुरक्षा, चिकित्सा, पशुपालन आदि ग्रामसभा की देख-रेख में हो। ग्रामसभा द्वारा इन कार्यों के लिए जमीन दी जाये तथा उद्योग धंधों की स्थापना करें। खेती की व्यवस्था अलग-अलग होते हुए भी लगान ग्रामसभा द्वारा दिया जाये। विनोबा के अनुसार ग्राम स्वराज्य का आदर्श 'खेत गांव का, खेती किसान की' था। किन्तु विनोबाजी का यह कार्यक्रम अधिक सफल नहीं हुआ। विनोबाजी ने ग्रामदान के पश्चात् प्रखण्डदान मांगा और उसके बाद जिलादान की मांग की। बिहार में दरभंगा पहला जिला था जिसका जिलादान हुआ। एक-एक करके सभी जिलों का दान हो गया और पूरा बिहार ही दान में आ गया। लेकिन इससे भूमिहीनों की समस्या नहीं सुलझी और यह केवल दिखावे का ही आन्दोलन रहा। विनोबा ने सरकार की सामुदायिक योजना और ग्रामदान योजना के बीच घनिष्ठ सहयोग की मांग की और यह सहयोग कुछ अर्से तक प्राप्त भी हुआ लेकिन सामुदायिक विकास के अधिकारियों द्वारा मिलने वाला सहयोग जनता में भ्रांति फैलाने में सहायक हुआ। जनता यह समझने

लगी कि शायद भूदान तथा ग्रामदान का कार्य सरकारी है। सामुदायिक विकास का काम ढीला पड़ने के कारण ही भूदान काम भी शिथिल होने लगा। इसके लिए भूदान आन्दोलन के अन्तनिर्हित दोष काफी हद तक उत्तरदायी है। पहला दोष यह था कि जमीन के बंटवारे में दानदाता का सहयोग नहीं लिया गया था। भूदान का सारा तंत्र ऐसा खड़ा किया गया था मानो भूदान वालों को भूमिवान के प्रति डर तथा अविश्वास है। इसका नतीजा यह हुआ कि भूदान करने वालों ने विशेष रुचि नहीं दिखाई। भूदान कार्यकर्ता भी अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग थे। अत: कुछ भूमि भूमिहीनों को मिली तो कुछ भूमि हड़प ली गई। स्वयं विनोबा ने बाद में यह स्वीकार किया कि भूमिवानों की सलाह न लेकर उन्होंने बड़ी गलती की थी। उनके अनुसार यह उनके पुण्य का अहंकार था कि वे न्याय की बात छोड़ गये लेकिन इस चेतावनी के बाद भी विनोबा ने भूमिवानों को भूमि वितरण के कार्य में सम्मिलित नहीं किया।

दूसरी त्रुटि विनोबा के आन्दोलन में यह रही कि कार्यकर्ताओं के मामले में हुए खर्चे का ठीक से हिसाब नहीं रखा गया। भूदान आन्दोलन को गांधी स्मारक निधि से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी चूंकि विनोबा ने यह आन्दोलन अखिल भारत सर्व सेवा संघ के अन्तर्गत चलाया था। सर्व सेवा संघ के अधीन प्रान्तीय भूदान समितियां काम करती थीं जिसका लेखा-जोखा परीक्षकों को पंसद नहीं आया। कार्यकर्ताओं ने ठीक से हिसाब रखने में असमर्थता प्रकट की। उनका यह उत्तर था कि क्रांति के काम में लगे हुए लोग हिसाब-किताब ठीक से नहीं रख सकते। परिणाम यह हुआ कि गांधी स्मारक निधि ने विनोबाजी को शिकायत की और इससे आन्दोलन को आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई। विनोबाजी तथा जयप्रकाश नारायण के अलावा और कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो भूदान आन्दोलन के लिए निस्वार्थ भाव से अपना जीवन अर्पित करता। फिर भी भूदान आन्दोलन ने वह कार्य कर दिखाया जो सरकारी तंत्र नहीं कर सकता था। 1957 तक 40 लाख एकड़ से ज्यादा जमीन भूदान में प्राप्त हुई थी। यद्यपि 5 करोड़ के लक्ष्य की दृष्टि से चालीस दसवें हिस्से से भी कम था किन्तु इससे लाखों भूमिहीनों को जीवन का नवीन मार्ग प्राप्त हुआ। भूमिहीनों में भूदान आन्दोलन ने नवीन जीवन का संचार किया। अनेक समाज सेवी आगे आये और सर्वोदय कार्यकर्ताओं का निश्चित समुदाय जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ। विनोबाजी की अहिंसक क्रांति जैसे-जैसे ग्रामदान, जिलादान, संपत्तिदान की ओर आगे बढ़ी भूदान आन्दोलन कमजोर होता गया। यदि सर्वोदय आन्दोलन केवल भूदान तक ही सीमित रहता तो उसका लक्ष्य भी पूरा हो जाता और आन्दोलन को शिथिल नहीं होना पड़ता।

भूदान की असफलता आर्थिक विषमता, गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्या के लिए चुनौती थी। भूदान आन्दोलन के सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण ने अपनी जेल डायरी में 18 अगस्त 1975 को यह अंकित किया, ''शायद विनोबाजी यह समझते थे और अब भी समझते हैं कि बिना किसी संघर्ष के, शांतिपूर्ण संघर्ष के बगैर भी

राजनीतिक तंत्र में क्रमागत परिवर्तन लाया जा सकता है, लेकिन ग्राम स्वराज्य कार्य के वर्षों के अपने अनुभव से मेरा यह निश्चित मत बन गया है कि ग्राम स्वराज्य अपने में एक मूल्यवान राजनीतिक संगठन है बशर्ते कि वह काम करे और सिर्फ कागज पर न रहे। ग्राम स्वराज्य आंदोलन में क्रमागत राजनीतिक परिवर्तन लाने की कोई क्षमता नहीं थी। सैद्धांतिक दृष्टि से इस क्षमता का कोई कारण नहीं था...जिले लिए गए, फिर नमूना बनाने की दृष्टि से प्रखंड लिए गए, लेकिन सफलता नहीं मिली। भूदान से शुरू होकर और ग्रामदान में से होकर (आने वाले ग्राम स्वराज्य के लिए एक तरह का आधार समझे गये थे) बीस साल से ज्यादा लम्बे अरसे तक चलने के बाद ग्राम स्वराज्य आन्दोलन उस निष्फल हालत में पहुंच गया था जिसमें वह आज है।''[1] विनोबा भावे ने भूदान कार्यक्रम शुरू किया। भूदान कार्यक्रम में यह कहा गया कि यह आन्दोलन भूदान में प्राप्त भूमि को भूमिहीन व्यक्तियों को बन्दोबस्त कर दिया जाय। बड़े भूस्वामियों से आग्रह किया गया कि अपनी जमीन का कुछ हिस्सा दान करें ताकि गरीब भूमिहीन मजदूरों को जीवन यापन के लिए कुछ जमीन मिल सके।

लेकिन सच्चाई यह है कि भूमिहीन गरीबों के दुखों की विनोबा भावे को चिन्ता कम थी, कम्युनिस्टों का भय ज्यादा था। देश में कम्युनिस्टों के बढ़ते प्रभाव से वे चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे कि भूमि आन्दोलन के जरिये गरीब भूमिहीन कम्युनिस्टों के प्रभाव में आ जाये। विनोबा भावे ने स्वयं कहा कि कम्युनिस्ट धनी व्यक्तियों की कृति हैं। कम्युनिस्टों के खतरों से लड़ने में पुलिस बहुत मददगार नहीं हो सकती। इनको जड़ से उखाड़ फेंकने का एक ही रास्ता है—शान्तिपूर्ण तरीके से भूमि का वितरण।[2] जो भी हो, भूदान कार्यक्रम में एक अच्छी बात यह कही गई कि भूमि का वितरण किया जाय और भूमिहीन गरीब मजदूरों को जमीन दी जाय।

विनोबा भावे ने भूदान अभियान चलाने के लिए देश में सबसे उपयुक्त बिहार को माना। वे 14 सितम्बर, 1952 को बिहार आये। भूदान के अभियान के दौरान उन्होंने विभिन्न जिलों का दौरा किया। सुदूर गांवों में भी वे गये। बिहार में उनका भूदान अभियान 27 महीनों तक चला। वे 31 दिसम्बर, 1954 तक बिहार में रहे। बिहार की धरती को उन्होंने अहिंसा का नया प्रयोग करने के सर्वाधिक उपयुक्त माना। क्योंकि उन्हें मालूम था महात्मा बुद्ध ने इसी बिहार से अहिंसा का संदेश विश्व के अन्य देशों में फैलाया। लेकिन इस संदर्भ में वंद्योपाध्याय भूमि सुधार आयोग ने दुख के साथ लिखा है कि भूदान यज्ञ कमिटी और राज्य सरकार के राजस्व विभाग की अकुशलता के कारण ज्यादा कुछ हासिल नहीं किया जा सका।[3]

आयोग ने बिहार में भूमि सुधार के सभी पहलुओं— आर्थिक, सामजिक, न्यायिक आदि के संबंध में सभी तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के लिए सरकारी अभिलेखों, सरकारी अधिकारियों, राजनीतिक दलों, संगठनों, बुद्धिजीवियों, शोध संस्थानों आदि का सहारा लिया। जमीनी हकीकत की जानकारी पाने के लिए आयोग ने 14 जिलों में 15 जन सुनवाइयां आयोजित की। इन जन सुनवाइयों में स्थानीय अधिकारियों,

राजनीतिक नेता एवं कार्यकर्त्ताओं, जनसंगठनों के प्रतिनिधि और जमीन से जुड़े आम लोग शामिल हुए। आयोग ने सबकी बातें सुनी और उनके सुझावों को नोट किया। सभी तथ्यों और जानकारियों के आधार पर आयोग ने माना कि भूदान कार्यक्रम में बड़े पैमाने पर धोखाधड़ी, षड्यंत्र, कानूनों का उल्लंघन, जमीन की हेरा-फेरी और जालसाजी की गई हैं। इन सब गलत धंधों में भूस्वामी, सरकारी अधिकारी, भूदान यज्ञ कमिटी और राज्य सरकार के राजस्व विभाग के अधिकारी शामिल हैं। इन सबों ने सांठगांठ करके भूदान के मूल उद्देश्य को ही रौंद डाला।

भूदान में मिली जमीन की देखभाल करने, उसके अभिलेख तैयार करने, उसका वितरण करने आदि कामों के लिए राज्यस्तर पर भूदान यज्ञ कमिटी का गठन किया गया था। प्रत्येक जिले में उसकी जिला इकाइयाँ भी गठित की गई। 1954 में भूदान कार्यक्रम को कानूनी मान्यता देने के लिए बिहार भूदान यज्ञ अधिनियम पारित हुआ।[4]

भूदान यज्ञ कमिटी ने आयोग को जानकारी दी कि भूदान में कुल 6,48,476 एकड़ जमीन प्राप्त हुई। उनमें से 2,78,320 एकड़ जमीन वितरण के अयोग्य पायी गई। शेष में से 2,55,347 एकड़ भूमि 6,15,454 परिवारों के बीच वितरित की गई। 1,14,708 एकड़ भूमि वितरण के लिए शेष रह गई हैं, जो अभी तक वितरित नहीं की गई है।

इन आंकड़ों को देखकर आयोग आश्चर्यचकित हो गया। किसी को भी यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि जमीन का इतना बड़ा रकबा किस आधार पर वितरण के अयोग्य मान लिया गया। इसकी जानकारी न भूदान यज्ञ कमिटी को है और न ही राजस्व विभाग को। जमीन का चरित्र क्या है, यथा जंगल है, पहाड़ है, नदी, झील या जलकर, ऊसर है, खेती योग्य है, इसकी भी जानकारी कमिटी और राजस्व विभाग को नहीं है। कमिटी और राजस्व विभाग को यह भी जानकारी नहीं है कि उस जमीन पर किसका नियंत्रण और कब्जा है। ऐसी स्थिति में यह आसानी से समझा जा सकता है कि भूदान जमीन के इतने बड़े रकबे को वितरण के अयोग्य मानने के पीछे कोई अवश्य बड़ा घोटाला और षड्यंत्र है। भूदान यज्ञ कमिटी और राजस्व विभाग ने ऐसी जमीन की भौतिक जांच भी कभी नहीं करायी।

उल्लेखनीय है कि यह जमीन भूदान में भूदान यज्ञ कमिटी को मिली। लेकिन उस जमीन पर न तो भूदान यज्ञ कमिटी का कब्जा और नियंत्रण है और न ही भूमिहीनों में उसका वितरण हुआ है। तो स्पष्ट है कि उस जमीन पर भूदानदाताओं या किन्हीं भू-माफियाओं का कब्जा और नियंत्रण है। दूसरी बात यह कि कुल जमीन जंगल, पहाड़, नदी-झील तो नहीं होगी। कुल जमीन उनमें से अवश्य ऐसी होगी जिसको विकसित करके खेती या बागवानी आदि के लायक बनाया जा सकता है। इन सब तथ्यों को नजरअंदाज करके 2,75,320 एकड़ जमीन वितरण के अयोग्य मान लिया जाय, यह न सिर्फ अनैतिक, लापरवाही या उपेक्षा कही जायेगी, बल्कि यह एक बड़ा षड्यंत्र है।[5]

इतना बड़ा षड्यंत्र किनको लाभ पहुंचाने के लिए रचा गया, यह विचारणीय है। यह तय है कि यह जमीन चाहे भू माफियाओं के कब्जे में हो या दान दाताओं के कब्जे में, उनका लाभ वे ही उठाते होंगे। अगर इस जमीन का वितरण होता तो उसका लाभ भूमिहीन लाभार्थियों को मिलता। वितरण न होने से भूमिहीन गरीब उस जमीन से मिलने वाले लाभ से वंचित हो गये। स्पष्ट है यह षड्यंत्र भू-माफियाओं या भूदान दाता भूस्वामियों को ही लाभ पहुंचाने और भूमिहीन गरीबों को उनको मिलने वाले लाभ से वंचित करने के उद्देश्य से रचा गया है।

यह भी हो सकता है कि भूस्वामी ने भूहदबंदी से फाजिल जमीन को चुराने के वास्ते अपनी जमीन को भूदान में दे दिया। लेकिन व्यवहार में उसने न तो भूदान में जमीन दी और न अधिशेष भूमि मानकर राजस्व विभाग को ही दी। दोनों ही हालत में भूमिहीन गरीबों को नुकसान और भूस्वामियों को लाभ मिला। क्योंकि जमीन अगर हदबंदी से फाजिल घोषित होती तो भी उस जमीन का वितरण भूमिहीनों में ही होती और उसका लाभ उन्हें मिलता। आश्चर्य की बात है कि भूदान की जमीन के इतने बड़े घोटाले पर आज तक राज्य की किसी भी सरकार का ध्यान नहीं गया। न तो पूर्ववर्ती सरकारों ने इस ओर ध्यान दिया और न ही वर्तमान सरकार ने। क्या यह संदेह पैदा नहीं करता कि इस बड़े घोटाले में सत्ता के ऊंचे पद पर रहने वाले राजनेताओं का हाथ भी हो सकता है?[6]

एक बात और, भूदान यज्ञ कमिटी के अनुसार अभी भी उसके पास 1,14,708 एकड़ भूदान की जमीन है। यह वितरण योग्य है, लेकिन वर्षों बाद भी अभी तक वितरित नहीं की जा सकी है। इस जमीन के वितरण में इतना विलंब का भी कोई कारण अवश्य होगा। इसी से जुड़ा दूसरा प्रश्न विचारणीय है कि फिलहाल इस जमीन पर किसका कब्जा और नियंत्रण है। इस जमीन का लाभ वर्षों से कौन उठा रहा है ? क्या भूदान यज्ञ कमिटी को उस जमीन से मिलने वाले लाभ का कोई हिस्सा मिलता है या नहीं? इस जमीन के नहीं बांटने से किसको लाभ से वंचित होना पड़ रहा है ? क्या भूस्वामियों को लाभ पहुंचाने और भूमिहीनों को लाभ से वंचित करने की नीयत से जमीन के वितरण में विलंब नहीं किया जा रहा है? इन प्रश्नों का सही-सही उत्तर भूदान यज्ञ कमिटी या राजस्व विभाग के किसी अधिकारी के पास नहीं है। ऐसी हालत में पाठक स्वयं इनका उत्तर ढूंढ़ लें।

2,55,347 एकड़ भूदान की जो जमीन वितरित की गई, उसमें भी आयोग को भारी घोटाला का पता चला है। यह जमीन भूदान यज्ञ कमिटी के अनुसार 3,15,454 परिवारों में वितरित की गई। इस वितरण में भी भारी घोटाला, बेईमानी और मनमानी की गई है। आयोग के रिपोर्ट के अनुसार वितरित जमीन का विवरण इस प्रकार है—निजी लाभार्थियों को 7.7542 एकड़ प्रति परिवार, आदवासियों को 6 एकड़ प्रति परिवार, अन्य पिछड़े वर्ग को 2 एकड़ प्रति परिवार जमीन दी गई। आश्चर्य के साथ आयोग ने नोट किया है कि 59 संस्थाओं को 11,130.9375 एकड़ जमीन वितरित

की गई। ज्ञातव्य है कि भूदान की जमीन के वितरण के लिए लाभार्थियों की गई श्रेणियाँ बनायी गई हैं। इनमें एक है ''सार्वजनिक एवं अन्य''। आयोग ने कहा है कि यह वाक्यांश अस्पष्ट और भ्रामक है। सी वाक्यांश का लाभ उठाते हुए भूदान यज्ञ कमिटी ने 59 संस्थाओं को 11,130.9375 एकड़ जमीन दे दी। पता नहीं इस जमीन का इस्तेमाल उन संस्थाओं के विकास आदि के लिए किया जा रहा है या कुछ दबंग व्यक्ति संस्था के नाम पर जमीन लेकर उसे इस्तेमाल निजी हित के लिये कर रहे हैं। किसी भी ईमानदार सरकार के लिए यह जाँच का विषय है।

आयोग ने यह भी कहा है कि भूदान की जमीन के इस वितरण के बावजूद 15,000 एकड़ जमीन का औपचारिक वितरण अभी तक नहीं हुआ है।

बिहार भूदान यज्ञ अधिनियम 1954 भी भूदान जमीन के वितरण के सवाल पर दोषपूर्ण है। जन सुनवाई के दौरान आयोग के सामने यह सवाल जोरदार ढंग से उठाया गया। जन सुनवाई में इस अधिनियम के अनुच्छेद 15 की उपधारा (3) को समाप्त करने की मांग की गई। यह धारा भूदान यज्ञ कमिटी को यह अधिकार देती है कि वह भूदान की जमीन को किसी भी व्यक्ति को दे सकता है। भूमिहीनों को देना अनिवार्य नहीं है। अधिनियम का यह प्रावधान उसी अधिनियम के बुनियादी उद्देश्य को समाप्त कर देता है। अधिनियम की प्रास्तावना में कहा गया है कि इस तरह की जमीन (भूदान जमीन) भूमिहीन व्यक्ति या गांव समुदाय, ग्राम पंचायत या सहयोग समिति, जो भूदान यज्ञ कमिटी द्वारा संगठित की गई हो को बन्दोबस्त की जायेगी। इस तरह देखा जाय तो उपधारा (3) अधिनियम के मूल उद्देश्य के विपरीत है। आयोग ने कहा है कि ड्यूटी कलक्टर को अनुच्छेद 21 के तहत मिले अपने अधिकार का इस्तेमाल करते हुए उस जमीन से अवांछित व्यक्ति को हटा देना चाहिए।[7]

आयोग ने भूदान की जमीन के बारे में एक अन्य समस्या को नोट किया है। वह है कि भूदान की जमीन के बारे में राजस्व विभाग और भूदान यज्ञ कमिटी के अभिलेख में दर्ज आंकड़ों में एकरूपता नहीं है। राजस्व विभाग के आंकड़ों के अनुसार 1,11,000 एकड़ भूमि की पुष्टि नहीं हुई है। लेकिन कमिटी के आंकड़ों के अनुसार असत्यापित भूमि के कोई भरोसेमंद आंकड़े नहीं है। यह विसंगति स्थानीय विवाद और संकट का बहुत बड़ा स्रोत है।

आयोग ने भूदान जमीन में व्याप्त धोखाधड़ी, जालसाजी, मनमानी, पक्षपात, ठगी आदि को दर्शाने के लिए कुख्यात हथुआ राज के मामले को प्रस्तुत किया है। हथुआ राज ने एक मामूली पत्र के द्वारा विनोबा भावे को अपनी एक लाख एकड़ जमीन भूदान में दान दे दी। यह घटना 1959-60 में प्रकाशित सारण गजेटियर में उल्लिखित है। यह कोई कहावत नहीं है। यह भूदान यज्ञ कमिटी के अभिलेखों में भी दर्ज है।

भूदान यज्ञ कमिटी ने आयोग को बताया कि अप्रैल, 1959 के अन्त तक सारण जिला में भूदान में कुल 1,03,902 एकड़ जमीन मिली। लेकिन 23-3-2007 को गोपालगंज जिला के तत्कालीन कलक्टर ने बताया कि भूदान यज्ञ कमिटी को कुल

21,237 एकड़ जमीन मिली। जिसमें से 10,263 एकड़ जमीन की पुष्टि हो सकी। पहले गोपालगंज सारण जिले का एक अनुमंडल था। अब वह अलग जिला बन गया है। आयोग ने कहा है कि सर्वे कराकर हथुआ राज द्वारा दी गई जमीन की जांच कराने की आवश्यकता है। हथुआ राज ने न सिर्फ विनोबा भावे के साथ धोखाधड़ी की, बल्कि बिहार और गोपालगंज जिला की जनता के साथ भी धोखाधड़ी की। भूहदबंदी से फाजिल जमीन को छुपाने के लिए हथुआ राज ने एक लाख एकड़ जमीन भूदान में फर्जी तरीके से दान कर दी, लेकिन व्यवहार में उसने भूदान में एक इंच भी जमीन नहीं दी। झूठ का सहारा लेकर बिहार सरकार और आम जनता की आंखों में धूल झोंकते हुए उसने एक लाख एकड़ अधिशेष भूमि भूदान में देने की घोषणा कर दी।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने हथुआ राज के इस धोखाधड़ी को कई बार उजागर किया, आन्दोलन किया और उसके खिलाफ धोखाधड़ी का मामला दर्ज कर उसके खिलाफ कार्रवाई की मांग की। लेकिन पूर्ववर्ती सरकार या वर्तमान सरकार किसी ने भी हथुआ राज को नाखुश करने की कोशिश नहीं की। एक लाख एकड़ अधिशेष भूमि पर हथुआ राज कब्जा जमाये हुए है और कोई उसका बाल बांका भी नहीं कर पा रहा है। स्पष्ट है कि इतनी बड़ी धोखाधड़ी कानून और सरकार को ठेंगा दिखाते हुए बिना बड़ी हस्तियों की सांठगांठ के संभव नहीं है। यह कुख्यात कांड राजस्व विभाग के अधिकारी, भूदान यज्ञ कमिटी के अधिकारी तथा हथुआ राज तीनों के अपवित्र गठबंधन और राज्य सरकार के संरक्षण में सम्पन्न किया गया है। ये तीनों हथुआ राज को खुश रखना चाहते हैं और हथुआ राज इन तीनों को खुश करता रहता है। मारे जा रहे हैं भूमिहीन जिनको यह जमीन कानूनी तरीके से मिल सकती थी।[8]

## बिहार विधान परिषद में इन्द्रदीप सिंह

बिहार में ग्राम-दान तूफान आंदोलन को लेकर संत विनोबा भावे 11 सितम्बर को आये और पता चला कि पिछले साढ़े तीन महीनों के इस राज्य के दौरे में उन्हें साढ़े तीन हजार गाँव दान में मिले हैं। इन गाँवों के प्रबन्ध और प्रशासन के लिए विधान मंडल में विधेयक प्रस्तुत हुआ था और दोनों सदनों में पारित भी हुआ।[9]

विधान परिषद में कम्युनिस्ट सदस्य श्री इन्द्रदीप सिंह ने ग्राम दान के सिलसिले में आर्डिनेंस जारी किये जाने पर एतराज जाहिर करते हुए बताया कि बहुत-सी ऐसी बाते हैं जिनका सम्बन्ध जनता के हित से है लेकिन सरकार ने इस पर आर्डिनेंस जारी नहीं किया। गत साल तरह-तरह के भीषण कांड इस राज्य में हुए। नफाखोरी-गल्लाचोरी हुई, साम्प्रदायिक दंगे हुए और तरह-तरह की गड़बड़ी हुई लेकिन इस समय सरकार ने कोई आर्डिनेंस जारी नहीं किया। आज देखा जाता है कि धड़ाधड़ जमीन सम्बन्धी बंटवारे चल रहे है और सरकार के सीलिंग (हदबंदी) को नाकामयाब करने की लगातार कोशिश चल रही लेकिन कभी भी सरकार ने आर्डिनेंस लगाने की आवश्यकता महसूस नहीं की।

## विनोबा का आदर्श और अमल

श्री इन्द्रदीप सिंह ने बताया जब आचार्य विनोबा भावे ने यह घोषणा की कि 'सर्व-भूमि गोपाल की' यानी दुनिया में जितनी जमीन है सब भगवान की है, तो हमलोगों को कुछ खुशी हुई कि इस घोषणा के द्वारा कम-से-कम विनोबाजी हमलोगों के आधे सिद्धांत को मानते हैं। अर्थात् वह जमीन पर जमींदारों का कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं मानते हैं। विनोबा जी ने भी अपने आदर्श को कई अवसरों पर स्पष्ट किया है कि उनके सिद्धान्त के मुताबिक धीरे-धीरे इस आन्दोलन के द्वारा आज जिन लोगों के हाथ में जमीन है, उनके हाथ से जमीन निकल कर उनलोगों के हाथ में चली जायगी जिनके पास जमीन नहीं है या बहुत ही कम है। हमलोगों ने उनसे कहा कि आप अगर इस तरह का आंदोलन चाहते हैं तो हमलोग उसका समर्थन करते हैं। लेकिन लेकिन उस दिशा में कोई खास प्रगति नहीं हुई। इस तरह का आन्दोलन बाहर से चलाया जाय तो हमलोग इसका समर्थन करेंगे। इसलिए नहीं कि इससे समस्या का समाधान होगा, बल्कि इसलिए कि जो गरीब हैं उनको आप जमीन दिलाना चाहते हैं। इसी दृष्टिकोण से ग्राम दान में कम्युनिस्ट पार्टी ने आंशिक समर्थन दिया है।[9]

### *विधेयक*

लेकिन जो विधेयक प्रस्तुत है, वह विनोबा जी के सिद्धांत का उल्लंघन है। इतना ही नहीं, जमीन के बारे में दूसरे जो कानून है उनका भी उल्लंघन है, और फिर कहा जाय कि भारतीय संविधान के अनुसार हमारे देश में जो शासन प्रणाली है उसके मूल सिद्धांत का भी यह उल्लंघन करता है।

विधेयक में कहा गया है कि गांव में 51 फीसदी जमीन के मालिक और 75 फीसदी व्यक्ति ग्राम दान पत्र पर हस्ताक्षर करेंगे। तो वह ग्राम दानी ग्राम कहलायेगा। अर्थात् उसमें यह कल्पना है कि 25 फीसदी जो बच जायेंगे, वे 49 फीसदी तक जमीन के मालिक होंगे। वे ही ग्रामदान आंदोलन में रोड़े लगा रहे हैं और जहां-जहां ग्रामदान में जमींदार और महाजन हैं, वही विरोधी है। वे ग्रामदान में आते नहीं, ग्रामदान हो जाने पर उसे असफल बनाने की चेष्टा करते हैं।[10]

### *ग्राम सभा कैसे काम करेगी ?*

विधेयक में कहा गया है कि जो दान-पत्र नहीं देंगे, बिगहा कट्ठा नहीं देंगे, मन-सेरा नहीं देंगे, ग्रामदान में कुछ भी कुर्बानी नहीं करेंगे वह भी ग्राम सभा के सदस्य होंगे। यह ग्राम सभा कैसे काम करेगी ? इस विधेयक में कहीं भी बहुमत से फैसले के आधार पर ग्राम सभा निर्मित होने की चर्चा नहीं है। एक जगह लिखा हुआ है कि ग्राम सभा का संचालन बहुमत के आधार पर नहीं बल्कि कहां-कहां होगा वह रुल (नियम) के द्वारा सरकार प्रिस्क्राइब करेगी (बनायेगी)। यह संविधान का उल्लंघन है। जो भी फैसला हो, बहुमत से होना चाहिए। कोई विरोध नहीं करे तो

अच्छी बात है। अगर मत मिलता है तो जो जनवादी पद्धति है वह लागू की जाय।[11]

### *सर्वसम्मति-सर्वानुमति*

ग्रामदान के एक संकल्प में लिखा हैं–''गाँवों के प्रत्येक परिवार से एक व्यक्ति को शामिल कर हम ग्राम सभा का गठन करते हैं। यह ग्राम सभा गाँव के सब लोगों की देखभाल करेगी। ग्राम सभा का संचालन सर्व-सम्मति से या सर्वानुमति से होगा।''

इसके बाद फुटनोट में लिखा है : ''सर्वसम्मति से'' का अर्थ सबकी राय से। जब लोग एकमत होकर निर्णय करते हैं, तो वह सर्वसम्मति से माना जाता है। ''सर्वसम्मति से माना जाता है। ''सर्वानुमति'' का अर्थ है सबकी अनुमति से या निर्विरोध। जब किसी निर्णय पर हमलोग एक मत नहीं होते, लेकिन अलग विचार करते हुए कोई विरोध नहीं करता तो वह निर्णय ''सर्वानुमति से'' माना जाता है।

इस विधेयक के अन्दर जो बातें है, उसके अनुसार इस निर्णय का अर्थ होगा कि गांवों के धनी लोग, जमीन रखनेवाले लोग, अथवा महाजन लोग जो ग्रामदान नहीं करेंगे वे भी ग्राम सभा के सदस्य होंगे। ऐसा एक व्यक्ति भी फैसला रोक सकता है। इस कानून में यह विशेष अधिकार ग्रामदान आन्दोलन के प्रतिकूल है।

खंड 16–ग्राम सभा का संचालन शीर्षक में लिखा है– ''ग्राम सभा और उसके समितियों का संचालन विनिमयों द्वारा विहित नीति से होगा और उन विनिमयों में वे मामले विनिर्दिष्ट रहेंगे जिनका विनिश्चय ग्राम सभा या उसकी समितियों को बहुमत के आधार पर करना है।''[12]

इसका अर्थ साफ है कि कुछ ही लोगों का निर्णय बहुमत से होगा। शेष का निर्णय सर्वसम्मत या सर्वानुमति से होगा। लेकिन इसकी व्यवस्था विधेयक में नहीं की गयी है। उसे अधिनियम के लिए छोड़ दिया गया है। साफ है कि अधिकतर काम सर्व सम्मति से या सर्वानुमति से होगा। इस प्रकार आपने विटो देने का अधिकार उन लोगों को दे दिया है जो लोग ग्रामदान के विरोध में हैं, जो ग्रामदान नहीं करते हैं।

बिहार के जमीन मालिकों ने बाबा को भूदान में खुलकर दान दिया। बलुआही, पथरीली और नदियों के पानी में पड़ी जमीन का उद्धार हो गया। जमीन दान की सार्वजनिक घोषणाएँ हो गई, दानदाता की उदारता का जयगान भी हुआ, सार्वजनिक प्रतिष्ठा भी मिली। कुछ ऐसी जमीनों का उद्धार हो गया जो झगड़े के बीच फंसी थी जिस पर केस मुकदमा चल रहा था उसका भी उद्धार हो गया। कुछ ने हजारों बीघे जमीन दान में दिया लेकिन आजतक उनका बंटवारा नहीं हो सका। सरकार ने हिम्मत तक नहीं जुटाई कि ऐसी जमीनों का बंटवारा करे। हथुआ राज द्वारा दी गई हजारों बीघे जमीन आज तक उन्हीं के पास है। बहुतों ने गैर मजरूआ खास और गैर मजरूआ आम जमीनों को भी दान में दे दिया जिसका सार्वजनिक उपयोग गांव के गरीब लोग करते थे।[13]

डॉ. लोहिया ने गांधीवादियों की तीन कोटियां बनायी थी – सरकारी, मठी और कुजात। सरकारी गांधीवादी कांग्रेसियों को कहते थे जो एम.एल.ए., एम.पी. और मंत्री गांधीजी के नाम पर बनते थे क्योंकि शुरू में जनता समझती थी कि आजादी का श्रेय गांधीजी और उनकी कांग्रेस पार्टी को है और वह कांग्रेस को अपना मत दे दिया करती थी। मठी उनको कहते थे जो गांधीजी द्वारा बनायी संस्थाओं में काम करते थे। सरकार उन्हें अनुदान दिया करती थी और वे मठों में रहनेवाले महंथो और साधुओं की तरह राज भोग करते थे। अपने और अपने तरह के सोशलिस्टों को जो गांधीजी के विचारों के प्रति इत्तफाक रखते थे – कुजात गांधीवादी कहते थे। विनोबा के चेले मठी गांधीवादी थे।

बिहार की सरकार ने भूदान यज्ञ कमिटी को जो भूदान में मिली जमीनों की देखरेख करते हैं और जमीनों का बंटवारा करते हैं और उनका हिसाब किताब रखते हैं–उसको सरकारी दर्जा दे रखा है। इसके सचिव को राज्यमंत्री का दर्जा हासिल है और वह लालबत्ती वाली गाड़ी में चलता है। भूदान यज्ञ कमिटी के नियमानुसार दानदाता से पूछा जाता है कि आप अपनी दान में दी गई जमीन को किसे देना चाहते हैं और वैसे लोग जिन नामों का सुझाव देते हैं–उसे ही जमीन दे दी जाती है।

जानकारों का यह भी कहना है कि यह कमिटी दो चार सालों के अन्तराल पर दानदाताओं से पूछती रहती है कि क्या आप अपने दान में दी गई जमीन को लौटाना चाहते हैं।

विचित्र विडम्बना है कि 55-56 वर्षों की इतनी बड़ी अवधि के बीत जाने के बावजूद आजतक भूदान यज्ञ में दान में मिली जमीन का आजतक बंटवारा नहीं हो सका।

## संदर्भ


1. जयप्रकाश नारायण, प्रिजन डायरी, पृ. 131.
2. पॉलिटिक्स ऑफ लैंड रिफार्म इन इंडिया–डी. ठाकुर।
3. वही, पृ. 17।
4. वही, पृ. 18।
5. वही, पृ. 19।
6. वही, पृ. 20।
7. वही, पृ. 20।
8. वही, पृ. 21।
9. जनशक्ति, रविवार, 2 जनवरी 1966, पृ. 3।
10. वही।
11. वही।
12. वही।
13. वही।

# पंचायतीराज एवं ग्रामीण महिला सशक्तिकरण : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

**राजीव नयन**

*शोधप्रज्ञ, राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।*

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का कहना था कि "सच्चा लोकतंत्र केन्द्र में बैठे हुए बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता। उसे प्रत्येक गाँव के लोगों को नीचे से चलाना होगा।" वे पंचायती राज संस्था के पक्षधर थे। उनका मानना था कि इसे सशक्त बनाकर तथा स्थानीय स्तर के ग्रामोद्योग को बढ़ावा देकर ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए जो स्वयं में आत्मनिर्भर हो तथा जिसमें आय एवं धन के वितरण की असमानताएँ कम से कम हो।

भारत के संविधान निर्माताओं ने गाँधी जी तथा 1948 में गाँधीवादी पी. के. सन्थानम के प्रस्तावित संशोधन को संविधान सभा ने स्वीकार करते हुए राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अर्न्तगत भारतीय संविधान के अनुच्छेद 40 में व्यवस्था दी कि "राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठायेगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत शासन की इकाईयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।" इसी कल्पना को साकार करते हुए तात्कालिक प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू 1959 राजस्थान के तथा तात्कालिक मुख्यमंत्री मोहन लाल सुखारिया के अध्यक्षता में राजस्थान के नागौर जिला में पंचायती राज की नींव रखी गई, फिर आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्रा, गुजरात आदि राज्यों में स्थापना की गई।

पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर सातवीं पंचवर्षीय योजना तक पंचायती राज संस्थाओं की स्थिति काफी कमजोर रही। वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य सरकारों की कृपा पर निर्भर रही, क्योंकि उन्हें संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था। तात्कालिक प्रधानमंत्री नरसिंहाराव के नेतृत्व में केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्री श्री वेंकट स्वामी ने संसद के पटल पर एक विधेयक रखा जिसे राष्ट्रपति द्वारा 24 मार्च 1993 को मंजूरी मिल गई। अत: संविधान में 73वाँ व 74वाँ संसोधन किया गया। संविधान के 73वें एवं 74वें संसोधन अधिनियम 1992 के फलस्वरूप भारतीय संविधान में भाग– 9 जोड़कर अनुच्छेद– 243 (क से ण) तक जोड़ते हुए पंचायती राज संस्थाओं को सवैधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया। देश में आधी आबादी महिलाओं की है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि उन्हें भी देश के विकास में पुरुषों के सामान भूमिका निभाने का अवसर मिलना चाहिए। इस संविधान संसोधन द्वारा एक ऐतिहासिक कदम

उठाया गया है क्योंकि इसमें महिलाओं के लिए एक-तिहाई सीटें भी आरक्षित की गई हैं। अब लगभग सभी राज्यों में पंचायतों के चुनाव हो चुके हैं और बड़ी संख्या में महिला प्रतिनिधि चुनकर आई है।

महिला सशक्तिकरण एक प्रक्रिया का नाम है जिसमें महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के प्रयासों का पुर्नवलन किया जाता है ताकि वे अपनी परम्परागत दब्बू प्रकृति के आवरण से बाहर निकलकर आत्मनिर्भर एवं स्वावलंबी बन सकें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि महिला सशक्तिकरण का तात्पर्य है सामाजिक सुविधाओं की उपलब्धता, राजनैतिक और आर्थिक नीति निर्धारण में भागीदारी, सामान कार्य के लिए सामान वेतन, कानून के तहत सुरक्षा और प्रजनन अधिकारों आदि को सम्मिलित किया जाता है। महिला सशक्तिकरण की शुरूआत संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा 8 मार्च 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस से माना जा सकता है। पुनः महिला सशक्तिकरण की पहल 1985 में महिला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नौरोबी में की गयी।

भारत ने भी महिला सशक्तिकरण के लिए अनेक कदम उठाये। 31, जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन हुआ। जिसके माध्यम से सदियों से बिछड़े, शोषित एवं उपेक्षित नारी वर्ग के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। वर्ष 2001 में भारत सरकार ने महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया तथा राष्ट्रीय महिला शक्ति सम्पन्नता नीति 2001 की घोषणा की।

बिहार पहला राज्य है जो सामाजिक एवं राजनीतिक में महिला सशक्तिकरण के लिए अग्रणीय है। बिहार पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं की सम्मानजनक भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए बिहार पंचायती राज अधिनियम 1993 को निरस्त करते हुए बिहार पंचायती राज अधिनियम 2006 को लागू किया गया। बिहार भी कुछ गिने-चुने राज्यों में से एक है जहाँ महिलाओं को पंचायत में 50 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई है। त्रि-स्तरीय पंचायतों के सभी कोटियों के पदों में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण देते हुए महिलाओं के लिए कुल 1,20, 258 आरक्षित पदों के लिए चुनाव कराया जा चुका है।

## पंचायती राज एवं ग्रामीण महिला

हमारे देश में 70% लोग गाँव में बसते हैं। गाँव के विकास तथा प्रगति में महिलाओं के सबल हाथ इसके प्रतीक हैं। चाहे परिवार हो, खेत-खलिहान का काम हो, सब में महिलाएँ कंधे से कंधे मिलाकर काम कर रही है। भारतीय प्रजातंत्र में ग्रामीण महिलाओं की भूमिका दिनोदिन सशक्त होती जा रही है। इस कार्य में पंचायती राज व्यवस्था ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। महिलाओं को राजनीतिक रूप से सबल बनाने हेतु सर्वप्रथम 1993 में 73वाँ एवं 74वाँ संविधान संसोधन द्वारा त्रि-स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं एवं स्थानीय निकायों में प्रत्येक स्तर पर महिला

सदस्यों के लिए एक तिहाई सीटें आरक्षित कर दी गई है। बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेश एवं उत्तराखंड में महिलाओं के लिए आरक्षण 50% कर दी गई है (सन्दर्भ : अमर उजाला सामाचार पत्र)। नि: सन्देह इस व्यवस्था से गाँव की पिछड़ी, दलित, गरीब एवं अनपढ़ औरत को राजनीतिक-सामाजिक सबलता मिली है।

देश भर में 9 लाख 35 हजार के लगभग महिला पंचायत प्रतिनिध हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि महिलाएँ राजनैतिक रूप से जागरूक हो रही है। पंचायती राज व्यवस्था के कारण ग्रामीण महिलाएँ निम्नलिखित रूप से सबल व सशक्तीकृत हो रही हैं।

- ग्रामीण महिलाओं के शिक्षा के क्षेत्र में विशेषकर बालिका की शिक्षा के रूप में महत्वपूर्ण योजनाएँ पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से चलाया जा रहा है।
- ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक सशक्तिकृत करने के लिए अनेक आर्थिक योजनाएँ पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से चलाया जा रहा है।
- पंचायती राज संगठनों से महिला विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने का अवसर मिला है।
- पंचायती राज के माध्यम से जनसंख्या नियंत्रण की दिशा में साकारात्मक परिणाम देखने को मिल रहा है।
- पंचायती राज के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं में राजनैतिक सहभागिता बढ़ी है।
- पंचायती राज के माध्यम से महिला कल्याण के क्षेत्र में सरकार की भूमिका काफी महत्वपूर्ण एवं निर्णायक सिद्ध हुई है।
- महिलाओं के सामाजिक एवं राजनैतिक सहभागिता के कारण उनके प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।
- महिलाओं के शोषण एवं उत्पीड़न में कमी दर्ज की गई है। कारण वे अपनी आवाज स्वयं उठा रही है।
- पंचायती राज संस्था में 33 प्रतिशत आरक्षण का मतलब ही यह है कि विकास में उनकी भागीदारी सुनिश्चित कर उनका उत्थान किया जाये।
- पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से स्वास्थ्य एवं पोषण हेतु ग्रामीण महिलाओं के लिए अनेक कार्यक्रम चलाये गये जिससे उनमें सबलता आयी है।

## निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों की उपलब्धियाँ

चुनाव लड़ने, निर्चाचित होने एवं राजनीतिक सहभागिता के अलावा महिलाओं ने दूसरे क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

- राजस्थान के अलवर जिला के निम्मुचाना गाँव की सरपंच कोयली देवी ने अपने ही ससुर एवं पति पर अधिसूचना जारी की कि वे बतायें कि पंचायत की जमीन हड़पने की वजह से उनके खिलाफ कार्ररवाई क्यों न की जाये?
- गोवा में महिलाओं को पौधों की नर्सरी के विकास तथा अच्छे तरीके के बीज तैयार करने का प्रशिक्षण दिया गया। इसी तरह कर्नाटक, तमिलनाडु, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में स्वयं सहायता समूह का महिलाओं द्वारा निर्माण।
- आन्ध्रप्रदेश के पश्चिम गोदावरी जिले में कम मजदूरी के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष काफी सफल रहा।
- रेवाड़ी ब्लॉक (हरियाणा) की महिला सरपंच ने अपने इलाके से शराब की दुकान हटवायी।
- हरियाणा के ही अन्य ब्लॉक के बेट्टा-पट्टी की ग्राम पंचायत की सरपंच ने वहाँ पानी की समस्या का समाधान करवाया।
- केरल के कोझीकोड जिले की महिलाओं ने जिले के पहाड़ी इलाका में पानी की समस्या हल करने का संगठित प्रयास किया।
- पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले के कुलतीक्री गाँव ने एक आल-वुमेन पंचायत निर्वाचित की। उड़ीसा की पहली ऑल वुमेन पंचायत सम्बलपुर जिले की किलसभा ग्राम पंचायत है। उसमें एक सरपंच के अलावा 16 वार्ड सदस्य हैं, जो सभी महिलाएँ हैं।
- बिहार के पूर्वी चम्पारण के डिन्जी भिरखिया-छिपुलिया गाँव की मुसहर जाति की महिला सरपंच गिरजा देवी को संयुक्त राष्ट्रसंघ के महिला विकास प्रकोष्ठ व सामाजिक मामलों के विभाग के 15वें सत्र भाषण देने के लिए न्यूयार्क आमंत्रित किया गया। गिरजा देवी ने भोजपुरी में भाषण दिया।
- दलितों विशेषकर महिलाओं के सशक्तिकरण में साकारात्मक भूमिका निभाने के लिए मधुबनी जिले की लखनौर पंचायत समिति की सदस्य तिलिया देवी को वर्ष 2006 के नोबेल शांति पुरस्कार के लिए नामित किया गया था।
- 24 जून 2006 को बिहार में सम्पन्न पंचायत चुनाव में कटिहार जिले की बलरामपुर प्रखंड की किरोरा ग्राम की हलिमा खातून ने पंचायत प्रमुख का चुनाव जीता। हलिमा अपने पेट पहले भीख माँगकर भरती थी। आदि।

ग्रामीण नारी सशक्तिकरण की वास्तविक उपलब्धि यह हो कि वह स्वयं पर विश्वास रखकर अपने नारीत्व पर गर्व करे। अपने शर्त्तों पर जिन्दगी जीने का उसमें साहस हो। उदाहरणस्वरूप आन्ध्रप्रदेश के छोटे से गाँव कलवा की सरपंच फातिमा बी जिसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की पूर्व महासचिव कोफी अन्नान ने पंचायत में महत्वपूर्ण काम करने के लिए स्वयं सम्मानित किया। गाँव गुआड़ा कालौल की मंजूरी बाई दो महीने तक अकेले काम करके दो बीघा जमीन में पोखरा खोदकर गाँव के जल संकट को दूर किया। अतः उसे गाँव वालों ने भागीरथी कह कर सम्मान दिया। स्वयं प्रधानमंत्री

मनमोहन सिंह ने राजधानी दिल्ली में पंचायती राज व्यवस्था पर आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन में कहा कि "पंचायती राज की सबसे बड़ी सफलता यही है कि इसने महिलाओं को राजनीतिक एवं सामाजिक सशक्तीकृत किया है।" केन्द्रीय पंचायती राज मंत्रालय ने मार्केटिंग एजेन्सी ए. सी. नेल्शन से एक सर्वेक्षण कराया। यह सर्वेक्षण निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों के सशक्तिकरण की ओर स्पष्ट संकेत करता है। महिलाओं का सशक्तिकरण हो रहा है लेकिन उन्हें आरक्षण का लाभ 10 या 15 साल तक दिया जाये तोराजनीतिक-सामाजिक क्रांति से गाँव की जनता की तकदीर एवं ग्रामीण विकास को एक नया चेहरा शीघ्र मिल सकता है।

बेशक पंचायती राज व्यवस्था ने महिलाओं के लिए न्यूनतम 33 प्रतिशत आरक्षण व्यवस्था लागू हुए डेढ़ दशक हो गए हैं लेकिन अभी तक स्त्री के पक्ष में पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता बदलने के लिए कानून शर्त्तिया इलाज साबित नही हुआ है। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि महिलाओं का सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से सशक्तिकरण होना है परन्तु अफसोस इस बात का है कि कुछ लोग अभी भी महिलाओं को पुरुष की कठपुतली मानते हैं। महिलाओं को आज भी घर की चारदीवारी से लेकर अफसर साही के समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। 30 प्रतिशत महिलाओं को पति या परिवार के विरोध का सामना करना पड़ रहा है, तो 39 प्रतिशत महिलाएँ दूसरे चुनाव में लड़ाने से कतराती है।

अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि पंचायती राज व्यवस्था ने ग्रामीण महिलाओं की प्रास्थिति एवं भूमिका में आमूलचूल परिवर्त्तन लाया, जिससे उनमें आत्मनिर्भरता बढ़ी है। ग्रामीण महिलाओं ने बढ़-चढ़कर राजनीतिक सहभागिता दिखायी है। विकास कार्य में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण सरकार ने दिया है जो सफल प्रतीत हो रहा है। वैसे भी महिलाओं के बिना पूर्ण विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। स्वामी विवेकानंद ने ठीक ही कहा है कि "स्त्रियों को सशक्तिकृत किए बिना विश्व कल्याण असंभव है, जैसे कि एक पंख से उड़ान भरना।"

## सन्दर्भ ग्रन्थ


1. श्रम एवं समाज कल्याण – 2007 – डॉ. प्रभात कुमार – पृष्ठ सं.– 592 से 601।
2. भारतीय महिलाएँ : दशा एवं दिशा – सुभाष शर्मा।
3. द चेंजिंग पोजीशन ऑफ इंडियन वूमेन – 2002 – एम. एन. श्रीनिवास – पृ. सं.– 283.287।
4. वुमेन्स इम्पलायमेंट एण्ड देअर फैमिलियल रोल इन इंडिया, इन सोशल स्ट्रक्चर एण्ड चेंज, भाग –2 – 1996 – नीरा देसाई – पृ. सं.– 101.109।
5. बिहार पंचायती राज अधीनियम – 2006 – लॉ पब्लिकेशन हाउस, पटना।
6. सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, बिहार, पटना – 2006।
7. बिहार दिग्दर्शिका– क्रॉनिकल बुक, नोएडा–पृ. सं.– 372. 377।
8. कुरुक्षेत्र, पंचायती राज विशेषांक, मई – 1997 एवं अगस्त– 2008।
9. प्रतियोगिता दर्पण – जून–2005 दिसम्बर–2005, मई–2007, अगस्त–2007 एवं सितम्बर–2008।

# पूर्व मध्यकालीन भारत में महिलाओं की स्थिति (लगभग 600 ई0 से 1200 ई0 तक)

**डॉ. चन्द्रिका साह**

*व्याख्याता पद पर कार्यरत, बी0 पी0 एस0 कॉलेज देसरी (वैशाली)*
*ऑनर्स (राजनीति विज्ञान), एम0 ए0, बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर*
*पी0एचडी, सिंगाही*

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रीयों का स्थान महत्वपूर्ण है। हिन्दू समाज में उसका सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदेशात्मक और मर्यादा युक्त था। उसकी अवस्था पुरूषों से सदृश्य थी। वह मनोकुल आत्मविकास और उत्थान कर सकती थी। उन्हे विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या, माँ तथा पत्नी के रूप में वे हिन्दू परिवार और समाज में आद्रत थी। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, बधु और माँ के रूप में किया जाने वाले योगदान सर्वदा महत्व और गौरव रहा है। धर्मशास्त्र में नारी सर्वशक्ति सम्पन्न मानी गई तथा विद्याशील, ममता, यश और सम्पत्ति के प्रतीक समझी गई। साम्राज्य के रूप में उसे प्रतिस्थापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उनके शासन में रहने के लिए निर्देशित किया गया। धीरे-धीरे समाज में उनका महत्व इतना अधिक बढ़ा कि उसके बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझ जाने लगा। इस प्रकार स्त्री पुरूष की शरीरार्द्ध और अर्द्धांगिनी मानी गई तथा 'श्र' और 'लक्ष्मी' के रूप में वह मनुष्य के जीवन में सुख और समृद्धि तथा पूजित करने वाली कही गई। उसका आगवन पुरुष के लिए शुभ सौरभमय और सम्मानजनक था जिसके सम्पर्क से उसका व्यक्तित्व मुखर और सान्नितविष्ठ हो उठता था।

परन्तु स्त्रीयों की स्थिति में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा हैं उनकी स्थिती में वैदिक युग से लेकर पूर्वमध्ययुग तक अनेक उतार चढ़ाव आता रहा तथा उनके अधिकारो में तदनुरूप परिवर्तन भी होते रहे है। यह ठीक है कि वैदिक युग में उनकी अवस्था अत्यन्त उन्नत थी परन्तु परवर्ती काल से उनकी दशा में परिवर्तन शुरू हो गया अवनति के रूप में वाढ़ समय तक चलता रहा। पुरूषों की तुलना में स्त्रीयों को समाज में श्रेयस्करसीन नहीं मिला बल्कि अपेक्षा कृत निम्न स्थान प्राप्त हुआ। जिसके प्रमुख कारण राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक संर्डीणता ही थी। इसके अतिरिक्त जैवकीय और मानसिक दोष की भी चर्चा की गई है जो पुरूषों के अपेक्षा स्त्रीयों में अधिक रहा है। कुछ पश्चात विद्वानों ने स्त्रीयों में ऐसे जन्मजात दोष माने जिसके कारण वे पुरूषों की तुलना मे हीन रही। साथ ही यह भी मत दिया गया है कि न्याय की मात्रा अधिकाधिक है। भारतीय विचारकों ने स्त्रीयों के प्रति आदर ही व्यक्त किया है तथा ''देवी'' और ''श्री'' का प्रतिक माना है।

हिन्दु सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह समान रूप से आद्धत और प्रतिष्ठित थी। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उसका महान योगदान था। वह स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करती थी और स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करती थी। पुरूषों की तुलना मे वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नहीं थी। नववधु, श्वसूर गृह की सामाग्री थी। पति के सभी कार्यो में सहयोग करती थी। सामाजिक और पारिवारिक सभी कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करती थी। उस युग में पत्नी ही गृह की परियोजना बनकर गृहणी बन गई। वैदिक काल में शिक्षा के क्षेत्र में उसका स्थान पुरूषों के समकक्ष था। शिक्षित कन्या हेतु विशेष अनुष्ठान का आयोजन किया जाता था। पुरूषों की तरह वह भी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत शिक्षित थे, वे विवाह योग्य उतम समझे जाते थे। कुछ ऐसी भी स्त्रीयाँ थी जो एक निष्ठता के साथ कही जाती थी। परन्तु इस काल में धीरे-धीरे वैदिक कर्मकाण्ड की जटीलता बढ़ती गई और यज्ञिक कार्यों में शुद्धता और पवित्रता के नाम पर आडम्वर बढ़ता गया फलस्वरूप कालान्तर में आकर स्त्रीयों को याज्ञिक कार्यो से अलग रखने का उपक्रम किया जाने लगा और उसे वैदित मंत्रों के उच्चारण के उपर्युक्त नही माना गया।

स्मृतियों और सुत्रों के काल आकर स्त्रीयों की स्थिति और दयनीय हो गई। जिससे वह नि:सहाय परतंत्र और निर्बल बन गई। उनपर अनेक प्रकार के बन्धन और प्रतिबन्धन लगायें गयें धर्म-शास्त्रकारों ने उसकी राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा वैयक्तिक आदि स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगायें। जन्म से मृत्यों तक उसे पुरूषों के नियंत्रण में रखने के लिए निर्देशित किया गया। कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियों में पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंमित और संरक्षित मानी गई। निश्चित ऐ प्रतिबन्ध उसकी पवित्रता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर आरोपित किये थे। जिसका प्रधान कारण विदेशियों के आक्रमण था। हर्षचरित में उल्लेख किया गया है कि किसी कन्या किसी अनाग वर से नेत्र और उसकी धरोहर है जिसका अक्षुण्ण प्रत्यर्षितक करना है। यह स्मृति उसके उन्नयनकाल में पिता के मन पर संताय और बोझ की तरह आयी है। अत: अभिभावक या पिता के लिए वह योवनारंभ के समय एक समस्या बनती गई। परन्तु गुप्तकाल मे कन्या शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शाक्तधर्म के प्रभाव के कारण उसे ''गौरी'' का रूप प्रदान किया गया लेकिन उसके शक्ति रूप को समझकर भी पिता उसके प्रति दायित्व के भाव से बोझिल और संतप्त होता रहा।

वाणभट ने स्त्रीयों के महत्व को इस प्रकार वर्णन किया कि ''देवी यशोवती'' ने देवी राज्य श्री ने उसी प्रकार गर्भ में धारण किया जिस प्रकार नारायण मूर्ति ने वसुधा में। परन्तु आलोच्य काल में आकर स्त्रीयों पर नियंत्रण और कठोर हो गयें और उस पर पुरूषों का एकाधिकार मान लिया गया। धर्म और सुरक्षा के नाम पर स्त्रीयों को सुरक्षित रखने के लिए अनेक स्थिति निरन्तर दयनीय होती गई। इस प्रकार अनेक प्रकार के बन्धनों के घेरे में उसका व्यक्तित्व काफी सिमट कर रह गया और फलत उसका विकास अवरूद्ध हो गया आलोच्य काल में उसके सारे अधिकार सीमित कर दी गई जैसा कि विज्ञानेश्वर ने शंख का उदाहरण देते हुए टिप्पणी की है कि वह घर

से बिना किसी को कहे और बिना चादर ओढ़े बाहर न जाए, तेजी से नही चले, बनीये, सन्यासी बैद्ध के अतिरिक्त किसी पुरुष से बात ने करें। अपनी नाभि खुली ने रखें, नाड़ी तक वस्त्र पहने, अपने स्तनों पर से कपड़ा न हटायें, मुँह के बिना न हँसे पति से घृणा न करें। वह घुर्त्त, वैश्या, अभिसारिणी, सन्यासी, जादू टोना, गुप्त विधियाँ करने वाली दु:शील स्त्रियों के साथ ने रहें। इसकी संगति करने से कुलगत स्त्रियों का चरित्र भ्रष्ट हो जाता हैं इस प्रकार अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगायें गये।

अलवरूनी भी लिखता है कि कन्या की अपेक्षा पुत्र का अधिक ध्यान रखा जाता था। स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी कि वालिकाओं के उपनयन में वैदिक मंत्र नहीं पढ़ना चाहिए। कालान्तर में शुद्रों की तरह वेदों के पढ़न-पाठन और यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से स्त्रीयों को वंचित रखा गया। वह केवल माता-पिता, भाई, बन्धुओं से ही अपने घर पर शिक्षा प्राप्त कर सकता है। परवर्ती भावकार, मेघातिथि, विश्वरूप और अपरार्क की भी यही व्यवस्था है। पूर्वमध्य काल तक आकर नारी शिक्षा अवरूद्ध हो चुका था किन्तु अभिजात वर्ग में सुसंस्कृत और सुवोध स्त्रियों की कमी नहीं थी। वह प्राकृत और संस्कृत भाषा में दक्ष होती थी। काव्य, संगीत, नृत्य, वाद और चित्रकला मे भी प्रवीण होती थी। राज्य श्री के लिए बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है कि वह नृत्यगीत आदि में विदग्घ सखियों के साथ सकल कलाओं का प्रतिदिन अधिकालिक पश्चिय प्राप्त करती हुई शैन-शैन बद रही थी। गाथा सप्तशती से अनेक विदषी स्त्रियों का पता चलता है कि रेखा, शोध, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, ब्रह्मवही शमिप्रभा जैसी कवयित्री अपनी प्रतिभा और कल्याण शक्ति के लिए विख्यात थी। मंडन मिश्र और शंकर के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मंडन मिश्र की विद्वषी थी जो तर्क मीमंसा, वेदान्त और साहित्य में पूर्ण परोगत थी।

यद्यपि विधवा को सम्पति में अधिकार माना गया है। लेकिन वैदिक संहिता और ब्रह्ममण के सम्पति के अधिकार को समाज में स्वीकृति मिली तथा पति के मृत्यु के उपरान्त प्राय: विधवा की सम्पति की उत्तराधिकारी होती थी। जोतम ने सपिंडों गोत्रियों और सम्बन्धियों के साथ विधवा के समान भाग को माना है। विष्णु का भी मत था कि पुत्रों को अयोग्य होने पर सम्पति की उत्तराधिकारी होती थी। गौतम ने सपिंडों गोत्रियों और सम्बन्धियों के साथ विधवा के समान भाग को माना है। विष्णु का भी मत था कि पुत्रों को अयोग्य होने पर सम्पति की उत्तराधिकारणी विधवा होती थी। इसके अलावे अधिकांश हिन्दु व्यवस्थाकारों में स्त्रीधन को नारी की विभिन्न सम्पति का उल्लेख किया। भाव्यकार विज्ञनेश्वर ने छह प्रकार स्त्री धन बताया है-पिता,भ्राता और पति द्वारा दिया हुआ विवाह के समय कन्यादान के साथ प्राप्त वृथा अधिवन्दन के निर्मित मिला हुआ धन। इसके अलावे विवाह हाने के वाद सास-श्वसूर आदि जो धन प्राप्त होता था वह स्त्री धन था। सम्पति विभाजन के समय पत्नी या माता का पुत्र के समान अंश, भाइयों के अंश के चतुर्थांश आदि सभी धन के अन्तर्गत उल्लेख किया गया है। काव्यायन के अनुसार वह अपना सम्पति की बिक्री या दान कर सकता है। स्त्रीयों को गणिकाभिषेक हुआ करता था। उस काल में रूपवती और सालवती दो नर्त्तककी थी जिसको गणिकाभिषेक हुआ। इसे राज्य की ओर से आदर और सम्मान

प्राप्त था। इसलिए इन महिलाओं का समाजन में सर्वोच्य स्थान था। इनका रहन-सहन राजसी और ऐश्वर्य युक्त होता था। गणिकाएँ राजकीय महोत्सव में राजा और प्रजा को संगीत से प्रसन्न कराना था। इसके अलावे नारियों में एक वर्ग देवदासियों के रूप में उत्पन्न हुआ जो मन्दिरा की सेवा करने से सम्बन्धित था। भारत में जब देव मन्दिरों का निर्माण हुआ तो उनके वैभव और ऐश्वर्य को प्रभाव युक्त करने के लिए अनेक नियोजना हुए और अराध देव के सामने नृत्य गान करने के लिए सुन्दरियाँ हो जो अपने आर्कषण और सुन्दर कार्यक्रम से देवमन्दिर को गुंजायमान किये रहें।

**सती प्रथा :-** विधवाओं को हिन्दु समाज में शुद्ध और पवित्र जीवन जीने के लिए कुछ नियम बनाये गये जिसका पालन करना आवश्यक बताया गया। इसके सम्बन्ध में हरित का मन है कि सभी जिह्वा, हस्त, पाद। स्त्रियाँ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, स्वाचारजती होकर दिन रात पति का अनुशोचन करती हुई, शान्त रहकर जीवन के अन्त में पतिलोक का विजय करती और पुनः पति वियोग को प्राप्त नहिं होती।

दुसरा, विधवा अपने मृत पति के साथ चित्ता में मरना। जैसाकि मिंश्र के पिरामिड युग प्रसिद्ध है जिसमें प्राचीन मिश्र के मृत राजाओ के साथ उनकी प्रिय जीवितरानियाँ और परियाचिकाएँ आदि को विभिन्न प्रकार के सामग्रीयो के साथ दफना दी जाती थी ताकि मृत आत्माएँ दूसरे लोक में भी शुख समृद्धि के साथ रहे। भारत में इस प्रथा की शुरूआत चौथी सदी, ई. पू. के बाद हुआ। इस प्रथा का उल्लेख महाभारत काव्य और रामायण में मिलता है। महाराजा पाण्डु के मृत्यु होने पर उनकी पत्नी माद्री ने अन्वारोहन किया था। पुरान में भी सती प्रथा के अनेक प्रसंग विधमान हैं। श्री कृष्ण की मृत्यु होने पर रूकमिणी आदि उनकी पत्नीयाँ उनके मृत शरीर का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश किया था। यह प्रथा जन-साधारण भी अपनाने लगी।

जहाँ एक ओर कुछ शास्त्रकारों ने सती प्रथा का समर्थन किया वही कुछ ने इस प्रथा का विरोध किया। मध्यकालीन टीकाकार मेघातिथि ने इस प्रथा का विरोध किया और कहा यह एक आत्महत्या है जो स्त्रियो के लिए पूर्णतः निषिद्ध है। वेद में येनेनाभिचरन यजेत पाया जाता। फिर भी यह धर्म नही समझा जाता है अपितु अधर्म देवशण भट्ट ने इस प्रथा का कटू आलोचन करते हुए विचार व्यक्त किया है कि सती प्रथा होना विधवा के ब्रहमचारिणी रहने के अपेक्षा अधिक अधन्य है। महाकवि बाण भट्ट ने भी इस प्रथा का कड़ा विरोध किया। महानिर्वाण तंत्र के अनुसार मोह के वशीभूत होकर चिन्ता रोहन करने वाली नारी नरकगामिनी होती है।

***परदा प्रथा :-***भारत में परदा प्रथा का प्रचलन था लेकिन इसका प्रारम्भ कब से हुआ विद्वानो में गम्भीर विषय बना हुआ है। फाइमेन खान यॉग और ईत्सिग जैसे पूर्व मध्यकालीन चीनी लेखको ने अपने आखो देखा वर्णन में इस प्रथा का कहीं जिक्र नही किया है। बृहत कथामंजरी और कथासरित्सागर जैसी।। की सदी के कथा साहित्य में स्त्रियो के परदा प्रथा का कहीं स्पष्ट संकेत नहीं है बल्कि कथासरितसागर में उल्लेखित रत्नप्रभा नामक नारी ने इसका विरोध किया है। फिर राजतंरगिनी से भी इस प्रथा का संर्दभ नहीं मिलता है। 10वीं सदी के अरब लेखक अवजैदा ने कहा है

कि उसके समय में भारतीय नरियाँ बिना परदा के राजसभा में उपस्थित होती थी। 12वीं सदी तक के ऐतिहासिक साहित्य में परदा प्रथा का कही कोई जीक्र नही मिलता है। पूर्वमध्य युग परदा प्रथा चाहे उच्च समुदाय और राज परिवार में भले ही रहा हो लेकिन जनसाधारण में इसका पूर्ण प्रचलन नहीं था। ऐसा प्रतित होता है कि 12वीं सदी के बाद इस प्रथा का प्रचलन हुआ होगा। जब भारतीय समाज में नारीयो की सुरक्षा की दृष्टि से इस प्रथा का प्रचलन हुआ होगा। क्योकि विदेशी आक्रमणकारी धन लोलुप के साथ सुन्दर नारियो के सुन्दरता पर अधिक पड़ती थी।

उपरोक्त विवरण में नारियों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक उनके स्थिति में काफी उतराव चढ़ाव आता रहा। जिसके फसलस्वरूप स्त्रियों के अधिकारो में तदनुरूप परिवर्तन भी होते रहा। यह ठीक है कि वैदिकयुग में उनकी स्थिति काफी उन्नत थी और पुरूषों के समान समाज में स्थान था परन्तु परवर्ती काल (स्मृति और सुत्रों काल) में उनकी स्थिति में काफी ह्रास हुआ। पुरूषो के तुलना में स्त्रीयो को समाज में निम्न स्थान प्राप्त हुआ जिसका मुख्य कारण, विदेशी आक्रमण, जैविक और मानसिक दोष आदि रहा है। फिर भी समाज में नारी को देवी और श्री के रूप में आदत और सम्मान्ति थी।

## संदर्भ


1. अथर्ववेद 14.14
2. श. व्रा., 5.2.1.10. मनु 9.45
   एतावानेव पुरूषो यज्जायाडडव्मा प्रजोति ह।विप्राः प्राहुस्तथा चैतधो भर्ता स स्मृतांगना।।
3. महाभारत आर्दपर्व 74.44 वृहस्पति 25.11 अपरार्क, 7.40
4. वृहतसंहिता 74.5, 5.11.15-16 मनु 9.26
   प्रजानार्थ महाभाग, पूजार्हा गुहदीप्तया। स्त्रियः श्रेयश्य न विशेषोडस्ति कश्चन।।
5. वेदव्यास स्मृति 2.14
   यावन्न विन्दते जाया तावदर्दो भवेत पुमान।
   नार्द प्रजायते सर्व पुजायेतेव्याति श्रुति।।
6. फायड इग्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-एनालिसिस, पृष्ट 134
7. ऋगदेव 10.85.48 सम्राज्ञी स्वसूरे भव सम्राज्ञी आर्धकेषु।
8. अर्थववेद, 11.5.18 शुक्ल यजुर्वेद 8.1
9. मनु0 9.3
   पिता रलित कौमरी भती राक्षित यौवने। राक्षित स्थाविए पुया न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति।।
10. हर्षचरित, 4 (2.31) 5
11. निताक्षरा, याज्ञ0 2.148, 1.87, मेघातिथि, मनु0 5.147, कुल्लुक, मनु0 5.147
12. व्यास, 2.21, ग्यारवी सदी का भारत, पृष्त 154
13. हर्षचरित, 4.230
    अर्थ राज्यश्रीरपि नृत्यगीता दिघु विदग्घासु सखीबु सकलासु
    कलासुघ प्रतिदिन नुपचीयमान परिचया शनैः शनैः अवर्द्धत
14. शखं का उदाहरण, कृत्यकल्पतरू, व्यवहारकाण्ड, प्रवट 632
15. कुमारसंभव 4.33,35,36,45

# भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक सामाजिक समस्या : समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. चित्रगुप्त बरियाल

*पी. एच. डी., सामाजशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

## सारांश

बेरोजगारी मनुष्य के आत्मविश्वास को समाप्त करता है तथा उसमें हीनता को जन्म देती है। बेरोजगार व्यक्ति का सोच निराशावादी हो जाता है और उसके मन में समाज के प्रति आक्रोश उत्पन्न होने लगता है, यही आक्रोश समाजिक असंतोष का कारण बनता है। इससे बेरोजगार व्यक्ति लूटपाट, चोरी-डकैती, हत्या, फिरौती के लिए अपहरण जैसे अपराधों की ओर कदम बढ़ा देते हैं। कुछ लोग भिक्षावृति एवं वेश्यावृति जैसे अमानवीय वृत्ति तक अपना लेते है। बरोजगारी अपने-आप में व्यक्ति के लिए एक तरह का अभिशाप और समाज के लिए विधटन का एक कारक है, लेकिन इसका गहरा रिश्ता गरीबी, जनसंख्या वृद्धि अपराध, उत्प्रवास, शिक्षा आदि से भी है। प्रस्तुत शोध पत्र के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या है। जिसके निदान के बिना भारत के सामाजिक विकास की कल्पना संभव नहीं है। अत: इस शोध-पत्र में इसके निदान का प्रयास किया गया है।

## परिचय

योग्यता प्राप्त सक्षम युवाओं कि वह जमात जो कार्य करने की इच्छुक तो है किन्तु काम की अनुपलब्धता की वजह से बेकार बैठी है, वह बेरोजगार की श्रेणी में आएगा। किसी भी देश के लिए बेरोजगार एक भयंकर समस्या हैं। बेरोजगारी से आशय उस व्यवस्था है, जिससे एक व्यक्ति कोई काम करने के लिए इच्छुक है लेकिन उसे काम करने के अवसर उपलब्ध नहीं होते। बेरोजगारी का सबसे बुरा पक्ष सामाजिक है। यह मनुष्य के आत्मविश्वास को समाप्त करती है तथा उसमें हीनता को जन्म देती है। बेरोजगार व्यक्ति की सोच निराशावादी हो जाती है और उसके मन में समाज के प्रति आक्रोश उत्पन्न होने लगता है। यही आक्रोश सामाजिक असंतोष का कारण बनता है। बेरोजगारी को अनेक रूप में वर्गीकृत किया गया है

(1) चक्रीय बेरोजगारी :- इस प्रकार की बेरोजगारी का कारण व्यापारिक क्रियाओं में शिथिलता अथवा मंदी का आना है, इस प्रकार की बेरोजगारी विशेष रूप से विकसित देशों में पायी जाती है। इसकी प्रवृति अस्थायी होती है।

(2) मौसमी बेरोजगारी :- मौसम में परिवर्त्तन होने के कारण वस्तुओं की मांग और पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण मौसम बेरोजगारी दृष्टिगत होती है। सामान्यत: मौसमी बेरोजगारी कृषि व्यवसाय से जुड़ी होती है। कृषि व्यवसाय में श्रमिक वर्ष के 4-5 महीने बेरोजगार रहता है। मौसम बेरोजगारी उन उद्योगों में भी पायी जाती है, जिनमें कच्चा माल कृषि क्षेत्र से प्राप्त होता है।

(3) संरचनात्मक बेरोजगारी :- संरचनात्मक बेरोजगारी देश के पिछड़ेपन तथा गिरे हुए आर्थिक विकास के स्तर का परिमाण है। पूँजीगत साधनों के अभाव में उद्योग तथा व्यवसायों की स्थापना नहीं हो पाती, रोजगार के नये अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते और इस कारण श्रम शक्ति के एक बड़े भाग को बेरोजगार रहना पड़ता है।

(4) प्रच्छन्न बेराजगारी:- इसे अल्पबेरोजगारी की अवस्था भी कहते है। जब किसी व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हो तो बाहर से तो सभी श्रमिक काम में लगे दिखलायी देते है लेकिन इनमें से काफी श्रमिक बेरोजगारी की अवस्था में होतें है। प्रच्छन्न बेरोजगारी प्रमुख रूप से कृषि व्यवसाय में देखने को मिलती है।

इस तरह उपरोक्त सारे बेरोजगारी का प्रकार है। वस्तुत: बेरोजगारी अपने आप में व्यक्ति के लिए विघटन का एक कारक है लेकिन इसका गहरा रिश्ता गरीबी, जनसंख्या वृद्धि, अपराध उत्प्रवास, शिक्षा आदि में भी है।

## शोध-पत्र के प्रमुख उद्देश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक सामाजिक समस्या : समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रमुख उद्धेश्य निम्नलिखित इस प्रकार है।

(1) भारत में बेरोजगारों की स्थिति का पता लगाना।

(2) बेरोजगोरी के प्रमुख कारण कौन-कौन से है, उसपर प्रकाश डाला गया है।

(3) भारत में बेरोजगारी को बढ़ावा देने वाले तत्वों की पहचान किया गया हैं

(4) बेरोजगारी से उत्पन्न सामाजिक विघटन का पता लगाया गया है।

(5) युवाओं में इस कारण से कितना असंतोष उत्पन्न हुए है, उसका पता लगाया गया है।

(6) बेरोजगारी की समस्या को कम या समाप्त करने के सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठनों के प्रयासों पर प्रकाश डाला गया है।

(7) महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम की महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डाला गया हैं।

## शोध की उपकल्पनाएं

प्रस्तुत शोध भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक सामाजिक समस्या : समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रमुख उपकल्पनाएं निम्न इस प्रकार हैं -

(1) भारत में बेरोजगारी के स्वरूप अलग-अलग है।
(2) भारत में शहरों की अपेक्षा गाँवों मे बेरोजगारी अधिक है।
(3) भारत में अर्द्ध-बेरोजगारी अधिक पाई जाती है।
(4) पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं में काम की कमी पाई जाती हैं।
(5) बेरोजगारी हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य, आई. टी. आदि का अभाव महत्वपूर्ण है।
(6) सरकारी प्रयास सही दिशा में नहीं किए जाते है।
(7) बेरोजगारी के कारण बेहतर प्रबंधन का अभाव भी है।

## अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत मुख्यत: द्वितीयक आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। क्योंकि जिन विषय पर मेरा शोध है, उसके लिए क्षेत्र अध्ययन महत्वपूर्ण नही प्रतीत होता है। अध्ययन का क्षेत्र सम्पूर्ण भारत होने के कारण केवल सांख्यकिय आंकड़ों के विश्लेषणों द्वारा निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है। श्रोतों के रूप में विभिन्न पुस्तकालयों, पत्र-पत्रिकाओं, शोध-पत्र, उचित पुस्तकों का अध्ययन किया गया है।

### *विश्लेषण*

भारत में योजनाकाल में ढेर सारे प्रयासों के बाबजूद बेरोजगारी पर काबू नहीं पाया जा सका है। भारत जैसे विकासशील देशों में बेरोजगारों के सटीक आंकड़े उपलब्ध नहीं है। दस वर्ष में एक बार पूरे देश में होने वाली जनगणना के आंकड़ों के आधार पर काम करने वाली जनसंख्या का राज्यवार विवरण अवश्य उपलब्ध है, लेकिन ये ऑकड़ें भी जारी होते-होते पुराने पड़ जाते है उनके आधार पर काम न करने वाली जनसंख्या जिसमें बच्चे तथा घरेलू महिलाएँ भी सम्मलित है। के विषय में अनुमान भर लगाया जा सकता हैं। बेरोजगारी से सम्बन्धित आंकड़ों के लिए भारतीय परिस्थितियों में शोधकर्त्ता प्राय: रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत अभ्यथियों की संख्या एवं राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) द्वारा समय-समय पर किए गए सर्वेक्षणों पर निर्भर करते है। देश में स्थित रोजगार कार्यालयो में पंजीकृत, बेरोजगारों के विषय में आंकड़े प्राप्त किए जा सकते हैं, कि देश में वे रोजगारों की संख्या कम हो जाने के कारण पंजीकृत बेरोजगार कम हुए है बल्कि वास्तविकता यह है कि रोजगार कार्यालयों द्वारा बेरोजगारों को समुचित मात्रा में रोजगार उपलब्ध नहीं कराये जा सकने के फलस्वरूप अभ्यर्थी रोजगार कार्यालयों में अपना नाम दर्ज कराना आवश्यक नहीं समझते। वर्ष 2000 और 2001 में अभी तक के सबसे कम लोगों को अर्थात क्रमश: 1.77 लाख तथा 1.69 लाख लोगों को ही रोजगार उपलब्ध कराया जा सका है जो पिछले वर्षो की तुलना में काफी कम रहा है।

## बढ़ती बेरोजगारी के कारण

भारत में बढ़ती बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्न हैं–
(1) नये रोजगार अवसरों को अपर्याप्त निर्माण, ऐसी अर्थव्यवस्था जहाँ की भूमि

पर जनसंख्या का भार पहले से ही बहुत अधिक है, वहाँ नये रोजगार के अवसरों के उत्पन्न करने का दायित्व सहायक एवं सेवा क्षेत्र पर होना चाहिए। यदि उद्योग एवं सेवा क्षेत्र अपने इस दायित्व को पूरा करने में असमर्थ रहते है तो बेरोजगारी बढ़ती है अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रच्छन्न बेरोजगारी उत्पन्न होती है।

(2) कृषि क्षेत्र में धीमा विकास, कृषि क्षेत्र का विकास बहुत धीमा रहा है। यह क्षेत्र विकसशील अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ

**निम्न तालिका में उपलब्ध है**

**रोजगार कार्यालयों में दर्ज बेरोजगारों में बढ़ोत्तरी (हजार में)**

| *वर्ष* | *रोजगार कार्यालयों की कुल संख्या* | *पंजीकृत बेरोजगार* | *रोजगार प्रदत्त* | *चालू रजिस्टर में पंजीकृत आवेदक* |
|---|---|---|---|---|
| 1991 | 854 | 6235.9 | 253.0 | 36299.7 |
| 1992 | 860 | 5300.6 | 238.7 | 36758.4 |
| 1993 | 887 | 5532.2 | 231.4 | 36275.5 |
| 1994 | 891 | 5927.3 | 204.9 | 36691.5 |
| 1995 | 895 | 5858.1 | 214.9 | 36742.3 |
| 1996 | 914 | 5872.4 | 233.0 | 37429.6 |
| 1997 | 934 | 6322.0 | 275.0 | 39139.9 |
| 1998 | 945 | 5825.0 | 233.3 | 40089.6 |
| 1999 | 955 | 5966.0 | 221.3 | 40371.1 |
| 2000 | 958 | 6041.9 | 177.7 | 31343.6 |
| 2001 | 938 | 5552.9 | 169.2 | 41995.9 |

इन आंकड़ों को देखने में पता चलता है कि देश में वर्ष 1997 के बाद से अब तक सामान्यतया रोजगार कार्यालयों में बेरोजगारों ने अपनी आमद कम की है। वर्ष 1997 में जहाँ 63.22 लाख लोग रोजगार कार्यालयों में दर्जे थे, वही वर्ष 1998 में 58.52 लाख तथा 1999 में 59.66 लाख लोग दर्जे थें। वर्ष 2000 में इनकी संख्या में मामूली सी वृद्धि हुई और यह संख्या बढ़कर 60.41 लाख तक पहुँची, लेकिन पुन: वर्ष 2001 में इनकी संख्या 55.52 लाख रह गयी। हालांकि इसमें यह तात्पर्य नहीं ही गाँवों के पास सेवा क्षेत्रों का विकास हो सका है। योजना काल में कृषि एवं उद्योगों में ऐसी तकनीकी का विकास नहीं हो सका, जिससे उत्पादन में श्रम शक्ति का अधिक उपयोग किया जा सकें।

## बेरोजगारी से उत्पन्न समस्याएं

बेरोजगारी अनेक समस्याएँ उत्पन्न करती है जो निम्न है:-

(1) आत्महत्या की ओर प्रवृत युवा: सम्पूर्ण परिदृश्य को भयावह शक्ल देने में इस परिणाम में अहम भूमिका निभायी है। संकुचित साधनों व महात्वाकांक्षा से उपजी हताशा ने अन्तमुर्खी युवाओं को खासतौर पर इस ओर धकेला है। सामाजिक भ्रष्ट्राचार जातिगत भेदभाव-राजनैतिक अक्षमता आदि इसमें उत्प्रेरक का काम करते है।

(2) समाज में आपराधिक घटनाओ मे वृद्धि : महात्वाकांक्षाएँ, आवश्यकताएँ भौतिक सुख की प्राप्ति वे कारण है जिसके लिए धन चाहिए और प्रप्ति हर हाल में कैसे भी हो। सब कुछ तुरन्त पाने की प्रवल इच्छा के कारण युवा बेरोजगार चोरी-डकैती, अपहरण, फिरौती, हत्या जैसे अपराधों में संलग्न हो रहें है और अपराधिक धटनाओं में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। कृषि क्षेत्र में उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा है। इसीलिए कृषि क्षेत्र में रोजगार के बहुत कम अवसर उपलब्ध होते है और अकसर इसमें मौसम एवं प्रच्छन्न बेरोजगार पायी जाती है।

(3) दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली : भारत में बढ़ती हुई बेरोजगारी के लिए शिक्षा प्रणाली भी बहुत अधिक सीमा तक जिम्मेदार है। बर्षो तक स्कूलों एवं कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत जब विद्यार्थी सामाजिक जीवन में प्रवेश करते है तो उनमें तकनीकी ज्ञान, व्यवसायिक प्रशिक्षण आदि का अभाव रहता है। वो आधुनिक जटिल उत्पादन प्रणाली में कार्य करने के लिए अनिवार्य विशेषतायें हैं, अत: वे वहाँ पिछड़ जाते हैं। भारत में अभी भी शिक्षा का पारम्परिक ढ़ांचा विद्यमान है, जो कि किसी भी दृष्टि से रोजगारोन्मुख नहीं है।

(4) दोषपूर्ण आर्थिक आयोजन: भारत में दोषपूर्ण आर्थिक आयोजन भी रोजगार के अवसरों की वृद्धि में एक बड़ी बाधा बना हुआ है। देश में तेज गति से आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित आधारभूत ढाँचे का अभी तक विकास नहीं हो सका है। विभिन्न योजनाओं में शहरों की ओर प्रवजन को नहीं रोका जा सका है

(5) युवाओं में बढती नशाखोरी की प्रवृति: बेरोजगारी लोगों को मानसिक अवसाद बढाती है। अवसाद के क्षणों से मुक्ति पाने के लिए में युवा वर्ग अच्छी तादाद में नशा की ओर प्रवृत हो रहे है। बेरोजगारी में पकड़ाए नशें ने समाज का जुझारूपन छीन कर उसे पलायनवादी बनाने का कार्य किया है।

(6) आगामी समाज के हर क्षेत्र को व्यापक नुकसान : अपराध, नशाखोरी, मानसिक अवसाद आदि का असर समाज के हर क्षेत्र में दिखने लगा है। सांस्कृतिक, शैक्षणिक, औद्योगिक, संरचनात्मक आदि तमाम क्षेत्रों को अक्षम नेतृत्व भविष्य में इन्हीं कारणों से मिलने वाली है जिसके मूल में आज बेरोजगारी एक अहम कारण है।

## बेरोजगारी दूर करने के उपाय

बेरोजगारी जो सामाजिक कलंक है को दूर करने के लिए अनेक उपाय किया जाना चाहिए-

(1) आर्थिक विकास की गति तेज करना: बेरोजगारी की समस्या के स्थायी समाधान के लिए समूचित आर्थिक विकास और उसकी तेज गति का होना आवश्यक है

(2) जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण : भारत में जनसंख्या का बहुत बड़ा दबाब है। प्रतिवर्ष लांखों की संख्या में लोग श्रमशक्ति में सम्मलित हो रहे है। साधन की कमी के कारण श्रमशक्ति में आने वाले सभी लोगों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना संभव नहीं है। इसलिए जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण हो।

(3) लधु उद्योगों के विकास पर जोर : लघु और कुटीर उद्योगों में रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना चाहिए। लधु उद्योग की स्थापना देश के कोने-कोने में किया जाना चाहिए।

(4) श्रमप्रधान युक्तियों को प्रोत्साहन: आधुनिक आर्थिक क्रियाओं, जैसें- उत्पादन, वितरण, वाणिज्य-व्यापार, सेवा आदि कई क्षेत्रों में श्रम -बचत युक्तियों का व्यापक प्रयोग होता रहा है। स्वचालित मशीनों तथा कम्प्यूटरों के आविष्कार से तो इन सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए है। बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए देश में आर्थिक क्रियाकलाप में श्रम प्रधान युक्तियों को ही अधिक से अधिक प्रयोग में लाना चाहिए।

(5) कार्योन्मुख प्रशिक्षण की सुविधाएँ: भारत में बेरोजगारी की समस्या के प्रभावी और स्थायी समाधान के लिए स्वनियोजन को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। स्वनियोजन में वृद्धि के लिए उद्यमी यवकों को उपयुक्त व्यवसायों और शिल्पों में प्रशिक्षण देने की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए।

जातीय आधार पर मजदूरों का विवरण:-

| | *पुरुष* | | *महिला* | | *कुलयोग* |
|---|---|---|---|---|---|
| *जति* | *संख्या* | *प्रतिशत* | *संख्या* | *प्रतिशत* | *संख्या* |
| हरिजन | 60 | 40 | 49 | 83 | 109 |
| यादव | 43 | 29 | 59 | 33 | 102 |
| मुस्लिम | 47 | 31 | 42 | 28 | 89 |
| योग | 150 | 100 | 150 | 100 | 300 |

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि हरिजन पुरूषों में मजदूरों की संख्या अधिक है, और उसमें खासकर महिलाओं की संख्या और भी अधिक है।

जनसंख्या, श्रम शक्ति और रोजगार की वृद्धि दरः-

| *अवधि* | *जनसंख्या वृद्धि दर प्रतिशत* | *श्रम-शक्ति वृद्धि दर प्रतिशत* | *रोजगार की वृद्धि दर प्रतिशत* |
|---|---|---|---|
| 1977-1978 | 2.27 | 2.94 | 2.73 |
| 1978-1983 | 2.19 | 2.09 | 2.17 |
| 1983-1988 | 2.14 | 1.74 | 1.54 |
| 1988-1994 | 2.10 | 2.29 | 2.43 |
| 1994-2000 | 1.93 | 1.03 | 1.75 |
| 2000-2008 | 1.95 | 1.08 | 1.85 |

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि हो रही है त्यों-त्यों बेरोजगारी की समस्या बढ़ती जा रही है।

## निष्कर्ष

उपरोक्त सभी तथ्यों के अवलोकनोपरांत कहा जा सकता है, कि बेरोजगारी का बढ़ता भयावह स्वरूप समाज के लिए कंलक बन गया है। बेरोजगारी का आलम यह है कि कुल आबादी का लगभग पैंतालीस प्रतिशत युवा घोर हताशा व निराशा के माहौल में जी रहा है। कई जगहों से ऐसे युवाओं द्वारा आए दिन आत्म हत्या कर लिए जाने की खबरें आ रही है। कुंठित मन तमाम मानसिक रोगों को प्रकाश दे रहे है, जो आने वाली नस्लों को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही हैं। इस तरह रोजगार हीनता की स्थिति ने विचारणीय हालत तो बना दिया है किन्तु रोजगार उत्पन्न करने की क्षमता हम सब को मिलकर करनी होगी, वैकल्पिक उद्यमों की ओर मुड़ना होगा, लचीले लक्ष्य रखने होगें, सीखने की प्रवृति डालनी होगी, रूढ़िवादी सोचे हटानी होगी। और इन तमाम उपायों को अपनाकर ही हम बेरोजगारी रूपी सामाजिक कंलक से मुक्ति पा सकेगें।

## संदर्भ-ग्रन्थ सूची


(1) A.N Agrwal – India Economy – Problems of Development and Planing willey Eastern Ltd, New Delhi-1983.

(2) Mihir Shar – 'NREGA; A Historic opportunity"Economic and Political weekly" December – 2004, P,-5287

(3) National Sample Survey, 55th Round 2007-2008.

(4) Economic and political weekly, 15 January, 2005.

(5) अटरचन्द- प्रोवर्टी एण्ड अन्डरडेवलपमेंट जैन पब्लिशिंग हाउस देलही 1987।

(6) नावा गोपाल दास -इम्प्लायमेंट, अनइम्प्लायमेंट, एण्ड फूलइम्प्लायमेंट इन इंडिया, 1968।

(7) माइरडल ग्यूनर - पोपूलेशन हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस कैम्ब्रीज, 1940।

(8) राम आहूजा - सामाजिक समस्याएँ रावत पब्लिकेशन जयपुर एवं नई दिल्ली, 1997।

(9) डी. ऐड. लीओनेल - इकोनोमिक्स: प्रिंसीपल एण्ड प्रोबलेम, थोमस वार्ड न्यूयार्क, 1926।

(10) इकानॉमिक सर्वे (2008-09), प्लानिंग कमीशन, गर्वमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।

(11) कुरूक्षेत्र, मई 2006 तथा जुलाई 2007।

(12) योजना अगस्त 2007 तथा मई -2009।

(13) प्रतियोगिता दर्पण हिन्दी मासिक पत्रिका अगस्त, 2006, मार्च, 2007, अक्टूबर-2007।

(14) भारत - 2009 (भारत सरकार) नई दिल्ली।

# महिला सशक्तीकरण एवं उच्च शिक्षाः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

**डॉ. अनुजा अमेरी**

*पी. एच. डी., समाजशास्त्र विभाग, जे. डी. वीमेन्स कॉलेज*
*मगध वि. वि. बोधगया।*

## परिचय

महिला सशक्तीकरण का तात्पर्य हर क्षेत्र में उनकी उपस्थिति या भागीदारी को सुनिश्चित कराने से है। शिक्षा महिला सशक्तीकरण का एक सशक्त माध्यम है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं के अध्कि प्रतिनिध्त्वि महिला सशक्तीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। स्त्री स्वयं एक शक्ति ही नहीं एक जननी भी है, पर उस नवजात शिशु की माँ की गोद बच्चें की पहली पाठशाला होती है। माँ की गोद मे मिली शिक्षा ही किसी भी समाज और राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक है। शिक्षा ही वह उपकरण है जिससे महिला समाज में अपनी सशक्त, समाज व उपयोगी भूमिका दर्ज करा सकती है। शिक्षित महिला न केवल स्वयं लाभान्वित होती है, बल्कि उससे भावी–पीढ़ी भी लाभान्वित होती है। महिला की शिक्षा से उसका शोषण रोकने में मदद मिलेगी। निर्माण लेने की क्षमता में धनात्मक एवं सार्थक सम्बन्ध है मलयालम के एक कवि उल्लूर का कहना है कि एक बालक के शिक्षित होने से एक घर का अंधेरा दूर होता है पर एक बालिका के शिक्षित होने से कई घरों का अंधेरा दूर हो जाता है।

## अध्ययन का उद्धेश्य

प्रस्तुत शोध–पत्र महिला सशक्तीकरण एंव उच्च शिक्षा एक सामजशास्त्रीय विश्लेषण का प्रमुख उद्धेश्य निम्नलिखित इस प्रकार है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं की भागेदारी कितनी है? तथा इसके क्या कारण है?

उच्च शिक्षा से महिलाओं की स्थिति किस प्रकार बदलती है।

उच्चा शिक्षा के कारण महिलाओं में समाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति उच्च हुई है।

सरकार ने महिलाओं के उच्च शिक्षा हेतु क्या प्रयास किए है?

पूर्व की अपेक्षा आज महिलाओं के उच्च शिक्षा में क्या परिवर्तन आए है?

महिलाओं में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कौन-कौन सी समस्या है तथा महिलाओं में निम्न शिक्षा के क्या कारण है?

उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं को शोषण का कम शिकार होना पड़ता है।

अन्त में प्रमाणिक साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष एवं सुझाव प्रस्तुत किया जाएगा।

## विश्लेषण

समाज में नारी की स्थिति जितनी मजबूत होगी, समाज उतना ही विकसित और प्रभावपूर्ण होगा, हमारे धर्मग्रन्थों में भी लिखा गया है। यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवता। इन सूत्र के बावजूद हमारे देश में नारी को अबला की संज्ञा देते हुए सदैव अपमानित और पदलित किया जाता रहा है। महिला सशक्तीकरण से तात्पर्य महिलाओं की पुरूषों के बराबर वैधानिक, राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्टभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्रता है, भारत में महिला सशक्तीकरण से आशय प्राथमिक रूप से महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक दशा में सुधार लाना है।

महिला सशक्तीकरण की शुरूआत संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा 08 मार्च 1975 को अर्न्तराष्ट्रीय महिला दिवस से माना जाता है। भारत ने भी महिला सशक्तीकरण के लिए अनेक कदम उठाए।

31 जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग्य का गठन हुआ जिसके माध्यम से सदियों से पिछड़े, शोषित, एवं उपेक्षित नारी वर्ग के विकास हेतु विशेष ध्यान दिया जा रहा है। वर्ष 2001 में भारत सरकार ने महिला सशक्तीकरण वर्ष घोषित किया तथा राष्ट्रीय महिला शक्ति सम्पन्न नीति 2001 की घोषणा की जिसके लक्ष्य निम्नलिखित है।

महिलाओं की पूर्ण क्षमता की प्राप्ति एवं पूर्ण विकास हेतु सकारात्मक आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों के माध्यम से वातावरण का सृजन करना।

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सिविल सभी क्षेत्रों में पुरूषों के समान आधार पर महिलाओं द्वारा समस्त मानवाधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं का सैद्वांतिक तथा वस्तुत: उपयोग करना।

राष्ट्र के सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन में महिलाओं की भागीदारी तथा निर्णय स्तर पर समानता लाना।

महिलाओं के साथ होने वाले सभी प्रकार के भेदभावों के उन्मूलन के उद्धेश्य से कानूनी प्रणालियों की सुदृढ़ीकरण।

विकास प्रक्रिया में महिला परिप्रेक्ष्यों को शामिल करना।

महिलाओं तथा बालिकाओं के साथ होने से हिंसा के सभी रूपों तथा भेदभावों का उन्मूलन।

सिविल समाज, विशेषकर महिला संगठनों के साथ भागीदारी बनाना तथा उसका सुदृढ़ीकरण आदि।

विश्व्यापीकरण एवं भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत जैसे विकासशील देश में महिलाओं में निम्न शिक्षा की समस्या एक गम्भीर चिन्ता का विषय है। स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग 61 वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद भी महिलाओं में शिक्षा एवं साक्षरता की स्थिति दयनीय है हालांकि सरकारी गैर-सरकारी एवं अन्तराष्ट्रीय संगठनों द्वारा महिलाओं में शिक्षा की समस्या को दूर करने हेतु संवैधानिक प्रावधानों, समितियों का गठन तथा शिक्षा सम्बन्धी-नीतियाँ एवं कई कार्यक्रमों आदि प्रकार के सराहनीय कदम उठाये गये है। इसके बावजूद महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति बेहतर सम्भव नहीं हो पायी है, जितनी सरकार एवं जनता की अपेक्षाएं थी। जनगणना 2001 के अनुसार देश में महिला साक्षरता-दर मात्र 54.16 प्रतिशत है जबकि पुरुष की साक्षरता-दर 75.85 यानी पुरुष या महिला के बीच 21.69 प्रतिशत का अन्तर है। इससे स्पष्ट होता है कि आज भी पुरुष एवं महिलाओं के बीच लिंगीय असमानता कम नहीं है।

शिक्षा सामाजिक सशक्तीकरण के लिए पहला और मूलभूत साधन है। अब यह भी माना जाने लगा है कि शिक्षा ही वह उपकरण है जिससे महिला समाज में अपनी सशक्त, समान व उपयोगी भूमिका दर्ज करा सकती है। शिक्षित महिला न केवल स्वंय लाभान्ति होती है। बल्कि उससे भावी-पीढ़ी भी लाभान्वित होती है। शिक्षा किसी भी प्रकार के कौशल की प्राप्ति एवं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण के विकास के लिए पूर्णतथा आवश्यक है। महिला की शिक्षा से उसका शोषण रोकने में मदद मिलेगा। निर्णय लेने की क्षमता से धनात्मक एवं सार्थक सम्बन्ध है। महिलाओं की वास्तविक स्थिति से परिवार समाज एवं राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक स्थिति प्रभावित होती है। तथा सामाजिक परिवर्तन का अंजाम देने में शिक्षा एक अभिकरण या साधन के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

## पुरुष एवं महिला शिक्षा में असमानता

भारत में साक्षरता दर-1951-2001

| *वर्ष* | *व्यक्ति* | *पुरुष* | *महिला* |
|---|---|---|---|
| 1951 | 18.33 | 27.16 | 8.86 |
| 1961 | 28.31 | 40.04 | 15.34 |
| 1971 | 34.45 | 45.95 | 21.09 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1981 | 43.56 | 56.37 | 29.75 |
| 1991 | 52.21 | 64.13 | 39.29 |
| 2001 | 65.38 | 75.85 | 54.16 |

स्त्रोत:- सेंन्सस ऑफ इण्डिया 2001,

उपयुर्क्त तालिका से स्पष्ट है कि पुरूषों की अपेक्षा महिला साक्षरतादर हर वर्ष कम पाया गया। परंतु दूसरी ओर महिला साक्षरता में वृद्धि देखने को मिलता है।

वर्ष 1951 में 8.86 प्रतिशत महिला साक्षर थी। तो वर्ष 1991 में 39.29 प्रतिशत महिला तो वर्ष 2001 में 54.16 प्रतिशत महिला साक्षर पाई गई। लेकिन पुरूषों की तुलना में अभी भी 21.69 प्रतिशत कम है।

शैक्षिक स्तरों पर लिंगवार जनसंख्या प्रतिशत में:-

| *शैक्षिक स्तर* | *1971* | | *1981* | | *1991* | | *2001* | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | *पुरुष* | *स्त्री* | *पुरूष* | *स्त्री* | *पुरूष* | *स्त्री* | *पुरूष* | *स्त्री* |
| अशिक्षित | 60 | 81 | 53 | 75 | 47 | 67 | 25 | 46 |
| प्राथमिक स्तर | 13.7 | 7.1 | 13.6 | 8.1 | 14.8 | 10.5 | 18.5 | 12.5 |
| मध्य (मिडिल) | 7.5 | 3.5 | 8.4 | 4.2 | 11.5 | 6.5 | 14.3 | 8.5 |
| धमर सेंकडरी | - | - | 3.4 | 1.5 | 4.5 | 2.2 | 8.5 | 4.5 |
| स्नातक एवं उपर | 2.5 | 0.7 | 4.5 | 0.9 | 6.5 | 1.4 | 7.5 | 2.1 |

स्रोत-रजिस्ट्रार जनरल भारत-2009

उच्चतर शिक्षा के अवलोकन करने के बाद पाया गया है कि नामांकित महिलाओं की संख्या 1990-91 के 1.32 मिलियन से बढ़कर 1999-2000 में 3.03 मिलियन हो गई, लेकिन देश की विशाल महिला आबादी (सन् 2000 ई. में देश की 102.7 करोड़ की आबादी में महिलाओं की संख्या 48.3 प्रतिशत यानी 495.7 मिलियन थी) के मददेनजर यह संख्या अत्यंत कम है लेकिन सुखद पहलू की बात यह है कि कुल नामांकन में महिलाओं के नामांकन का प्रतिशत काफी उन्नत हुआ है और लिंगीय अन्तर काफी कम हुआ है 1990-91 में कुल नामांकन में महिलाओं का नामांकन 33 प्रतिशत या जो 1999-2000 में 6.8 प्रतिशत से बढ़कर 39.8 प्रतिशत तक पहुँच गया।

1990-91 में कुल नामांकन में महिलाओं का नामांकन पुरूषों के नामांकन से 34 प्रतिशत कम था। 1990-2000 में यह अन्तर मात्र 20.4 प्रतिशत रह गया है। इस

प्रकार तुलनात्मक आंकड़ो का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि लगभग सभी शैक्षणिक स्तरों पर बालिकाओं का नामांकन बालकों से कम है।

आप उच्च शिक्षा के कारण समझने का अवसर प्राप्त हुआ है। आज महिलाओं में हर क्षेत्र में जागरूक देखा जा रहा है। अत: आज हर क्षेत्र में महिलाऐं अपने अधिकार लेते देखे जा रहे है। जैसे- किरण बेदी नजमा हेप्पतुल्ला, सुषमा स्वराज, शबाना आजमी, मेघा पाटकर, सोनिया गाँधी, ममता बनर्जी, मायावती आदि।

मानवीय संसाधन का पूर्ण विकास, बच्चों चरित्र-निर्माण व देश के चहुमुखी विकास के लिए स्त्री-शिक्षा पुरुषों की शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण व उपयोगी है। वैदिक काल में गार्मी, अत्रैमी, लोपामुद्रा, अपाला जैसे-साध्वी स्त्रियों ने वेदों की रचना व अध्ययन में अपना कीर्तिमान स्थापित किये हुई थी।

आधुनिक समय में 1882 ई. में लड़कियों का उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति मिल गई। प्रथम स्नातक महिला कराम्बजी गांगुली थी। बाद में चलकर अनेकों समाज सुधारकों ने महिलाओं को उच्च शिक्षा से जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। फलत: उनका चहुमुखी विकास होना प्रारम्भ हो गया। इस उच्च शिक्षा का ही परिणाम यह है कि 15वीं लोकसभा में 59 महिलाऐं चुनाव जीत कर यहाँ पहुँची है। हालाँकि महिलाओं की संख्या को लोकसभा में 10 प्रतिशत तक पहुँचने में 60 वर्ष से ज्यादा समय लग गया। परंतु आज महिलाएं उच्च प्राप्त कर हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। जैसे-इन्द्रा नूई।

## महिला शिक्षा की समस्याएं

भारत जैसे विकासशील देश में महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति के विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज भी शिक्षा में उच्च लिंगीय अन्तर बना हुआ है और शिक्षा के मामले में लड़कियाँ, लड़कों से काफी पीछे है। हांलाकि यह लिंगीय अन्तर पहले से काफी कम हुआ है।

शिक्षा में उच्च लैंगिक अन्तर बने रहने का कारण निर्धनता है। इसके साथ ही साथ सामाजिक सांस्कृतिक विसंगतियाँ और सामाजिक कुरीतियाँ आदि का बने रहना भी काफी हद तक जिम्मेदार है। लोगो की परम्परागत व रूढ़ियावादी मानसिक्ता, महिला के उच्च शिक्षा को गैर जरूरी मानते है।

सरकार में इच्छा शक्ति का अभाव, शिक्षा के लिए कम बजट, शिक्षा का रोजगारोमुखी न होना महाविद्यालय काफी दूर में होना प्रशिक्षित व महिला शिक्षकों की कमी, बेटियों को विद्यालय भेजने के बजाय घरेलू कामकाज कराना बेटी को पराया धन के रूप में मान्यता स्त्रियों की बदतर उच्च शैक्षिक स्थिति के उतरदायी पक्ष एवं कमियाँ हैं।

## सुझाव एवं निष्कर्ष

स्त्रियों की बदतर उच्च शिक्षा के लिए शासन, प्रशासन, शिक्षक, परिवार गैर-सरकारी संगठन एवं आम समाज भिन्न-भिन्न रूपों में जिम्मेदार है। तात्पर्य यह है कि स्त्रियों की शिक्षा में वांछित सुधार के लिए इन सभी पक्षों को अपने-अपने अन्त:करण में झांकना होगा। कहने की जरूरत नहीं कि स्त्री के उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने से कई प्रकार के सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक लाभ होते है। महिला शिक्षा पुरुषों की शिक्षा से अधिक उपयोगी है। इसी आधार पर महिला शिक्षकों विकास का आधार स्तम्भ माना गया है अत: महिला शिक्षा के अधिकाधिक अवसरों का सृजन एक अनिवार्य कदम माना गया है, क्योंकि सुसंस्कृत एवं पूर्ण समाज की रचना शिक्षित महिलाओं से ही संभव है। वास्तव में उच्च महिला शिक्षा के प्रति समर्पण बोध और निश्छल प्रयासों की सख्त जरूरत है। अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि उतर भारत के राज्यों जैसे- बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि इन राज्यों में दक्षिण भारत की तुलना में साक्षरता-दर निम्न हो आने वाले समय में उक्त सुझावों से महिला शिक्षा व साक्षरता के क्षेत्र में प्रगति का सिलसिला मात्रात्मक व गुणात्मक स्वरूप में उत्तरोतर निखरेगा तथा महिला शिक्षा को सही दिशा मिलेगा। अत: महिलाओं में उच्च शिक्षा की समस्यों को दूर करने के उपाय को ढूँढ़ना चाहिए।

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि आज महिलाओं में उच्च शिक्षा का रुझान बढ़ा है और महिलाएं पढ़ लिख कर आत्मनिर्भर बन रही हैं। परम्परागत समाज की अपेक्षा आधुनिक समाज में महिलाओं का चहुमुखी विकास हो रहा है इसका एक मात्र कारण महिलाओं में उच्च शिक्षा के प्रति झुकाव है आज महिलाओं ने उच्च शिक्षा प्राप्त कर कई उदाहरण पेश किए है जिससे महिला सशक्तीकरण का बोध होता है।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. Muzibul Hasan Siddique- women Education A Research Approch, New Delhi PP-84
2. A.K. Kamal-women's Education and social change in india-vol-5
3. नारी शिक्षा के विविध आयाम, बुद्ध मिशन ऑफ इंडिया-2008
4. भारतीय नारी:- कल और आज-सरोज कुमार गुप्ता, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली-2007
5. नेशनल फैमिली हैल्थ सर्वे-3, इंटरनेशनल इंस्टीच्यूट फॉर पॉप्यूलेशन साइन्सेज, मुम्बई।
6. भारतीय समाज-दोषी एवं जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस जयपुर।
7. सेन्सस ऑफ इंडिया-2001
8. कुरूक्षेत्र प्रकाशन विभाग नई दिल्ली-2006
9. योजना प्रकाशन विभाग नई दिल्ली- अक्टूबर 2008
10. दैनिक हिन्दुस्तान, नवभारत, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक भाष्कर, द हिन्दु आदि।

# महिला सशक्तीकरण के विविध आयाम

संत कुमार

*शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया*

''सशक्तीकरण'' का शाब्दिक अर्थ शक्ति या सत्ताधिकार संपन्न बनाना है। इस तरह सशक्तीकरण का सीधा सा मतलब किसी को सत्ताधिकार संपन्न बनाने का काम है। इसी प्रकार स्त्रियों को अधिकार संपन्न बनाना, उन्हें सत्ताधिकार देने का काम ही महिला सशक्तीकरण है। मगर यह सशक्तीकरण सिर्फ कार्यस्थल या घर पर ही नहीं होता। बल्कि इसका व्यापक अभिप्राय सभी साधनों पर महिलाओं के नियंत्रण से है।

सम्पूर्ण विश्व में आज महिलावाद या स्त्रीवाद या महिला सशक्तिकरण का शोर है। इस बात को अंजाम देनेवाला कोई राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहीं दिखायी नहीं पड़ता है। अभी यह एक विचारधारा या सिद्धान्त निरूपित करने के प्रयास या भूमिका में है। संगठन बनाने के प्रयास भी हो रहे हैं। ऐसा कहा जा रहा है कि आधुनिक काल में पहली बार स्त्री के हाथ में कलम आई है और समय बीतने के साथ-साथ उस कलम की पकड़ भी मजबूत होती जा रही है। आधुनिक रचना का इतिहास साक्षी है कि इस कलम में पहली बार औरत ने अपने हाथों, अपनी भाषा में, अपने को लिखा है, अपने इतिहास को, अपने वर्तमान को और अपने आकांक्षित भविष्य को भी, उनके त्रास, पूरे संघर्ष और पूरी संभावनाओं में। उसे अब तक अन्यों ने लिखा था, अब वह अपने को खुद परिभाषित कर रही है। ये स्त्रियां मानती हैं कि इनकी अपनी संस्कृति है, अपना इतिहास है, अपनी भाषा है तथा इनकी अपनी देह है जो पुरुषों से भिन्न है।

स्त्रियों के इस सोच को, इस चिन्तन को, इनकी इन मान्यताओं को स्त्री-विमर्श, नारीवाद, नारीवादी आन्दोलन, उत्तर आधुनिकतावादी स्त्री विमर्श, उत्तर साम्राज्यवादी आन्दोलन की संज्ञा दी जा रही है। स्त्री विमर्श को कुछ विचारक मार्क्सवाद का विकास या विस्तार मानते हैं। कुछ इसे संरचनावाद या उत्तर संरचनावादी विचार कहते हैं। भारत में स्त्री विमर्श की शुरूआत के बारे में 'हंस' जनवरी-फरवरी 2000 के विशेष अंक की सम्पादिका अर्चना वर्मा लिखती हैं कि 1978 अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष था। इसी वर्ष भारत में स्त्री आन्दोलन की विधिवत् शुरुआत हुई। दिल्ली के एक कॉलेज में जहां वे पढ़ाती हैं-वहीं स्वाधीन स्त्रियों की पहली पीढ़ी इसी कॉलेज से निकली है-जिनमें प्रमुख हैं : मधुकिश्वर, रूथ वनिता पाल, वृन्दा कारत, उर्वशी बुटालिया, मायाराव, कीर्ति सिंह, मीरा नायर, त्रिपुरारी शर्मा आदि। इसके बाद इस सोच की बहुत सारी स्त्रियाँ इस आन्दोलन में शामिल हुई। अर्चना वर्मा स्त्रियों की मुक्ति स्वाधीनता में देखती हैं और कहती हैं: ''स्वाधीनता का चुनाव अंततः

अकेलेपन का चुनाव है और लंबे अकेलेपन की परिणति इस अहसास में होती है कि सृजनात्मक सक्रियता जैसे एकाध अपवादों को छोड़कर कैरियर की सफलता जीवन में सार्थकता का स्रोत नहीं हो सकती। मातृत्व स्त्री को प्राकृतिक रूप से उपलब्ध सार्थकता का एक सहज अवसर है पर स्वाधीन स्त्री के लिए वह न केवल कैरियर में बाधक, अनावश्यक सिर दर्द बल्कि पराधीनता की कुंजी भी है। पारिवारिक इकाई की वैकल्पिक रचना के प्रयोगों और प्रयासों ने भी यही साबित किया है कि समलिंगी परिवार हों या सामुदायिक सहजीवन के आवास, संबंधों का वही पुराना पैटर्न उभर ही आता है। एक निर्णेता और दूसरा निर्णय के अधीन, एक अभिभावक और दूसरा अभिभूत, एक संरक्षक दूसरा संरक्षित और एक शिकारी दूसरा शिकार भी-यानी सार्थकता मानवीय संबंधों की ऊष्मा में ही है और संबंधों को पनपने की स्वाभाविक जमीन परिवार है। विचित्र विडम्बना है, संबंधों में स्वाधीनता का अहसास बाधित होता है तो एकांत में सार्थकता का अहसास नष्ट हो जाता है। स्वाधीनता का कुल अहसास ले-देकर बिना रोक-टोक के उठ-बैठ सकना, बिना किसी की आज्ञा अनुमति की मज़बूरी के आ-जा पाना, खर्चा-वर्चा कर लेना ही है जो मिल जाए तो 'बस इतना ही' सा लगता है और न मिले तो दबाव, घुटन और मजबूरी को जिंदा होने के अहसास का पर्याय बना देता है। यानी मजबूरियों और दबावों की सापेक्षता में तो स्वाधीनता अपने आप में सार्थक एक मूल्य है पर उनके अभाव में जीवन को किसी दूसरे बड़े प्रयोजन भी संबंधों का, परिवार का शत-प्रतिशत विकल्प नहीं बन सकता। तो क्या वही समझदार थी जिसे शुरू में मूर्ख और सामान्य समझा गया? रुदन और हाहाकार में अपना विरेचन करती, संबंधों की सुरक्षा का कवच पहने, अस्मिता और स्वाभिमान जैसे झंझटों में न पड़ती वह सचमुच कोई अनाम दोष स्वयं को दे पा रही है?

यह समझदारी है या केवल कायरता का महिमा मंडन? स्वाधीन के अतिरिक्त भी कोई सार्थक हो सकता है क्या? कौन जाने, कहना मुश्किल है। इतना तो है ही, काफी भले न हो कि विकल्प खुले हैं और स्त्री पराधीनता का चुनाव करने को भी स्वाधीन है। स्वेच्छा से चुनी पराधीनता क्योंकि आज औरत जितनी बदल चुकी है, उतना शेष समाज नहीं। अब अपने रहने लायक जगह उसे कहां मिले? समाज यूं नहीं बदला करता-वचनों, प्रवचनों, विवादों और विचारधाराओं से। उसको बदलने के लिए महामारी, अकाल, भूकम्प, बाढ़ जैसी विराट पैमाने की कोई प्राकृतिक आपदा चाहिए या फिर युद्ध जैसी मानव रचित दुर्घटना क्योंकि ऐसे ही समयों में मनुष्य की चेतना सामुदायिक रूप से इतनी तत्पर, सतर्क और सन्नद्ध होती है कि विचारों को शब्दों के घेरे से बाहर निकाल कर कर्म में परिवर्तन कर दे। आयोजित और प्रायोजित भविष्य के दुस्साहस में दैवी अनुकम्पा जैसी अप्रत्याशितों की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती, तो फिर और चारा ही क्या है सिवा इसके कि यह जो उपलब्ध कच्चा माल है-यही पुरुष इसी को ठोक पीटकर स्त्री अपना मन चाहा साथी गढ़ ले वरना संबंधों का जो आदर्श

स्वप्न उसके मन में है-समकक्षों का परस्पर स्वाधीन-सहभाव वह अपनी आकर्षक, उत्तेजक, विरोधाभासी चुनौतियों समेत एक कपोल कल्पना की तरह अनजिया ही रह जाएगा।

प्रभा खेतान स्त्री-विमर्श की जबरदस्त पैरोकार हैं। वह निरन्तर इस विषय पर लिख रही हैं। इनके पास स्त्री-विमर्श के समझने-समझाने के अपने तर्क हैं, इनमें दम है और किसी को अपने विचारों से कायल करने की क्षमता भी है। उन्होंने 'हंस' के जनवरी-फरवरी 2000 के अंक में ''स्त्री विमर्श: इतिहास में अपनी जगह'' शीर्षक से एक आलेख लिखा है-जिसमें इनके चिन्तन को देखा जा सकता है। इस आलेख में उन्होंने स्त्री विमर्श की उत्तर आधुनिक समझ के साथ इसके इतिहास को भी बताने का प्रयास किया है। नारीवाद पारंपरिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है। ऐतिहासिक रूप से हम पुरुष प्रधान समाज में रहते आये हैं, जहां स्त्री ज्ञाता नहीं बल्कि ज्ञान की विषय-वस्तु है। हम जिसे यथार्थपरक ज्ञान या वस्तुपरक ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है। इसी ज्ञान को पुरुष सत्ता ने समाज के केन्द्र में अधिष्ठित किया। इसके विपरीत नारीवादी सिद्धांत स्त्री-केंद्रित ज्ञान की चर्चा करता है। ज्यों-ज्यों नारीवाद का विकास होता गया इसकी शाखा-प्रशाखाएं विभिन्न दिशाओं में फूटती गईं। वक्त के साथ इन नारीवादिनों के दृष्टिकोण में भी काफी परिवर्तन आया और यही कारण है कि बहुतेरी स्त्री विचारकों के प्रारंभिक लेखन में एक प्रकार की अस्पष्टता और विरोधाभास है। सरल स्पष्ट शब्दों में इन नारीवादी विचारों का लेखा-जोखा देना एक बड़ा कठिन अध्यवसाय है क्योंकि निरंतर घटने वाली सामाजिक घटनाएं, विभिन्न खेमों से निकलने वाली चुनौतियां, विचारधारा को स्थिर नहीं रहने देती।

पारंपरिक दर्शन की स्त्री-विरोधी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए, नारीवादी चिंतकों ने यही कहा कि पारंपरिक दर्शन ने न केवल स्त्री के बौद्धिक प्रयास का अवमूल्यन किया बल्कि स्त्री के निजी मूल्यबोध को भी तुच्छ किया है। दार्शनिक चिंतन के जगत में स्त्री भी अपना स्थान बना सकती थी। किन्तु पारंपरिक दर्शन, पुरुष केंद्रित सोच तक ही सीमित रहा। पश्चिमी दर्शन की अधिकतर अवधारणाओं एवं सिद्धातों का आधार जैसा कि एलिसन जैगर कहती हैं- ''दुनिया को तौलने का पुरुषोचित नजरिया है। हालांकि कुछेक दार्शनिक जैसे प्लेटो, जॉन स्टुअर्ट मिल एवं मार्क्स ने स्त्री-पुरुष को समकक्ष रखने की चेष्टा की किंतु इनमें से अधिकतर दार्शनिकों अरस्तू, कान्ट, हीगेल और नीत्शे को स्त्री जाति की बौद्धिक और तार्किक क्षमता पर गहरा संदेह था।''

महान दार्शनिक देकार्ते ने जब कहा कि 'मैं सोच सकता हूं अत: मैं हूं' तो सोच से उनका आशय पुरुष की सोच था। देकार्ते के अनुसार स्त्री की तर्क क्षमता पुरुषों की तरह विकसित नहीं। जाने-अनजाने इन दार्शनिकों ने जगत को दो हिस्सों में बांट दिया तथा जीवन में जो कुछ भी वैयक्तिक और निजी था उसे स्त्री से जोड़ दिया।

पितृसत्ता ने परिवार के इस निजी क्षेत्र की रक्षा जरूर करनी चाही, सुरक्षित रखा भी, मगर बस इतना भर ही। इससे ज्यादा इन मुद्दों को दार्शनिकों ने विचार-विनिमय के काबिल ही नहीं समझा। स्त्री तत्व अर्थात् ठोस, वैयक्तिक एवं विशिष्ठ के विरुद्ध-अमूर्त, सार्विक तथा शाश्वत का महिमा मंडन किया गया। स्त्री के पास संवेग था तो पुरुष के पास तर्क एवं बुद्धि थी। इस मूल विरोध को छोड़कर यदि हम दर्शन को पुनः समझने की चेष्टा करें तो पायेंगे कि हम स्त्रियों का चिंतन भी इन विभिन्न दार्शनिक स्कूलों में उपलब्ध ट्रेनिंग से ही संवर्धित हुआ है। स्त्री विचारकों ने स्त्री संबंधित न केवल नये सिद्धांत को प्रतिपादित किया बल्कि स्त्री जीवन के अन्य विभिन्न प्रसंगों पर ज्ञान, कर्म और यथार्थ का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया, जिसमें कम-से-कम यह तो स्पष्ट हुआ कि स्त्रियों का समूह एक मिश्रित समूह है, नारीवादिनों की प्रतिबद्धता इन दार्शनिक विचारों के प्रति नहीं है। वे स्त्री-मुक्ति के प्रसंग में इन विचारों का उपयोग भर करना चाहती हैं। उनके अनुसार नारीवाद पर इन विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव तो जरूर पड़ा है, मगर पुरुषों के ये विचार नारीवाद की परिभाषा नहीं बन सकते। कुछ अन्य नारीवादिनों ने इन विभिन्न नारीवादी विचारधाराओं को अलग-अलग नाम देने की कोशिश भी की। मसलन उदार नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, मनोविश्लेषक नारीवाद, अराजक नारीवाद एवं सामाजिक नारीवाद आदि।

इनमें उदारवादी नारीवाद का अपना एक लंबा इतिहास रहा है। अट्‌ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक मेरी उलनस्टोक्रापट (1759-1873), हैरियट टेलर (1807-1858), जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) जैसे सभी नारीवादियों ने दार्शनिक जॉन लॉक और रूसो की सामाजिक अनुबंध की आलोचना करते हुए कहा कि, ये दार्शनिक अपने लेखन की वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक परिवर्तन की चर्चा तो करते हैं किंतु इनकी उदारवादी राजनीति स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिलाने में असमर्थ रही हैं। उदारवादियों ने ऐसी सामाजिक संरचना करनी चाही थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्व हो, उसे समान सुविधा मिले। इस महत् उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए इन दार्शनिकों ने पितृसत्तात्मक राज्य संरचना का विरोध तो किया किन्तु पारिवारिक संरचना का विरोध नहीं किया। अमेरिका में समान अधिकार संशोधन बिल तो पास हुआ, किंतु परिवार में अब भी पति सर्वेसर्वा था और पत्नी को पति के अधीन रहना था। जाईला आईजेनेस्टाइन के अनुसार, व्यक्ति स्वतंत्रता के प्रसंग में उदारवादी विचारधारा केवल बाह्य दुनिया में लागू होती है। परिवार में अब भी पितृसत्ता की दमनकारी नीतियां बरकरार हैं। अतः हमें पारिवारिक संस्था के रूप में बची हुई पितृसत्ता को खत्म करना होगा। उदार नारीवाद का आंदोलन 1960 में शुरू हुआ था। इनमें प्रमुख हैं बेला अबलेक्स, बेट्‌टी किंडा एलिजाबेथ, हाउसमैन आदि।

इनके अनुसार स्त्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी कर सकती है, बशर्ते कि आज उसे पुरुषों के बराबर सुविधाएं प्रदान हो। किंतु समाज ऐसा नहीं, श्रम के सवाल में भी स्त्री-पुरुष के बीच भेद-भाव की स्थिति बनी हुई है। साथ ही इनके

उदारवादी आन्दोलन का सबसे बड़ा मुद्दा था-गर्भपात का, चूंकि अपने-आप में एक बड़ी क्रांतिकारी मांग है उन्होंने कहा कि समाज में पितृसत्तात्मक संरचना को बदला जाना चाहिए। स्त्री को मानवीय गरिमा मिलनी चाहिए, किंतु जाईला आईजेनेस्टाइन ने अधिकार एवं सुविधा की इस उदारवादी मांग की आलोचना करते हुए पूछा कि अधिकार का विश्लेषण वास्तव में विभाजनकारी है, क्योंकि व्यक्ति के दो पक्ष हैं- एक उसकी निजी स्वतंत्रता और दूसरा अन्य लोगों के साथ उसका संबंध। एक को सुविधा और अधिकार मिलने से दूसरा वंचित होगा। अत: दूसरे के प्रति हमारी जिम्मेवारी है, दूसरे के लिए हमें अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित करना होगा।

किंतु क्या व्यक्ति, अपने स्वार्थ और स्वतंत्रता को सीमित करना चाहेगा? विशेषकर अन्य के संदर्भ में? कम-से-कम अब तक तो पुरुषों ने स्त्री के प्रसंग में ऐसा नहीं किया है। दूसरे समाज में अधिकतर स्त्रियां न केवल पुरुष की तुलना में बल्कि स्त्री की तुलना में भी समान नहीं हैं। अमेरिका में सबसे बड़ा मुद्दा श्वेत और अश्वेत का उठा। सत्ता के कुछ अधिकार तो मिले, किंतु वे सारे अधिकार श्वेत स्त्री तक ही सीमित रहे। सामाजिक एवं आर्थिक रूप से उदार नारीवाद केवल मध्यमवर्गीय श्वेत स्त्री के अधिकार एवं कर्तव्य का लेखा-जोखा बनकर रह गया। यह वही वर्ष था, जब पश्चिमी दुनिया में वामपंथी विचारधारा अत्यंत सक्रिय थी तथा दो-दो महायुद्धों के बाद क्रमश: समृद्ध होता हुआ यूरोप एवं अमेरिका आमूल सामाजिक परिवर्तन की संभावना देख रहा था। सिमोन द बुवा की *सेकेंड सेक्स* प्रकाशित हो चुकी थी। अमेरिका में 1970 में केट मिलेट की *सेक्सुअल पॉलिटिक्स* और सुलामिथ फायरस्टोन की *डॉयलेक्टिक आफ सेक्स* प्रकाशित हुई। ये पुस्तकें उदारपंथी सुधारवादियों से बिल्कुल अलग हटकर थीं। साथ ही नारीवादिनों पर मार्क्सवाद का प्रभाव ज्यादा था। तभी जूलियेट मिशेल की मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित पुस्तक *वूमैन स्टेट* प्रकाशित हुई।

## संदर्भ


- Anita Stephen: *Communication Technologies and Women Empowerment*, Rajat, Delhi, 2006.
- M.C. Reddeppa Reddy and P. Adinarayana Reddy : *Education and Women Empowerment*, The Associated Pub, 2007.
- Maya Majumdar : *Encyclopaedia of Gender Equality Through Women Empowerment*, Sarup and Sons, 2005
- A.K. Singh, S.P. Singh and D.S. Sutaria : *Gender Budgeting and Women Empowerment in India*, Serials Pub, 2010
- Noorjehan N. Ganihar and Shahataj Begum : *Gender Issues and Women Empowerment*, Discovery, 2007
- Sanjay Kumar Singh : *Gender Justice and Women Empowerment : Development, Domestic Violence and Human Right*, Radha Publications, 2011
- G.P. Kapoor : *Micro Finance and Women Empowerment : Comparative Study of Shimla and Kangra Districts of Himachal Pradesh*, A.P.H. Pub, 2010
- Abha Avasthi and A.K. Srivastava : *Modernity, Feminism and Women Empowerment*, Rawat, 2001.

# ग्रामीण महिलाओं पर वैश्वीकरण का प्रभाव

**संजीव कुमार सिंह**

***शोधार्थी,समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया***

***विजिटिंग फैकल्टी, ( पत्रकारिता एवं जनसंचार )***

***मौलाना मजहरूल हक अरबी फारसी विश्वविद्यालय पटना***

बौद्धों के बीच एक कहावत प्रचलित है: जो स्वर्गद्वार की कुंजी है, नरकद्वार भी उसी से खुलता है।[1] भारत जैसे विविधता वाले देश में वैश्वीकरण की प्रभाव के मूल पर भी एक तरह से यह कहावत लागू होती है। वास्तव में भारतीय समाज में वैश्वीकरण के खतरे और अवसर ऐसे धुलेमिले हैं कि सुसंचालित बाजार व्यवस्था की तलाश में शुरू हुई यह यात्रा बहुसंख्य आबादी को गरीबी और बढ़ती असमानता के नर्क में धकेल सकती है। यानी ऊँट किसी भी करवट बैठ सकता है। समृद्धि या बदहाली में से कुछ भी हो सकता है। पिछले 20 वर्षों से वैश्वीकरण भारत में चर्चा का विषय है। इस संदर्भ में जनसाधारण यह मानते हैं कि वैश्वीकरण के तहत विदेशी पूंजी निवेश इस देश में काफी मात्रा में होगी और इसके चलते रोजगार तेजी से बढ़ेगा, वास्तव में पूंजी का निवेश हुआ भी, अभी 1700 बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में कार्य कर रही है, और रोजगार के क्षेत्र में विविधता के साथ तेजी भी हुआ। उदारीकरण का यह दौर जिसे नयी आर्थिक नीति या वैश्वीकरण के नाम से जाना जाता है, इसकी शुरूआत 24 जुलाई, 1991 को केंद्रीय बजट 1991-92 की प्रस्तुती से हुई।[2] इस नीति का मुख्य उद्देश्य क्षेत्रों में सरकारी हस्तक्षेप को कम करके बाजार की ताकत को बढ़ाना है, सामाजिक कल्याण क्षेत्र के व्यवहारिक-व्यवस्था को बाजार के माध्यम से सुलझाना जिसमें विशाल महिलाओं के आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विकास का धरातल की संरचना को नये सिरे से खड़ा करने की सपना देखा गया, कुछ हद सपना साकार भी हुआ। पूंजीवादी विकास को गति देने के लिए मुक्त व्यापार तथा बाजार ताकतों यानी वैश्वीकरण को स्वंतत्र करने की वकालत शुरू-शुरू में एडम स्मिथ ने सन् 1776 में की थी। वैश्वीकरण पूंजीवाद का चरम अवस्था है, पूंजीवाद का मूल चरित्र है, संचय, अधिक संचय, क्रमशः अधिकारी संचय। यही इसका धर्म है, यही इसका भगवान हैं बढ़ते क्रम से संपति प्राप्ति का माध्यम चाहे जैसा भी हो।[3] वर्तमान में भारत में यह प्रत्यक्ष रूप से दिख रहा है कि अरबपतियों की संख्या में लगातार बृद्धि हो रहा है।

अल्प विकसित देशों तथा विकासशील देशों के लोगों में यह आम धारणा घर करती जा रही है कि वैश्वीकरण का प्रभाव उनकी परम्परा सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं जैसे-परिवार (संयुक्त परिवार), विवाह, बाजार (पेठिया, हाट, हटिया),

प्रथा, नैतिकता, प्रकृतिक बनावट, सत्ता एवं विधायिका के प्रतिष्ठान के लिए एक गंभीर खतरा एवं चुनौती है। इन संस्थाओं के कमजोर होने से महिलाओं की स्थिति बदली है वे आर्थिक रूप सम्पन्न होती जा रही है मगर सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से पतन के ओर अग्रसर हैं क्योंकि वैश्वीकरण में महिलाओं को महत्व नहीं वस्तु की तरह पेश किया जा रहा है, भारत की ग्रामीण महिलायें भी इससे अछूती नहीं है।

भारत जैसे ग्राम प्रधान देश में विकास की प्रक्रिया तथा गांवों की आर्थिक समृद्धि में महिलाओं का महत्वपूर्ण साथ रहा है। फिर भी भारत समेत अधिकतर विकासशील देशों में ग्रामीण महिलाएं उपेक्षित है। उन्हें विकास की धारा में सम्मिलित नहीं किया जाता है, जबकि वे जनसंख्या और श्रमशक्ति का एक बड़ा भाग है। रोजगार के स्तर और गुणवता की दृष्टि से वे पुरुषों से काफी पीछे हैं। भारत की जनगणना (2001) के अनुसार महिला श्रमिकों की संख्या 25.60 प्रतिशत है, यात्री देश में महिलाओं की कुल संख्या 49 करोड़ 60 लाख मे से 12 करोड़ 72 लाख 20 हजार महिलाएं श्रमिक हैं। अधिकांश श्रमिक महिलाएं ग्रामीण क्षेत्रों में है। ग्रामीण क्षेत्र की महिला श्रमिकों में 87 प्रतिशत खेतिहर मजदूर हैं।[4] मगर वैश्वीकरण ने सशक्तिकरण की प्रक्रिया को तेज किया है, जिससे महिलाओं खासकर ग्रामीण महिलाओं की सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ जीवन-यापन के विविध साधनों का विकास हुआ है।

भूमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण ने महिलाओं को वे तमाम चीजें मुहाया करा दी है जिससे उन्हें आज तक वंचित रखा गया था, जिसका मूलाधार वैदिक-धार्मिक परम्परा था। विकास स्थिति में जो इसे आधुनिक-वैश्वीकाल में थोड़ी-बहुत कसर है, वह भी आने वाले दिनों में उन्हें भी पूर्ति हो जायेगी क्योंकि आज का समाज संस्कृति-विश्वास पर नहीं बल्कि बाजार-वैज्ञानिक प्रमाणिकता पर आधारित है। विज्ञान किसी समाज या लिंग का धरोहर नहीं है बल्कि यथार्थता एवं सार्वभौमिकता पर आधारित है। आज वैश्वीकरण के दौर में महिला सशक्तिकरण का विचार जो हमारे समाने उभर कर आया है, उसका मूल कारण महिलाओं की राजनैतिक सक्रियता एवं भागीदारी का प्रतिफल है, इसका प्रत्यक्ष एवं सुंदर उदाहरण है बिहार पंचायती राज-2011 का चुनाव, जिसमें महिलाओं को 38 जिला में से 18 जिला अध्यक्ष का पद आरक्षित है, मगर 26 पर वह विजय प्राप्त की हैं।[5] त्रिस्तरीय पंचायती व्यवस्था में महिलाओं को 50 फीसदी आरक्षण देनेवाला बिहार पहला राज्य है, जिससे सबसे अधिक लाभ ग्रामीण महिलाओं को हुआ है।

**महिलाओं का साम्राज्यः-** फिल्म, मॉडलिंग, मीडिया, टेलीविजन, विज्ञापन, रेडियो के एफ. एम. चैनलस्, समाचार चैनल्स पर प्रत्यक्ष दिखता है। ग्रामीण महिलाओं का इन चीजों में प्रत्यक्ष भूमिका तो नहीं दिखता है, मगर इन सभी साधनों से प्रभावित है और अपनी दैनिक जीवन जीवनचर्या में उसे धारण करती है।

**नारी अस्मिता पर बाजार हावीः-**वैश्वीकरण संस्कृति ने ऐसा असर दिखाया है कि ग्रामीण महिलायें भी शहरी महिलायें समान अपनी मूल्यवान परम्परा को हीन

समझने लगे हैं और परिवार की भाषा पति-पत्नी एवं बच्चों तक सिमट कर रह गयी है। परिवार छोटा होने के बावजूद भी महिलाये बच्चों को अपनी परम्पराओं से अवगत नहीं करा पाते हैं। जिस परम्परा और संस्कृति को अंग्रेज नहीं बदल पायें, उसे वैश्वीकरण की प्रक्रिया में टेलीविजन की अश्लीलता ने कुछ ही वर्षों में बदल दिया है। दूरदर्शन जहाँ देह-दर्शन बन गया है वहीं इंटरनेट से कार्य सुगम तो हुआ है किंतु विकृतियां अधिक परोस रहा है। नैतिकता की सारी दीवारें तोड़, रिश्तों की पवित्रता को तार-तार करने वाले यौन-पिपासा बुझाने के समाचार हर रोज सुर्खियों में रहते हैं। यौन उच्श्रृखंला महानगरों में ही नहीं , गांवों और कस्बों तक में फैल गयी है। यह एक गहरी चिन्ता एवं चिन्तन का विषय है। दरअसल, आधुनिकता का आवरण ओढे फिल्म, टेलीविजन और विज्ञापन जगत की रूग्ण प्रवृतियाँ वैश्वीकरण की हवा को गलत दिशा में मोड़ रही है। अशोभनीय और अश्लील विज्ञापनों पर ही सारा बाजार टिका है। इसमें स्त्री को पहचान अवश्य मिली हैं। मगर इस पहचान ने उसकी छवि को भी चोट पहुंचाई है। बाजारीकृत अर्थव्यवस्था का ही महत्वपूर्ण परिणाम है स्त्री के खिलाफ बढ़ती हिंसा। वैश्वीकरण, पूंजीवाद और मौजूदा संस्कृति, स्त्री की देह पर खड़ी है। स्त्री संघर्ष का अर्थ महिला को पूंजी बाजार में खड़ा करना नहीं है। यह संघर्ष समाज में समानता के अधिकारों का है। अति उच्छृंखलता स्त्री को समाज में अधिकार नहीं दिलाती, भोग लिप्सा में ले जाती है। बाजार की पूरी नीति ही बहलाने-फूसलाने पर आधारित है। इसके निशाने पर प्रमुख रूप से स्त्री वर्ग है। आधुनिकता के भ्रम में महिलाओं का एक बड़ा वर्ग स्वयं अपनी मर्यादा भूलता जा रहा है। बाजार तो सिर्फ उसे भुना रहा है।

वैश्वीकरण के दवाब में विज्ञापन तथा मीडिया उद्योग अपना लाभ बढ़ाने के लिए लगातार स्त्री देह का शोषण करता रहा है। चिन्ता का विषय यह है कि उनका लक्ष्य कामुकता को एक बिक्री के वस्तु के रूप में ऊभारने का है। हमारे इर्द-गिर्द कामुकता का आक्रमक वातावरण तैयार करने का एक सुनियोजित अभियान जारी है। या वैश्वीकरण का बाजारी आक्रमण है। महिलाओं को इस मीठे जहर को पहचानना होगा। आर्थिक उदारीकरण और वैश्विक बाजार के शुरूआती दौर से ही यौन उच्छृंखला में वृद्धि होनी शुरू हो गयी थी। पूंजीवाद पहले भी था, परन्तु वह इतना लालची और बेलगाम नहीं हुआ था। आक्रमक पूंजीवाद समाज में भयावह विषमता पैदा कर रहा है और स्त्री को एक लुभावनी वस्तु बनाकर प्रस्तुत कर रहा है। बाजार जीवन का अनिवार्य अंग है। और उसका आधुनिकीकरण भी आवश्यक है। पर उन शर्तों पर नहीं जिससे हमारी संस्कृति, हमारी पहचान का जीवित रहना मुश्किल हो जाए। बदलाव अच्छे होते हैं और आवश्यक भी परन्तु आंधी की तरह नहीं जो सब कुछ तितर-बितर कर देती हैं, सब कुछ उड़ा ले जाती हैं। बदलाव मन्द-मन्द मलय समीर से हो जो मधुर अहसास कराएं। अकसर आधुनिक युवतियां का तर्क होता है, खूबसूरत चीज को दिखाने से परहेज क्यों ? यहां सवाल सौन्दर्य की अनुभूति हमें अनिवार्य रूप से कामुक नही बनाती। वह हमारे सौन्दर्य बोध को तृप्त करती है। स्त्री

का सौन्दर्य के प्रति संचत होना बुरी बात नहीं हैं। किंतु अपनी चेतना को उसके प्रमाण में तिरोहित कर देना अर्जित आत्मविश्वास की आंखों पर पट्‌टी बांध देना ही हैं। कामुकता की यह संस्कृति हमारे जीवन को एकायामी बना रही है। इस विनाशकारी संस्कृति में स्त्रियों को अपनी सही भूमिका पहचानने की आवश्यकता है। खुलेपन के नाम पर जो संस्कृति आज पनप रही है, वह भोग और संवेदनहीनता पर आधारित है। इससे कामुकता का बोलबाला बढ़ता हैं, इसके परिणामस्वरूप जो स्थितियाँ पैदा हो सकती हैं तो आज हमारे सामने है। ऐसे समाज में न सामाजिक मूल्य सुरक्षित रह सकते हैं, और न ही स्त्रियां। जरूरत हैं कि वह अपनी सही पहचान को स्वयं जाने और उसे स्थापित करें।

आज के भुमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण धरातल पर औरतों को ऐसा जघन्य अपमान तथा शोषण किसी भी युग में नहीं हुआ। दास प्रथा में औरत के साथ मर्द भी बिकता था, लेकिन भूमंडलीकरण के दौर में औरत को मर्द के बिकाउपन से अलग करके विशेष रूप से बेचा जा रहा है, वह केवल अपने आप में परिवार के लिए गुलामी नहीं कह रही है बल्कि अर्थ तंत्र के लिए गुलामी कर रही है। वह प्रवासी मजदूर है, नाचने-गाने मनोरंजन के नाम पर उसका यौन शोषण होता है, वधु बनाने के नाम पर वह यौन-दास है या सीधे-साधे कार्ल गर्ल के पेशे में लदी हुई हैं। महिलाओं की ये सारी भूमिकायें उसे विदेशी जमीन पर अजनवी आवो-हवा में जूती आरक्षित होकर आज निभानी पर रही है। भूमंडलीकरण के नाम पर ग्रामीण सीधी-सादी महिलाओं को इस व्यापार में लगाने का जो होड़ मचा हुआ हैं वह भूमंडलीकरण की नैतिकता की नीति का कलई खोल रहा हैं। भुमंडलीकरण के समर्थक ये तर्क देते है कि ग्रामीण महिलाओं को घर की चाहरदिवारी से बाहर निकालकर सार्वजनिक क्षेत्रों में रोजगार मुहाया कराया है, यह सच है कि इससे पारिवारिक बंधन भी कमजोर हुआ है और उनका शोषण भी कम हो रहा हैं। लेकिन जब हम वस्तु स्थिति नजर डालते है तो पाते है कि इससे महिलाओं के ऊपर काम का बोक्ष ज्यादा डाल दिया गया है। महिलाओं के संदर्भ में यह विचार खड़ा किया जा रहा है कि आज नारी से काफी आशाये आपेक्षित है, वे ऑफिस का काम संभालने के साथ-साथ घर के भी सारे कामों को बखूबी निपटा लेती है एवं इस तरह की नारी के विचारों का चित्रण मास मिडिया द्वारा हवा में उछाला जा रहा है। नारी से ऐसी आशा की जाती है कि ऑफिस के साथ-साथ घर के सभी सदस्यों की सेवा करके खुश रखे। बहुराष्ट्रीय कंपनी पेप्सिको की चेयरमैन और मुख्य कार्य अधिकारी इंद्रा नूयी और बायोकॉन के प्रमुख किरण शॉ मजूमदार की अध्ययन का उदाहरण प्रस्तुत करके यह बतलाया जा रहा है कि उन्हें भी रात को बच्चों को सुलाने के बाद ही बिस्तर नसीब होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि पावॅर वीमेन भी अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं हो पायी है। तथा नर-नारी के इस श्रम-विभाजन को तोड़ पाने की बाजार के पास न तो कोई तकनीक है ओर न ऐसी इच्छा है।

इस सबके अतिरिक्त भूमंडलीकरण का नाकारात्मक प्रभाव देखना है तो हम गांव की असंगठित महिलाओं पर देख सकते है चूंकि भुमंडलीकरण की वजह से रोजगार

अवसर कम हुए है। अत: मजदूरों को गांवों से शहर की ओर पलायन हुआ है, ऐसे में इन मजदूरों का परिवार गांवों में होता है जिसे चलाने की जिम्मेदारी महिलाओं की होती है, ये मजदूर शहरों में मजदूरी करके घर पैसे भेजते है जिसे इनके परिवार का भरणपोषण होता है, लेकिन किसी कारण वश पैसा नहीं भेज पाते है तो सारी जिम्मेदारी महिलाओं पर आ पड़ती हैं, भूमंडलीकरण ने एक ऐसा मृथ्या चेतना तैयार की है जिसमें औरतें स्वयं ही अपना शोषण करवाने एवं अपने-आप को वस्तु के रूप में अभिव्यक्ति करने के लिए प्रवृत हो रही हैं।

आज वैशविक समाज में जहां नैतिकता का महत्त्व समाप्त होते जा रहा है तथा मानव इस समाज में नैतिक मूल्यों एवं नैतिक कर्तव्यों को भूलकर स्वार्थपरक जीवन-यापन को अपना लक्ष्य बनता जा रहा है तथा मित्रता, प्रेम, त्याग, करूणा आदि नैतिक गुणों का सम्भवत: इस समाज में समापन होते जो रहता है एवं उसके स्थान पर ईष्या, द्वेष, हिंसा, क्रोध, घृणा, शत्रुता अमानवीयता, प्रतिस्पर्धा इत्यादि को आज वैश्विक स्तर अनैतिक गुणों का बोल-बाला बढ़ता जा रहा है, इसी कारण इस वैश्वीक समाज में नैतिकता की रक्षा एवं नैतिक मूल्यों एवं कतव्यों को जीवंतन बनाये रखने हेतु हम इस समाज का ध्यान ग्रामीण महिलाओं के समस्याओं पर तथा नैतिक आदर्शो की ओर ध्यान आकृष्ट करना आज के संदर्भ में मौलिक कर्तव्य ही है।

## संदर्भ ग्रंथ


1. अमित भादुड़ी + दीपक नय्यर-उदारीकरण का सच, 1996
2. भारत (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1992)
3. डॉ. प्रधान हरिशंकर प्रसाद एवं डॉ. मीरादत्त-वैश्वीकरण की चपेट में बिहार, 2001
4. Itihas ki Khoj Mein (Proceding-vol-V, No-2 Jan-June-2011)
5. प्रभात खबर (पटना) 1 जुलाई 2011
6. परीक्षा मंथन, इलाहाबाद, 2010-11
7. लिंग एवं समाज (समाजशास्त्र, नालन्दा खुला विश्वविद्यालय-पटना) 2005
8. भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास (समाजशास्त्र) बिहार स्टेट टेक्स्ट बुक पब्लिशिंग कॉरपोरेशन
9. दृष्टिकोण, अगस्त-2009 नयी दिल्ली
10. योजना
11. भारत 2011, प्रकाशन विभाग
12. प्रतियोगिता दर्पण, जून, 2011, आगरा
13. समाचार-पत्र
    (1) हिन्दुस्तान
    (2) प्रभात खबर
    (3) दैनिक जागरण
    (4) आज
    (5) The Time of India

# महात्मा गाँधी एवं लोहिया की दृष्टि में सामाजिक अवधारणा

**विश्व रंजन किरण**

***शोधार्थी छात्र, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया***

"जीवन एवं कर्म ये दो अति महत्वपूर्ण शब्द है। यद्यपि ये शब्द अलग-अलग हैं लेकिन दोनों शब्द अति घनिष्ठ रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरणार्थ यदि कर्म को जीवन से पृथक मान लिया जाय तो जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और जीवन को कर्म से पृथक कर दिया जाय तो कर्म मात्र एक शब्द बन कर रह जाता है। संसार में अनेक ऐसे महापुरूष हुए हैं जिन्होंने कर्म को जीवन का आधार बनाकर विश्व में अपने नाम की पताका फहराई है। प्रह्लाद एवं नचिकेता की उम्र क्या थी? इन दोनों बालकों ने अपने ऐतिहासिक कर्म के कारण ही जीवन के प्रारम्भिक वर्षो में ही इतिहास में अपना स्थान बना लिया। नचिकेता के तप का और प्रह्लाद के विश्वास का चरमोत्कर्ष ही उनके जीवन की अंतिम मंजिल बन गयी। कर्म के द्वारा ही विशिष्ट मनुष्य अल्पजीवन में ही समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है जबकि हजारों लाखों लोग पूरा जीवन जीने के बावजूद कर्म से विहीन होने के कारण अमरत्व प्राप्त नहीं कर पाते और आगे की पीढ़ी के लिए उनके जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि महापुरुषों का जीवन भी वर्षों और महीनों से नहीं बल्कि उनके निरन्तर कार्यशील रहने से जाना जाता है।"

गांधी एवं लोहिया भारतीय इतिहास के दो प्रकाश स्तम्भ रहे हैं जिनको आज भारत ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व उनके जीवन भर कर्मरत रहने के कारण जानता है। गांधी और लोहिया के बीच बहुत कुछ समानता थी। आन्तरिक मूल्यों की बात को लें तो लोहिया भी उतने ही "सत्यनिष्ठ थे और अहिंसावादी भी, जितने गांधी। यदि अन्तर था तो केवल इतना कि गांधी व्यक्तित्व की उस ऊँचाई पर खड़े थे जहाँ से वह सत्य और अहिंसा का आचरण करते हुए दूसरे का भी आह्वान कर सकें कि वे सत्य और अहिंसा का अनुशरण कर सके। लोहिया अपने स्वयं के आचरण में पूरी तौर पर सत्य और अहिंसा का पालन करते थे किन्तु अपने को उतना बड़ा नहीं मानते थे कि ऐसा करने के लिए औरों का आह्वान कर सकें। यदि गांधी सत्याग्रही थे तो लोहिया और बड़े सत्याग्रही थे। वे सतत सत्याग्रह की ही बात करते थे। उन्होंने सत्याग्रह का एक दर्शन ही निर्मित किया था जहाँ किसी भी स्तर के अन्याय के विरुद्ध व्यक्तिगत या सामूहिक सत्याग्रह की अनिवार्यता को माना गया था। गांधी ब्रह्मचर्य का आचरण करते थे और कम से कम अपने आश्रम में रहने वालों से उसके

निर्वाह की अपेक्षा करते थे किन्तु आजीवन अविवाहित रहते हुए भी लोहिया ने ब्रह्मचर्य का कोई सिद्धान्त या व्यवहार नहीं स्वीकार किया था।

"मार्क्स-गांधी और सोशलिज्म" नामक ग्रन्थ में लोहिया जी ने गांधी जी के विषय में स्पष्ट लिखा है कि गांधी उन दार्शनिकों में से नहीं थे जो शब्दों की व्याख्या करके दर्शन की व्याख्या करते थे। कर्म को आधार मानकर दर्शन की व्याख्या करने वाले दार्शनिक बहुत कम ही होते हैं। गांधी मूलरूप से एक उदारवादी दार्शनिक थे। गांधी का भगवान, सत्य या उनकी आन्तरिक आवाज आध्यात्मिक शब्दावली के दृष्टिकोण से अलग-अलग नहीं बांटे जा सकते। नैतिक रूप में ये सारे शब्द एक ही थे। वे पूर्णतः आध्यात्मिक थे, ईश्वर एवं भगवान की बात वे बहुत करते हैं पर उनके ईश्वर का स्वरूप कैसा है इसकी वह व्याख्या नहीं करते। उन्होंने अपने जीवनकाल में कुछ शब्दों को ईश्वर के समतुल्य ही समझा। इनमें न्याय एक था। स्वतन्त्रता को भी वह ईश्वरीय पावनता की दृष्टि से देखते थे। अहिंसा, लोकहित, सत्य आदि ये सभी शब्द उनके ईश्वरीय संवेदना के शब्द थे। यह गांधी जी का व्यक्तित्व ही था, जो इन सबको एक साथ अपने व्यक्तित्व से जोड़कर चलता था।

गांधी ने जिस प्रकार दर्शन के लचीलेपन और कर्म की दृढ़ता को एक में पिरोया था, वह अद्वितीय है। सामान्य रूप से दार्शनिक स्तर पर गांधी के उदार और आध्यात्मिक जीवन दर्शन को अस्वीकार किया जा सकता है पर जिस प्रकार उन्होंने इस समस्त विविधताओं को अहिंसा के आधार पर कर्म प्रधान बनाकर खड़ा किया था। वह उस लचीलेपन को एक साकार रूप देता था। उन्होंने आजादी के अधिकार और अन्याय के विरूद्ध संघर्ष को जिस प्रकार अहिंसा के साथ जोड़ा था, उसने गांधी के उदार लचीले जीवन दर्शन को एक निर्विवाद दृढ़ता दे दी थी। यह गांधी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी। शत्रु के प्रति भी कुभाव न रखने की भावना ने उनके उदार व लचीले दर्शन को अद्वितीय दृढ़ता प्रदान की थी। डॉ. लोहिया गांधी की इस महानता और दूरदर्शिता के प्रशंसक थे। लोहिया जी का मानना था कि परमाणुबम जैसे विनाशकारी हथियार का एकमात्र अवरोधक गांधी की अहिंसा और सिविल नाफरमानी है। वह परमाणु हथियार और अहिंसा को आमने सामने रखकर देखते थे और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जितनी तीव्र संभावना एटमबम में सार को नष्ट कर देने की है उससे कहीं अधिक शक्ति गांधी के अहिंसा नामक शस्त्र से सृष्टि को बचाने की है।

"मार्क्स गांधी और सोसलिज्म" की भूमिका में लोहिया लिखते हैं कि "आज से पन्द्रह वर्ष पहले मैंने यूरोप के किसी राजधानी में कहा था कि हमारे युग की दो मौलिक चीजें हैं। एक एटमबम और दूसरा महात्मा गांधी यह दोनों ही एक दूसरे को खत्म होने के पहले ही खत्म कर सकती है।" डॉ. लोहिया इतने बड़े सत्य को हृदयंगम करने के बाद लिखते हैं "क्या गांधी और एटमबम एक दूसरे को पूरी तरह

नष्ट कर सकते हैं? और यदि ऐसा सम्भव है तो मुझे एक अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा का आन्दोलन का सूत्रपात पहले ही करना चाहिए था।"

गांधी जी के प्रति कहे गये डॉ. लोहिया के उपर्युक्त दो वाक्यों से ही यह स्पष्ट हो जाती है कि डॉ. लोहिया, गांधी विचारों का कितना सम्मान करते थे। लोहिया जी ने कहा है कि आज का सर्वाधिक विनाशकारी हथियार एटमबम "नाम" एवं "देहधारी" को तो खत्म करने के साथ अपने को भी समाप्त कर सकता है पर क्या वह अहिंसा के सिद्धान्त को खत्म कर पायेगा? क्या वह मनुष्य के सात्विकता और नैतिक जिजित्सा को नष्ट करने में समर्थ होगा। हिंसा, पापाचार, युद्ध, घृणा, और द्वेष से घिरे आज के विश्व का कल्याण लोहिया जी के अनुसार केवल गांधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन से हो सकता है।

डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा जी कहते हैं "गांधी ने यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति के रूप में किया था, पर डॉ. लोहिया ने उसमें व्यष्टि और समष्टि को शामिल करके राजनैतिक और नैतिक आधार पर संयोजित करने की कोशिश की थी। वह व्यक्ति में ऐसी शक्ति पैदा करना चाहते थे जिससे वह अन्याय का मूकदर्शक बनने या उसके सामने सिर झुकाने के बजाय उससे जूझने और संघर्ष करने की शक्ति पा सके।" इस प्रकार डॉ. लोहिया गांधी के अहिंसा में इतनी बड़ी शक्ति का दर्शन किये जो कि नैतिक शक्ति के आधार पर सम्पूर्ण विश्व को संहार से बचाने की छमता रखती है। वे गांधी के इस सिद्धान्त को केवल भारत के सन्दर्भ में ही नहीं अपितु विश्व में भी लागू करके इसका प्रयोग चाहते थे। पक्षधर थे। उनका स्पष्ट मत था कि विश्व के सामने केवल दो ही विकल्प प्रस्तुत है। प्रथम वह विनाशकारी हथियारों का प्रयोग कर अपनी सम्पूर्ण सभ्यता, संस्कृति के विनाश के साथ-साथ स्वयं अपना विनाश कर लें और द्वितीय यह कि अहिंसा का मार्ग अपना कर अपनी और संसार की रक्षा करें। अहिंसा की शक्ति द्वारा ही मनुष्य अब तक के भयानक और महा विनाशकारी युद्ध से बच सकता है। इस प्रकार यही वह बिन्दु है जहाँ यह प्रतीत होता है कि एक मनस्वी के रूप में डॉ. लोहिया ने गांधी एवं उनके अहिंसात्मक आन्दोलन को पूर्णतया विकसित करने का प्रयास किया।

डॉ. लोहिया सिविल नाफरमानी को अहिंसा का सबसे महत्वपूर्ण अंग मानते थे। उनका निश्चित मत था कि राज्य की हिंसात्मक कार्यवाईयों का मौलिक अधिकारों में हस्तक्षेप के विरुद्ध सिविल नाफरमानी सबसे कारगर हथियार है। जब सरकार आँख मूँद कर किसी अनुचित मुद्दे पर निर्णय ले रही हो उसे जनता की भावनाओं का कोई ख्याल न हो उस समय सिविल नाफरमानी द्वारा ही अन्याय का विरोध करने से ही जनतन्त्र की रक्षा हो सकती है। केवल संसद द्वारा कानून बना देने के आधार पर ही मौलिक अधिकारों पर निरन्तर होने वाले हमलों को नहीं रोका जा सकता। लोहिया ने बताया कि गांधी जी ने निरंकुश स्थितियों से मुक्ति पाने के लिए ही सिविल

नाफरमानी रूपी हथियार को उपयोगी बताया था। जब देश में भूखमरी की स्थिति हो अन्याय और जुल्म अपनी सरहदों को पार कर चुका हो तो उस समय सिविल नाफरमानी ही एक मात्र ऐसा विकल्प बच जाता है जिसका उपयोग कर व्यापक हिंसा से बचा जा सकता है। सिविल नाफरमानी द्वारा ही सत्ताधिकारियों को चेतावनी दी जा सकती है, जनता के प्रति होने वाले अन्यायों का प्रतिकार किया जा सकता है तथा निहित स्वार्थों पर चोट किया जा सकता है। हाँ, इतना ध्यान अवश्य होना चाहिए कि इसका प्रयोग समझबूझ कर करना चाहिए। किसी भी जनतान्त्रिक मुद्दों पर जब सारे संवैधानिक रास्ते बन्द हो चुके हों और किसी रूप में सत्ताधिकारियों की मदांधता को चूर करना असम्भव हो जाय ऐसी स्थिति में सविनय अवज्ञा ही एकमात्र विकल्प बच जाता है। लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक को अनीतिपूर्ण कानूनों और सत्ता की गलतियों के खिलाफ विरोध करने का पूर्ण अधिकार है। सत्ता को सदैव जनता के इस अधिकार का आदर देना चाहिए जिस दिन सिविल नाफरमानी करने वाली जनता मर्यादाओं को तोड़ेगी अथवा सत्ता बहसी या अन्धी होकर सविनय अवज्ञा का आदर नहीं करेगी, उसी दिन आतंकवाद का जन्म होगा जो कि सम्पूर्ण समाज के लिए घातक तो होगा ही, राष्ट्र को भी समाप्त कर देगा।

इस प्रकार लोकतांन्त्रिक व्यवस्था की गैर जिम्मेदारियों और अन्याय के खिलाफ महात्मा गांधी के सत्याग्रह एवं सविनय अवज्ञा को लोहिया जी लोकमत की अभिव्यक्ति का अन्तिम साधन मानते थे। प्रारम्भ में जब सत्ता स्थापित होती है तो वह जनभावनाओं का आदर करती है परन्तु धीरे-धीरे जब पूर्ण रूप से स्थापित हो जाती है तो उसमें जड़ता आती है। इसके बाद बहुमत की शक्ति होती है और इस बहुमत रूपी अन्धता के बल पर वह शक्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए अन्धा आचरण करने लगती है। ऐसे कानून बना देती है जिससे जनता के मूल अधिकारों का हनन होने लगता है। ऐसी विकट स्थिति में जनता के पास केवल दो ही विकल्प खुले रह जाते हैं—या तो वह इस अत्याचारी शासन से मुक्ति पाने के लिए पांच वर्ष बाद चुनाव की प्रतीक्षा करे या तो उसके विरुद्ध संघर्ष कर ऐसे काले कानूनों को वापस लेने के लिए बाध्य करे। गांधी और लोहिया दोनों के अनुसार ऐसे कानूनों का स्वीकार करना, सत्य की हत्या करने के समान है इसलिए आवश्यक है कि असत्य को मिटाने के लिए सत्याग्रह एवं सविनय अवज्ञा का सहारा लिया जाय। लोहिया तो यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे काले कानूनों को तोड़ना इनके विरुद्ध जेल जाना, कानून तोड़ने के आरोप में जेल जाना, कानून तोड़ने के आरोप में दण्ड भोगना या उसके लिए अन्ततः मृत्यु दण्ड तक को हंसते स्वीकार कर लेना, परिवर्तन एवं बदलाव लाने का एकमात्र उचित साधन है।

कुछ लोग यह कुतर्क करते हैं कि गांधीजी ने सत्याग्रह एवं सिविल नाफरमानी का प्रयोग भारत से विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए किया था। ऐसे लोगों

के अनुसार इनका प्रयोग एक लोकतांत्रिक देश में स्वदेशी शासन के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसे तर्क शास्त्रियों को उत्तर देते हुए लोहिया जी ने कहा कि गांधी जी ने इन शास्त्रों का प्रयोग अन्याय के विरुद्ध करने के लिए किया था। इस प्रकार अन्याय केवल विदेशी शासन में ही नहीं हो सकता अपितु स्वदेशी शासन में भी हो सकता है। प्रशासन जब मानवीय स्वतंत्रता में अनावश्यक हस्तक्षेप करता है तो वह स्वयं भी अनैतिक हो जाता है ऐसी परिस्थिति में गांधी जी ने कहा कि जब हर प्रकार से यह प्रतीत हो कि वर्तमान शासन पूर्णत: अन्याय पर ही उतारू है तो उसके खिलाफ सत्याग्रह करना या सविनय अवज्ञा करके जेल जाना पूर्णत: उचित है। 1942 के आन्दोलन के पूर्व 8 अगस्त को गाँधी जी ने सत्याग्रह के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था कि "सत्याग्रह में धोखे, जालसाजी या किसी प्रकार के झूठ के लिए जगह नहीं है। धोखा और झूठ आज दुनिया पर हावी है। ऐसी स्थिति में चुपचाप नहीं बैठ सकता अगर आज मैं चुपचाप निष्क्रिय बैठा हूँ तो ईश्वर मुझे फटकार देगा कि जब सारी दुनिया में आग फैल रही थी तब मैंने उसके दिये खजाने का प्रयोग क्यों नहीं किया। ..... अब स्थिति असह्य हो गयी है।" गांधी जी के इस व्याख्या को डॉ. लोहिया व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तरों पर अनिवार्य मानते थे। लोहिया को गांधी के सत्याग्रह सिद्धान्त से एक क्रान्तिकारी दृष्टि मिली थी। "धोखा" एवं "झूठ" जब चरम पर हों तो निष्क्रिय होकर बैठा नहीं जा सकता। अर्थात् जब स्थिति असहाय हो जाय तब "सत्याग्रह" एवं सिविल नाफरमानी का प्रयोग करके अन्याय का प्रतिरोध करना जीवन का एक अनिवार्य उद्देश्य बन जाता है। डॉ0 लोहिया ने सिविल नाफरमानी अकेले भी की है और सामूहिक स्तर पर समाजवादी आन्दोलन के माध्यम से की है। उन्होंने अकेले ही अनेकों बार धारा 144 का उल्लंघन कर गिरफ्तारियां दी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मिसीसिपी राज्य के एक गांव में रंगभेद नीति के खिलाफ उन्होंने अकेले वहाँ के कानून को तोड़ा था। गोवा के स्वतंत्रता आन्दोलन में उन्होंने अकेले सत्याग्रह किया। इसी प्रकार उ. पू. सीमान्त प्रदेश (नेफा) में उन्होंने सरकार द्वारा लगाये गये निषेधाज्ञा का उल्लंघन अकेले किया। यह उल्लंघन उन्होंने सात बार किया इस प्रकार डॉ. लोहिया की यह अवज्ञा देखने में नाटकीय लग सकती है, परन्तु इस नाटकीयता में इच्छा शक्ति की तीव्रता की महत्वपूर्ण झलक को एकदम नकारा नहीं जा सकता। वे सत्याग्रह एवं सिविल नाफरमानी नामक अहिंसात्मक विरोध को किसी सीमा तक मानते थे उपर्युक्त उदाहरण इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

डॉ. लोहिया ने गांधी जी के सिविल नाफरमानी के सिद्धान्त को भी सतत् सत्याग्रह के सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया था। गांधी जी ने तो कहीं कहीं किन्हीं अन्यायमूलक कानूनों को तोड़कर सिविल नाफरमानी का अभियान चलाया था किन्तु डॉ. लोहिया तो यह मानते थे कि जबतक समाज में अन्याय होगा तबतक उसका प्रतिकार भी सत्याग्रह के द्वारा होता रहना चाहिए। चाहे यह अन्याय व्यक्तिपरक हो

अथवा सत्ता या समाज द्वारा। प्रतिकार को उन्होंने अनिवार्य माना है। लेकिन डॉ. लोहिया के वल सत्याग्रह के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले विचारक नहीं थे वे स्वयं भी जीवन भर राज्य के विरुद्ध सत्याग्रह करते रहे, न केवल अपने देश के भीतर सत्याग्रह किया और जेल गये सुदूर अमेरिका में जाकर रंग-भेद के विरुद्ध सत्याग्रह किया और जेल गये। उनका यह मानना था कि जबतक अन्याय का प्रतिकार नहीं होता रहेगा अन्याय एकत्रित होकर बहुत शक्तिशाली रूप धारण कर लेगा और तब अहिंसात्मक तरीके से उसके प्रतिकार में कठिनाई होगी। इसलिए वे सत्याग्रह को एक स्वस्थ समाज का सदा चलने वाला आचरण मानते थे।

डॉ. लोहिया गांधी जी के सत्याग्रह एवं सिविल नाफरमानी सिद्धान्त की ही भाँति उनके आर्थिक नीति से भी बहुत प्रभावित थे। यद्यपि डॉ. लोहिया मार्क्स के आर्थिक चिंतन एवं पूँजी के प्रति इसके दृष्टिकोण के काफी दूर तक समर्थक थे। इन्होंने कई जगह यह बात स्वीकार की है कि पूँजी के प्रति निषेध का उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ मार्क्स के द्वारा निर्मित हुआ था। वे मानते थे कि मार्क्स ने उन्हें एक ऐसी दृष्टि दी है जिसके कारण पूँजी के प्रति उनका पूरी तरह मोहभंग हो चुका है किन्तु भारतीय समाज के आर्थिक पुर्नरचना कानून का दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। उनके चिंतन में विकेन्द्रित व्यवस्था ही सबसे बड़ी सच्चाई है। यही दृष्टिकोण गांधी जी का भी था। लोहिया के अनुसार जिस प्रकार समाज की इकाई व्यक्ति है वैसे ही समूह की इकाई गांव। व्यक्ति के आत्मनिर्भरता और उसके स्वावलम्बन का वह गांव की इकाई में ही फलीभूत होना देखना चाहते थे। उनकी कल्पना के अनुसार स्वावलम्बी व्यक्तियों को समूह गाँव है वे चाहते थे कि भारत के गाँव स्वाधीन और स्वाबलम्बी इकाई बन सके। ऐसा होने से गांवों का समूह "गणतंत्र" भी स्वाबलम्बी होगा। ऐसे स्वाबलम्बी आत्मनिर्भर गणतंत्र का जनपद भी आत्मनिर्भर होगा। और ऐसे स्वाबलम्बी जनपदों का समूह भी स्वाबलम्बी राष्ट्र बनेगा। इस प्रकार वे आर्थिक केन्द्रीकरण के प्रबल विरोधी थे। लोहिया के अनुसार विकेन्द्रीकरण द्वारा ही गांव एवं गांव में रहने वालों में स्वाबलम्बी होने की प्रवृत्ति विकसित होगी। फलत: व्यक्तिगत व सामूहिक जीवन में आत्मनिर्भरता आयेगी। उनका विश्वास बड़े-बड़े यन्त्रों पर कभी भी नहीं थी। वे बार-बार इस बात को बलपूर्वक कहते थे कि मशीन को मनुष्य के नियन्त्रण में होना चाहिए न कि मनुष्य को मशीन के नियन्त्रण में। वे बड़े-बड़े केन्द्रीय यंत्रों पर चाहे जहाँ कहीं भी कुछ कहा है डॉ. लोहिया ने गांधी जी की इच्छा को बड़ी गहराई से पकड़ा है। उनका मानना है कि पश्चिमी देशों के चकाचौंध से घिरकर भारतीय समाज आधुनिकतम यंत्रों और औजारों पर अधिक निर्भर होने लगा है। फलत: उसका स्वावलम्बी व्यक्तित्व धीरे-धीरे खण्डित होता जा रहा है वे चाहते थे कि देश में बड़े-बड़े उद्योगों पर अधिक जोर न दिया जाय और ऐसे उद्योगों को केवल उसी स्थिति में लगाया

जाय, जबकि इनके बिना अन्य कार्य सम्भव ही न हो पाये। इनकी अपेक्षा लोहिया का विचार था कि छोटे-छोटे कुटीर उद्योग गांवों में चलाये जांए और उनके सहारे भारत की आर्थिक पुर्नरचना हो। सत्ता और अर्थ के विकेन्द्रीकरण का जो आधार गांधी की दृष्टि का मूल था, उसे लोहिया ने वैज्ञानिक चिन्तन के द्वारा और अधिक पुष्ट किया। गांधी ने अपनी दृष्टि का निर्माण किया तो उनका एक मुख्य लक्ष्य भारत की आजादी भी थी।

डॉ. लोहिया आर्थिक नीतियों के विषय में भी गांधी जी के सकारात्मक पक्ष के पक्षधर थे। लोहिया खर्च को एक सीमा में बांधने और आमदनी के अधिकतम और पूर्णतम सीमा निर्धारण के पक्षधर थे। जो कट्टर गांधीवादी हैं वे आज भी लोहिया के खर्च पर सीमा बांधने की आलोचना करते हैं परन्तु वहाँ वे यह भूल कर जाते हैं कि डॉ. लोहिया गांधी जी के नैतिक अनुरोध को व्यावहारिक और कानूनी स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। लोहिया का यह विचार था कि मनुष्य की कुछ मूलभूत या बुनियादी कमजोरियाँ है जिन्हें केवल नैतिकता के दुहाई के आधार पर समाप्त नहीं किया जा सकता है। इन कमजोरियों को समाप्त करने के लिए कानून एवं दण्ड का सहारा लेना अनिवार्य है। इसलिए लोहिया, गांधी जी के नैतिकवादी दृष्टिकोण को पूर्णरूपेण स्वीकार करते हुए उसे व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से नैतिक आग्रह के साथ साथ वैधानिक रोक को भी आवश्यक समझते थे।

डॉ. लोहिया गांधी जी के सभी रचनात्मक कार्यक्रमों जैसे ग्रामोद्योग, ग्राम स्वायत्ता , पंचायत, विकेन्द्रीकरण, रामनीति, खर्च की सीमा आय पर नियंत्रण आदि सिद्धान्तों को राष्ट्र स्तर पर लागू करना चाहते थे। वे गांधी जी के विदेश नीति सिद्धान्त की व्याख्या नये सन्दर्भ में किये। यह स्पष्ट है कि गांधी के विदेश नीति का आधार विश्व बन्धुत्व है। लोहिया इसी विश्व बन्धुत्व को विश्व नागरिकता के रूप में सर्वथा नया रूप देते थे। वे गांधीजी के स्वदेशी नीति के प्रबल समर्थक थे। लोहिया मंत्रियों के विदेश में जाकर रहने एवं अपना एवं अपने पूरे परिवार का इलाज कराये जाने के सख्त खिलाफ थे। उनका कहना था कि अपने देश के अस्पतालों की हालत में तब तक सुधार नहीं आ सकता, जब तक स्वयं बड़े मंत्री एवं अधिकारीगण उन अस्पतालों में अपना इलाज नहीं कराते हैं। वे गांधीजी के "स्वदेशी" की अवधारणा की सर्वथा नये रूप में व्याख्या किये। लोहिया जी के अनुसार स्वदेशी का अर्थ यह था कि जब तक असम्भव न हो जाय, तक तक अपनी देशी क्षमता पर ही निर्भर रहा जाय। इस प्रकार उन्होंने गांधी जी के स्वदेशी अवधारणा को एक नया विस्तार दिया। "स्वदेशी" के इस स्वरूप को लोहिया जी ने अपने आधार एवं व्यवहार में पूर्ण रूप से उतारा। उनके कथनी और करनी में नाम मात्र का भी विभेद नहीं था। एक बार जब वे गम्भीर रूप से बिमार हो गये तो मित्रों एवं शुभेच्छुओं के लाख अनुरोध के बावजूद भी उन्होंने अपना ऑपरेशन दिल्ली के विलिंगटन अस्पताल में ही करवाने का निर्णय

लिया और विदेश नहीं गये। इस क्रम में दस दिनों तक उन्हें अस्पताल में जीवन और मृत्यु की असह् वेदना भोगनी पड़ी और अन्ततः उनकी मृत्यु भी हो गयी। यह उनके जीवन का अन्तिम मार्मिक प्रसंग है। किन्तु इसके पीछे (स्वदेशी) कथनी और करनी का सिद्धान्त उनके स्वयं के अपने जीवन से कितना जुड़ा था, इसका एक प्रमाण है।

डॉ. लोहिया गांधी जी के राष्ट्र के शिक्षा नीति के पूर्ण समर्थक थे। उन्होंने जब समता विद्यालय की संकल्पना की तो उन्होंने किताब और मस्तिष्क के साथ फावड़ा और हाथ को जोड़ने का प्रयास किया। इस प्रकार लोहिया जी ने मानसिक अनुशासन और शारीरिक श्रम दोनों को एक साथ जोड़ने का प्रयास किया।

लोहिया जी ने बड़े करीब से देशी स्कूलों एवं उनकी शिक्षा पद्धति की दुर्दशा को देखा था। उन्होंने यह भी देखा कि इस देश में शिक्षा किस प्रकार अमीर और गरीब, बड़े और छोटे के आधार पर अलग अलग रूपों में बंटी है। अमीरों एवं नवधनाद्यों के लिए अलग विद्यालय है, जिसमें समस्त सुविधाओं के साथ साथ अंग्रेजीयत का पूर्ण समावेश है, जबकि गरीब के बच्चों के स्कूल में जो आधारभूत सुविधाएँ होनी चाहिये, उनका भी पूर्णतः अभाव है। उसमें गन्दगी है, अभाव है एवं हीन भावना पैदा करने वाला है। इन सब परिस्थितियों का अवलोकन करने के पश्चात् लोहिया जी ने नारा दिया कि देश में शिक्षा का स्वरूप तब तक नहीं सुधरेगा जब तक स्कूल एक समान हीं होंगे। शिक्षा पाने के लिए अमीर एवं गरीब का भेद नहीं मिटेगा। उनका स्पष्ट विचार था कि जब तक राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री का बालक और चपरासी का बालक एक माहौल में नहीं पढ़ेगें तब तक सार्वजनिक शिक्षा की स्थिति कभी नहीं सुधरेगी। वे शिक्षा को गांधी जी से सहमत होते हुए निःशुल्क बनाने के पक्षधर थे। अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों को तत्काल बन्द किये जाने के पक्षधर थे। उनका विचार था कि राष्ट्रीय भाषाओं की उपेक्षा करने और अंग्रेजी को बढ़ावा दिये जाने के कारण ही विद्यार्थियों की प्रतिभा कुंठित एवं क्षीण होती है।

स्वदेशी भाषाओं के विकास के सन्दर्भ में गांधी जी के क्रान्तिकारी विचारों से डॉ. लोहिया गहराई तक जुड़े हुए थे। गांधी जी ने स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई में जितना समय देश को स्वतंत्र कराने में लगाया उतना ही राष्ट्रभाषा आन्दोलन में भी। उनके अनुसार मुक्ति आन्दोलन में राजनैतिक स्वतंत्रता और वाणी की स्वतंत्रता दोनों को समान महत्व है। लोहिया भी गांधी के समान ही लोकतंत्र की प्रतिष्ठा के लिए देशी भाषा की प्रतिष्ठा को जरूरी समझते थे। उनका कहना था कि अंग्रेजी भाषा अब हिन्दुस्तान के सार्वजनिक मामलों से खत्म हो जाना चाहिए। इसमें देर करने से न केवल भाषा का मसला ही उलझ एवं बिगड़ जायेगा, बल्कि इससे देश की अन्य समस्याएँ भी उलझ कर रह जायेंगी। वे केवल अंग्रेजी भाषा को देश से इसलिए समाप्त नहीं करना चाहते थे क्योंकि यह एक विदेशी भाषा है, बल्कि इसलिए भी कि यह देश के जनसामान्य की भाषा नहीं है। डॉ. लोहिया का विचार था कि ऐसी

भाषा (अंग्रेजी) में जितना चाहे झूठ बोलिए, धोखा कीजिए, सब चलता रहेगा, क्योंकि लोग समझेंगे ही नहीं। अंग्रेजी चूँकि साम्राज्यवादी और शोषण की भाषा है इसलिए जब तक वह प्रचलित रहेगी, तबतक देश का मानस साम्राज्यवादी आतंक से जकड़ा रहेगा और शोषण का क्रम भी दृढ़ होता रहेगा अर्थात् जब तक अंग्रेजी की बीमारी बनी रहेगी, तब तक ईमानदारी कायम ही नहीं हो सकती। लोहिया जी का कहना है कि अंग्रेजी के समाप्त होते ही ईमानदारी आ जायेगी। वह लोकभाषा, लोक-भूषा एवं लोक भवन को राष्ट्रीय अस्मिता के लिए अपरिहार्य मानते थे। गांधी की भांति डॉ. लोहिया भाषा नीति के सन्दर्भ में पूर्णतः स्पष्ट एवं सुदृढ थे। मनुष्य जब तक अपनी मातृभाषा से नहीं जुड़ेगा, मातृ-भाषा एवं मातृ-भवन के प्रति अगाध प्रेम नहीं रखेगा तब तक उसके जीवन पद्धति और चिन्तन शैली में मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

## सहायक ग्रन्थ-सूची


- राममनोहर लोहिया : भारत में समाजवाद कैसे, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, 1968
- राममनोहर लोहिया : समाजवादी एकता, समाजवादी प्रकाशन, हैदराबाद।
- राममनोहर लोहिया : जातिप्रथा, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, 1964.
- ए. आर. देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि मैकमिलन, दिल्ली, 1977.
- पट्टाभि सीता रमैया : महात्मा गांधी का समाजवाद, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1956.
- रामजी सिंह : समाज दर्शन के मूल तत्व, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1980.
- मुख्तार अनीस (संपा.) : लोहिया : एक बहुआयामी व्यक्तित्व, 2 पार्क रोड, लखनउ, 1984.
- ओंकार शरद : लोहिया के विचार, लोक भारती, इलाहाबाद, 1978.
- Bhagavan Das : The Science of Sociel organisations, I, II, III, Anand Publishing House, Banaras, 1943.

गांधी जी और समाजवाद, मजदूर किसान नीति, अंक 4, अभिनव वर्मा, फरवरी, 1980.

***समाचार-पत्र :***

- हिन्दुस्तान
- दैनिक जागरण
- प्रभात खबर
- आज
- सन्मार्ग

***पत्रिका :***

- इंडिया टूडे
- योजना
- स्वदेशी पत्रिका
- प्रतियोगिता दर्पण
- कुरूक्षेत्र।

# सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता और उत्पादन के मुद्दे

डॉ. बबली कुमारी

पुरुष का अधिकार सिर्फ स्त्री की लैंगिकता और जनन क्षमता तक ही सीमित नहीं है। बल्कि उसकी उत्पादक क्षमता और श्रम शक्ति पर भी पुरुष का ही अधिकार है। पुरुष को जिस तरह नारी की लैंगिकता और उसकी लैंगिकता के फल पर नियंत्रण रखने का अधिकार है उसी प्रकार उसके श्रम और उसके श्रम से मिलने वाली आमद पर भी उसे ही अधिकार है। उत्पादन की प्रक्रिया में उसकी भागीदारी कितनी है इससे उसके योगदान को नहीं आंका जाता क्योंकि उत्पादन के संसाधनों के मामले में वह पुरुष पर आश्रित है। उसकी हैसियत सिर्फ घरेलू मजदूर की है। घर या आश्रय के मामले में भी वह पराश्रित मानी जाती है, क्योंकि कानूनन और रीति-रिवाज के अनुसार वैवाहिक घर बनाने का अधिकार भी पुरुष को ही है। जन-मानस में यह धारणा गहरी बैठी हुई है कि पुरुष ही आश्रयदाता और अन्नदाता है। इसलिए इसमें कोई अचरज नहीं कि खेती-बाड़ी और अन्य उत्पादक कार्यों में महिलाओं की भूमिका को गौण माना जाता है। उसकी आमदनी पर उसका कोई नियंत्रण नहीं रहता क्योंकि वह अपने पति के घर में रहती है और उसी की कमाई खाती है। ये बात दीगर है कि एक तरह से वह भी कमा रही होती है। यह तर्क उस स्थिति में भी लागू होता है, जहां स्त्री दिहाड़ी मजदूर का काम कर रही हो। अर्थ-व्यवस्था में महिला के योगदान को मान्यता नहीं देना या उसे बिल्कुल कम करके आंकना कोई अलग बात नहीं है। इसके सूत्र पितृसत्तात्मक विचारधारा से जुड़े हैं जिसका प्रचार तरह-तरह से किया जाता है।

श्रम के लैंगिक विभाजन के आधार पर पेशागत पार्थक्य के कारण शिक्षित महिलाओं की एक बड़ी संख्या नर्सिंग, अध्ययन और क्लर्की जैसे कामों में पाया जाता है। गिनी चुनी महिलाएं ही इंजीनियरिंग, प्रौद्योगिकी, विज्ञान, राजनीति और प्रशासन को अपना व्यवसाय बना पाती हैं। व्यावसायिक पार्थक्य के इस पैटर्न और कार्यकारी अधिकारी और नेतृत्व वाले पद-स्थानों से महिलाओं को बाहर रखे जाने के कई कारण हैं। पहला कारण है, परिवार में समाजीकरण और स्कूली शिक्षा जो सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाओं को स्थापित करते हैं। इसका यही मतलब है कि इनके जरिए पुरुष और स्त्री के लिए उचित गुणों और आचरण की सांस्कृतिक परिभाषा बताई जाती है और उन्हीं के अनुसार उन्हें ढाला जाता है। स्कूल में लड़कियों को ऐसे कुछ सीमित व्यवसायों की ओर जाने की सीख दी जाती है, जिन्हें स्त्रियोचित और पत्नी और उनकी मुख्य लिंग भूमिकाओं की जरूरतों के अनुरूप प्रतिष्ठा और

विशेषाधिकार रखने वाले व्यावसायिक पदों के वितरण में लैंगिक समानता कहीं नजर नहीं आती।

अब हम सामाजिक लिंग सोच संबंधों को जाति, धर्म और विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं के प्रकाश में देखेंगे।

भारत के सिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास कहते हैं: ''इसके (भारती नारी के बदलती स्थिति के) कई आयाम हैं और विभिन्न अंचलों, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों, वर्गों और विभिन्न धार्मिक, जातीय और जाति समूहों में भारी अंतर होने के कारण सामान्यीकरण असंभव है।'' प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर भी कहती हैं कि ''भारतीय उपमहाद्वीप के अंदर महिलाओं की स्थिति में असंख्य अंतर विद्यमान हैं जो सांस्कृतिक परिवेश, पारिवारिक ढांचे, वर्ग, जाति, संपत्ति अधिकारों और नैतिक मूल्यों के अनुसार अलग-अलग दिशा में बिखर जाते हैं।''

प्राचीन समाज में नारी की स्थिति क्या थी इसका सही-सही आकलन करने के लिए स्तरीकरण पद्धति का संक्षेप में उल्लेख करना जरूरी है जिसकी अभिव्यक्ति वर्ण और जाति व्यवस्था में मिलती है। नारी के श्रम और उसकी लैंगिकता पर नियंत्रण बनाए रखने की युक्ति के रूप में जाति, अंतर्विवाह जैसी विशेषता, समूहों को पृथक करने के साथ-साथ महिलाओं की गतिशीलता को नियंत्रित करने वाली शुद्धि और अशुद्धिता की धारणाएं इसमें बहुत महत्व रखती हैं। महिलाओं को कुछ खास तरह के काम तो पुरुषों को कुछ खास तरह के काम करने होते हैं। जैसे खेती बाड़ी में महिलाएं पानी लगाने, रोपाई करने, गुड़ाई-निराई जैसे काम तो कर सकती है लेकिन वे हल नहीं चला सकती हैं।

फिर समूह विशेष के ऊर्ध्वगामी होने यानी उसका सामाजिक स्तर ऊंचा होने पर महिलाओं को बाहरी काम से हटा दिया जाता है। महिलाओं को कुछ खास क्रिया-कलापों से रोकने और उन्हें कुछ विशेष अधिकारों से वंचित करने वाले अप्रत्यक्ष नियम भी प्रचलन में हैं। लेकिन पितृसत्ता की सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रतीकवाद के जरिए होती है। यह प्रतीकवाद विदंतियों और आनुष्ठानिक रीति-रिवाजों के जरिए स्त्रियों की हीनता उनकी तुच्छता का संदेश प्रचारित करता है। किंवदंतियों में नारी की आत्मोत्सर्गी, पवित्र छवि को दर्शाया जाता है, जो अनुष्ठान निष्ठावान पत्नी और समर्पित मां के रूप में नारी की भूमिका को स्थापित करते हैं।

स्त्रियों और शूद्रों को एक ही दर्जा देना समाज में महिलाओं की निम्न स्थिति का एक और प्रमाण है। महिलाओं और शूद्र दोनों को यगोपवीत संस्कार (जनेऊ धारण) से प्रतिबंधित रखना, शूद्र और नारी की हत्या करने पर समान दंड, और दोनों को धार्मिक विशेषाधिकारों से वंचित रखा जाना, ये सब कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो बताते हैं कि जाति और सामाजिक लिंग सोच ने जनमानस में किस तरह गहरी पैठ बनाई होगी।

## सामाजिक लिंग सोच और धर्म

अधिकांश धर्मों में मानव प्रकृति की अनिवार्य समानता, सभी मनुष्यों की नैसर्गिक महत्ता की बात कही जाती है क्योंकि स्त्री और पुरुष सभी में एक ही आत्मा होती है और सभी में परमात्मा वास करता है। मगर यह महान दर्शन, यह महान आदर्श व्यवहार में कहीं नजर नहीं आता। बल्कि जो नैतिक शिक्षा और धार्मिक प्रवचन हमें मिलते हैं वे सभी एक खास परिवेश में स्त्री की स्थिति को प्रतिबिंबित करते हैं। हमारे कई पवित्र ग्रंथों में महिलाओं को पुरुषों से नीचे का दर्जा दिया गया है। महिलाओं की निम्न स्थिति को वैधता प्रदान करने के लिए युगों से इन पवित्र ग्रंथों का हवाला देकर उसे आध्यात्मिक आधार दिया जाता रहा है। ग्रंथ पवित्र सत्ता हैं जो बताते हैं कि महिलाओं की हैसियत पुरुषों से कम और असमान होनी चाहिए।

भारतीय समाज में मूल्य संरचना को समझने के लिए उसका एक महत्वपूर्ण पहलू हिंदू दर्शन में नारी की दोहरी अवधारणा है। एक ओर स्त्री को जननी, कल्याणकारी समृद्धि दात्री का दर्जा दिया जाता है। लेकिन दूसरी ओर उसे उग्र, अपकारी और विध्वंसक माना जाता है। नारी का यह दोहरा चरित्र हमें देवियों में भी नजर आता है। जैसे एक तरफ काली और दुर्गा मां जैसी विकराल, उग्र, अपकारी देवियां हैं तो वहीं लक्ष्मी, सरस्वती, मरियम्मा जैसी कल्याणकारी, ममतामयी देवियां भी हैं। संक्षेप में नारी के दोहरे चरित्र का निरूपण करके मूल्यों के ढांचे संरचना ने यह मिथ रचा है कि भारतीय नारी में शक्ति है लेकिन वह दिखाई नहीं देती। यह भारत में महिलाओं की ऊंची और निम्न स्थिति को समझने के लिए एक अति महत्वपूर्ण धारणा है। इसीलिए हमारे सामने ऐसी विरोधाभासी स्थिति आ जाती है जिसमें धर्म कहीं मां और पत्नी की आदर्श भूमिका में नारी को एक सर्वोच्च सम्मान देता है तो वहीं उसमें नारी के आदर्श को उसके शाश्वत सार में दर्शाया जाता है। लेकिन वास्तविक सामाजिक जीवन में पराधीनता ही नारी की नियति है।

आज एकदम भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में धर्म को एक नई चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अब चूंकि नारी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुक्ति को सभी जगह स्वीकार किया जा रहा है, इसके चलते सामाजिक परिवेश सभी धार्मिक परंपराओं पर नए दबाव डाल रहा है और नारी की सामान्य स्थिति या छवि के बारे में उनकी शिक्षाओं को अब समूल चुनौती दी जा रही है।

## संदर्भ

1. आज की नारी, डी. कमेश्वरी।
2. आधुनिकता और महिला उत्पीड़न, मानचंद्र खण्डेला।
3. अनूसूचित जाति में महिला उत्पीड़न, मंजु लता।

**क्वार्टर नं. 6/बी, बीएसएनएल स्टाफ क्वार्टर, अनीसाबाद, पटना**

# जैन धर्म का ऐतिहासिक एवं सामाजिक उद्‌भव

**डॉ० ब्रजेश्वर प्रसाद सिंह**

*विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, रामकृष्ण द्वारिका महाविद्यालय, कंकड़बाग, पटना-20*

*मगध विश्वविद्यालय, बोधगया*

ईसा से लगभग पाँच सदी पूर्व यानी आज से 2500 वर्ष पूर्व सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति विषम थी। समाज में दूषित मान्यताओं का वर्चस्व था। विषमता, हिंसा, असत्य, शोषण, अत्याचार और अनाचारों का साम्राज्य था। धर्म के नाम पर यज्ञों में निरीह पशुओं की बलि दी जाती थी। शूद्र, दास एवं स्त्रियों को नीच समझा जाता था। उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया था। अंधविश्वास एवं पाखंड जोरों पर था। मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खड़ी थी। ईश्वर के नाम पर पत्थरों की पूजा की जाती थी। धर्म गुरु स्वार्थी बन बैठे थे। ऐसी स्थिति में जैन दर्शन का उद्‌भव एक ऐसे विचारक तपस्वी के चिंतन में हुआ था, जो ब्राह्मण-शास्त्रों की व्यर्थता, भगवान महावीर की मस्तिष्क में थी जितेन्द्रिय महावीर ने जिस चिंतन का सूत्रपात किया था उसे दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र और साधक मुनि-मंडल का सहयोग मिला, मंदिर, मूर्ति शास्त्र और मुनियों के साथ जैन धर्म के पास बौद्धों की तरह एक निजी अभिव्यक्ति की भाषा भी थी। इस भाषा को जैन-प्राकृत भाषा के नाम से जाना जाता है।

सभ्यता के इतिहास में जैन-दर्शन समाज को परिवर्तित करने का एक महत्वपूर्ण बीड़ा उठाया था। जैन-दर्शन इहलोक और परलोक दोनों से सम्बन्धित जीवन के प्रायः सभी कार्यकलाप धर्म से प्रभावित होते रहे हैं। सामाजिक तथा लोकतांत्रिक भावना विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने मानव-जीवन को इस प्रकार प्रभावित किया है कि मनुष्य अपने पथ से विचलित होकर, समाज के दूर नीतियों को ही अपना मुख्य सहारा बना लिया है। लेकिन आज हमें यह जरूरत है कि जैन धर्म के "पंचमहाव्रत सिद्धांत" को जन-जन तक पहुँचाया जाय और एक सही आध्यात्मिक-सामाजिक की नींव डाली जाय। आध्यात्मिक मान्यताओं, सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धांतों और सांस्कृतिक जीवन पर जैन दर्शन के पंचमहाव्रत सिद्धान्त का एक गहरा प्रभाव पड़ा है। "काल" और परिस्थितियों, जिनमें धर्मों का जन्म होता है सदा अपरिवर्तनीय नहीं रहती। इसी कारण बदलते हुए परिवेश में जैन "पंचमहाव्रत सिद्धान्त" को सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों की आवश्यकता आ पड़ी।

मानवता के उद्धारक, युग-निर्माता, तथा पंच-महाव्रतों के सम्बल से समाज को संवारने वाले, चौवीसवें तीर्थंकर महावीर की महत्ता से समस्त जैन साहित्य समलंकृत

है। जैन साहित्यों का इतिहास अपनी गहराई में अथाह है। फिर भी उनमें प्रकृति-साहित्य की चर्चा कुछ शब्दों में की जा सकती है। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर उन महापुरुषों में रहे हैं जो तीनों लोकों में त्रिकाल वंदनीय हैं। वंदनीय इसलिए नहीं कि वे राजपुरुष थे बल्कि इसलिए कि उन्होंने राजवैभव से मुँह मोड़कर संन्यास लिया। भोग की अपेक्षा त्याग को उत्तम समझा और वह सब छोड़ा जो उन्हें सहज सुलभ था। उन्होंने इन्द्रिय दमन का रास्ता अपनाया और सम्यक पुरुषार्थ से जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हुए। इसलिए भी वह वंदनीय है। आत्मोत्कर्ष की साधना के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो स्वयंभू तीर्थंकर हुए और अपनी दिव्य देषणा से समस्त प्राणियों के शाश्वत सुख प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जैन धर्म में कई भ्रांतियाँ हैं उनमें से यह एक है कि महावीर इस धर्म के संस्थापक थे। परन्तु विद्वानों ने गहरी खोजबीन करके दर्शाया है कि महावीर के पहले भी जैन-धर्म का अस्तित्व था। यद्यपि यह बताना कठिन है कि उस धर्म का जन्म ठीक किस समय हुआ। सी०जे० शाह लिखते हैं, "जैन धर्म के जन्म का समय निर्धारित करना कठिन ही नहीं असंभव है। परन्तु आधुनिक अन्वेषण ने अब हमें एक ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ से घोषणा करते हुए हम कह सकते हैं कि जैन धर्म को बौद्ध या ब्राह्मण धर्म की एक शाखा सिद्ध करने का विचार गलत एवं अज्ञान पर आधारित था। वस्तुत: अब हम अनुसंधान के क्षेत्र में एक कदम और आगे बढ़ गये हैं। अब बिना किसी नये पुष्ट प्रमाण के यह कहना कि जैन धर्म का उदय महावीर के साथ हुआ है, एक ऐतिहासिक भ्रांति ही कहलायेगा। क्योंकि अब यह एक मान्य तथ्य है कि जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे। और जैन पुरुष महावीर तीर्थंकरों की महामंडली में मात्र एक धर्म-सुधारक थे।"[1]

अत: स्पष्ट है कि यदि हम महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं, तो फिर इस धर्म की प्राचीनता को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। जैनों की मान्यता है कि उनका धर्म अनादि-अनन्त काल से चला आ रहा है और प्रत्येक युग में चौबीस तीर्थंकरों ने उपदेश दिया है। वर्तमान युग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं और अन्तिम तीर्थंकर महावीर।[2]

जैन अनुश्रुति के अनुसार यह जगत कर्मभूमि है, जो पहले कभी भोग भूमि थी। भोग भूमि की अवस्था में मानव स्वर्गिम आनन्द प्राप्त करता था। मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ कल्पवृक्ष से पूरा हुआ करती थी। परन्तु यह नैसर्गिक सुख अधिक दिनों तक न रह सका। जनसंख्या बढ़ी तथा मनुष्य की आवश्यकताएँ नित्य नया रूप धारण करने लगी। फलत: भोग भूमि कर्मभूमि में बदल गयी। इसी समय चौदह कुलकर उत्पन्न हुए। ये कुलकर इसलिए कहलाते थे कि इन्होंने कुल की प्रथा चलाई तथा कुल के उपयोगी आचार, रीति-रिवाज, सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया। चौदह कुलकरों में श्री नाभिराय अन्तिम कुलकर हुए। इनके पुत्र का नाम ऋषभदेव था जो जैन धर्म के आदि प्रवर्तक थे। इन्हीं से जैन धर्म परम्परा का प्रारम्भ है। अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों में भगवान ऋषभदेव आद्य तथा भगवान महावीर अन्तिम

तीर्थंकर माने जाते हैं। जैन परम्परा के अनुसार ही महावीर एक ऐसे धर्म-सुधारक हुए थे जिन्होंने गलत रास्ते पर जा रही जनता के लिए कुछ नैतिक नियमों को नये सिरे से व्यवस्था की और उनमें प्राण फूँके। जैन धर्म ग्रन्थों में हमें सभी तीर्थंकरों के नाम उसी क्रम से मिलते हैं जिस क्रम से वे हुए हैं और उनके जीवन-काल के बारे में भी जानकारी मिलती है। मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर संभव 84,00,300 वर्ष जीवित रहे।[3] बाईसवें तीर्थंकर नेमि 1000 वर्ष, तेईसवें तीर्थंकर पाथर्वनाथ 100 वर्ष और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर 72 वर्ष जीवित रहे।[4]

इतिहास के विद्वान केवल अन्तिम दो तीर्थंकरों– पार्श्वनाथ व महावीर की ऐतिहसिकता सिद्ध कर पाते हैं। उदाहरण के लिए तात्सेन पार्श्व के बारे में लिखते हैं : "ये जीन एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, यह बात इस उल्लेख से प्रमाणित होती है कि पहले तीर्थंकरों की तरह इनका जीवन-काल मानव के जीवन-काल की संभावित सीमा के परे नहीं है।"[5] भारत पर सिकंदर के हमले के समय से ही भारतीय इतिहास की तिथियों का निर्धारण संभव हुआ है और पार्श्वनाथ के पहले के काल के बारे में इतिहासकारों को प्रमाणिक जानकारी नहीं मिली है तो केवल पार्श्वनाथ एवं महावीर की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया जा सकता है।

यद्यपि पार्श्वनाथ के बारे में भी प्रत्यक्ष ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिले। फिर भी कुछ उल्लेख है। मथुरा से कुछ ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें प्रथम तथा कुछ अन्य तीर्थंकरों की पूजा-अर्चना के उल्लेख है। इनमें से महत्व के तीन अभिलेखों का आशय है : (क) ऋषभदेव प्रसन्न हो[6] (ख) अहंतों की अर्चना:[7] (ग) अहंत वर्धमान की अर्चना।[8] इनके महत्व के बारे में कर्नियम ने लिखा है : "इन अभिलेखों से प्राप्त जानकारी प्राचीन भारत के इतिहास के लिए अत्यंत महत्व की है। सबका प्राय: एक ही आशय है–कुछ व्यक्तियों द्वारा धर्म की अभिवृद्धि और उनके तथा उनके माता-पिता के कल्याण के लिए दोनों को लेखबद्ध करना। परन्तु उन अभिलेखों में सिर्फ इतनी ही जानकारी रही होती तो इनका कोई विशेष महत्व नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि मथुरा के इन लेखों में से अधिकांश में दाताओं ने तत्कालीन शासकों के नाम तथा दान के समय की संवत तिथियां अंकित कर दी है। यह जानकारी इतिहास की लुप्त कड़ियों को जोड़ने के लिए बड़ी उपयोगी है।"[9]

हमारे दृष्टिकोण से यह अभिलेख जैन धर्म के अति प्राचीन उद्गम तथा कई तीर्थंकरों की क्रमिकता पर प्रकाश डालते हैं। कल्प-सूत्र[10] तथा अन्य जैन ग्रंथ जानकारी देते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के पहले पार्श्वनाथ हजारीबाग जिले की एक पहाड़ी पर पहुँचे थे। यह स्थान "पारसनाथ पहाड़ी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। और पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के लिए एक प्रकार का स्मारकीय सबूत है।

जैन ग्रंथों में पार्श्वनाथ के बारे में तथा सामान्यत: जैनों के बारे में जो कई उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कम से कम पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता से इनकार नहीं किया जा सकता है और जैन धर्म महावीर से निश्चय ही अधिक प्राचीन था। उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी

(पार्श्वापत्यिक) केशी और महावीर के अनुयायी गौतम के मिलने की तथा दोनों के बीच हुए संवाद की जानकारी है।[11] यह संवाद दोनों परम्पराओं के आचार-विचार सम्बन्धी मतभेदों को लेकर हुआ था और कहा गया है कि इसमें अन्त में केशी ने गौतम के मत को स्वीकार कर लिया।[12] पार्श्वनाथ ने चार यामों यानी महाव्रतों का उपदेश दिया था और महावीर ने पाँच यामों का।[13] महावीर ने अपना कोई नया पंथ, मत, संप्रदाय या धर्म नहीं चलाया। उन्होंने अपने पूर्व तीर्थंकरों द्वारा अनुगमित अहिंसा व अनेकांत की अनादि परम्परा को पुनर्जीवित किया। जैन परम्परा में "धर्म" शब्द का अर्थ अन्य मतों या पंथों से भिन्न है। अन्य मतों में इसका अर्थ एक विशेष की जीवन पद्धति है। जबकि जैन परम्परा में वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा गया है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव असीम दर्शन, असीम ज्ञान, असीम शक्ति और असीम सुख है। यहाँ ईश्वर व ईश्वरत्व की अवधारणा भी भिन्न है। गुण की दृष्टि से ईश्वर एक है किन्तु जन्म-मरण के बंधन से मुक्त प्रत्येक आत्मा ईश्वर है। जैन परम्परा के अनुसार ईश्वर न सृष्टि का रचयिता है और न सुख-दु:ख का दाता। हर जीव की स्वतंत्र सत्ता है। वह अपने कर्मों का कर्त्ता है और उनके पुल का भोक्ता है। महावीर दर्शन का दूसरा सूत्र है—अनेकांत जिसका अर्थ है सत्य के विभिन्न पहलुओं को समझना तथा समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना आज का मानव समाज अजीब मोड़ पर खड़ा है। एक तरफ भोग का होड़ है तो दूसरी ओर अतृप्त लालसा, भय और असुरक्षा की भावना। यह अंधी दौड़ हमें विनाश की ओर ढकेल रही है। अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह का सुगम रास्ता ही सुखमय और शांतिपूर्ण समाज के लिए आशा की किरण है और भावी पीढ़ियों के लिए आश्वासन भी।

## संदर्भ सूची


1. पूर्वे०, पृ० 2
2. जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव सर्वप्रथम तीर्थंकर थे। इनके अतिरिक्त और भी 23 तीर्थंकर थे। इनके अतिरिक्त और भी 23 तीर्थंकर हुए—अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, अनन्तनाथ, सम्भवदेव, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, पर्श्विनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल नाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, माल्लनाथ, रामनाथ, मुनि सव्रतनाथ।
3. एक "पूर्व" वर्ष को 7.,05,30,00,00,000 वर्षों के बराबर माना जाता है।
4. "कल्प सूत्र" 227, 182, 168, व 147
5. ई०ए०, II, पृ० 26
6. एपिग्राफिका इंडिका, I.386 अभिलेख VIII
7. उपरिवत् I, 303 अभिलेख III
8. उपरिवत् I 396ए अभिलेख VIII
9. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट्स खण्ड तीन, पृ० 38-39
10. 168
11. XXIII.9
12. XXIII.29
13. XXIII.12

# जैन धर्म से मानव जीवन में आमूल परिवर्त्तन की सम्भावनाएं

**डॉ. सुधांशु कुमार**

*दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

प्रत्येक दर्शन का आचार-क्रियात्मक पक्ष धर्म होता है। इसलिए कहीं-कहीं धर्म दर्शन का पर्याय बन जाता है। हर धर्म का अपना दर्शन है और हर दर्शन का आचार पक्ष। वैदिक धर्म के परिप्रेक्ष्य में हम देखते हैं धर्म का अस्तित्व लोकयात्रा के निर्वाह के लिए माना गया है जिसे सभी धारण करते हैं। जैन दर्शन समन्वय का दर्शन है, जो सबकी आत्मा की आन्तरिक पवित्रता पर बल देता है। भगवान महावीर ने अपने धर्म को सभी जाति, वर्ग और मानव समुदाय के लिए प्रतिष्ठित किया था। आत्मा की शुद्धि ही हमारे लिए मोक्ष का सर्वोपरि साधन है। जीव सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की विशुद्धि द्वारा धर्म को प्राप्त करता है। चूंकि यह धर्म उस पुण्य, पाप रूप बन्ध का कारण है, जिसका फल दुख: दायक संसार है, अत: जीव की विशुद्धि रूप वह धर्म, अधर्म को पूरी तरह से हटाते हुए अपनी अन्तरंग और बहिरंग कारण रूप सामग्री को प्राप्त कर संसार के दु:खों को समाप्त कर देता है और मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। अहिंसा मार्ग पर चलने वाले को कभी राग उत्पन्न नहीं होता है। राग का उत्पन्न होना ही हिंसा है। लोक में जो हिंसा, अहिंसा का विभावन (कॉन्सेप्ट)है वह स्थूल है। यथार्थ में जिन विकल्पों से आत्मा के स्वभाव का घात होता है वह सभी विकल्प हिंसा है और उन विकल्पों से शून्य निर्विकल्प अवस्था ही अहिंसा है। उसी अवस्था में पहुँचने पर सच्चा स्थायी आत्मिक सुख मिलता है। वस्तुत: धर्म आत्मा का परिशुद्ध स्वरूप है जो आदि, मध्य और अन्त सभी में कल्याण कारक है। धर्म की जितनी परिभाषाएं दी जाँय उसकी प्रकृति और नियति में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। मनु ने शौच, आचार आदि द्वारा विशिष्ट धर्म के आचरण का उपदेश दिया फिर भी धर्म के बहुत से नियम सनातन हैं और सबके लिए मान्य हैं।

जैन दर्शन 'धर्म' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में करता है। हम चार अर्थों में उसे प्रयुक्त मान सकते हैं-धर्म का आज्ञा पालन के अर्थ में, चारित्र के अर्थ में, कर्तव्य के अर्थ में और परमश्रेय के अर्थ में। जो दु:ख से, दुर्गति से पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है, वही धर्म है। वस्तुत: धर्म आत्मा का अनन्त दिव्य प्रकाश है। वह बाहर में नहीं अन्दर में है। एक धर्म दूसरे धर्म से कभी टकराता नहीं है। जैन धर्म में अहिंसा धर्म स्याद्वाद धर्म, आर्हत् धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म आदि अनेक दूसरे नाम हैं। अहिंसा का इस धर्म में बहुत ज्यादा महत्व है। धर्म का जो विशेष अर्थ गति के माध्यम (Medium of Motion) के रूप में किया गया है उसके अनुसार समस्त पर्दाथ स्वयमेव गतिमान होते हैं उनकी गति में धर्म सहायता देता है। जिस प्रकार मछली को

जल में जल चलने में उसकी सहायता करता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य भी गति में धर्म की सहायता ग्रहण करते हैं। जैन धर्म 'जैन' द्वारा उपदिष्ट मार्ग को ही अपना धर्म मानता है। 'जिन' का अर्थ जीतने वाला। जिसने अपने आन्तरिक विकारों को जीत लिया हो वही 'जिन' है। महावीर केवल साधु न थे बल्कि वे तपस्वी भी थे। उन्होंने धर्म रूपी प्रदेश में प्रवेश के लिए चार द्वार निर्धारित किए है-क्षमा, सन्तोष, सरलता और नम्रता। उत्तम धर्म के लिए व्यक्ति को सरल होकर आत्मा के धर्म का पालन आवश्यक है। अहिंसा अपरिग्रह को भगवान महावीर ने मानवीय एकता का महान सिद्धांत स्वीकार किया है। इस प्रकार जैन दर्शन तत्त्व ज्ञान से भरा हुआ है तथा हमारे व्यावहारिक जगत् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

जहां तक धर्म के लक्षण का संबंध है भारतीय संस्कृति के भीतर वह इस प्रकार घुला मिला है कि हम उसे पृथक् करने में कभी-कभी असमर्थ हो जाते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है और धर्म में ही सब प्रतिष्ठित हैं। अत: धर्म सर्वश्रेष्ठ है। वह स्वभावत: विकसित है इसीलिए वह अभ्युदय और नि:श्रेयस का साधक भी है। भारतीय धर्म विषय सुख को महत्त्व न देकर आत्मिक सुख को जीवन का अंग मानता है। इसमें अशेष आनन्द और महा करुणा का एक विचित्र संगम हुआ है। भारतीय धर्म प्राणि मात्र के प्रति प्रेम, मैत्री और सहाय्य (सहायता) की भावना से पूर्ण है। मनु ने धर्म का दशविध वर्णन किया है तो जैन धर्माचार्यो ने दस प्रकार के धर्मों अर्थात् सद्गुणों का वर्णन किया है जो एक साथ गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए समान रूप से आचरण योग्य हैं वे हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचनता और ब्रह्मचर्य। इनके द्वारा अनेक विकारों का शमन हो जाता है और धर्म में गति होती है।

मानव जीवन में पतन के अनेक मार्ग खुले हुए हैं। शारीरिक शक्ति का अहंकार, तपस्या का अहंकार, रूप का अहंकार, ज्ञान और ऐश्वर्य का अहंकार अनेक रूपों में असद्गुण हमारे जीवन को आक्रान्त करते रहते हैं। आत्म स्वभाव को आच्छन्न करने वाली वृत्तियों को हमें निर्मूल करना है। उत्तम सत्य निष्ठा पूर्वक हमारे समस्त अनुशासन का मूल रूप है। आत्मा द्रव्य है। चूँकि द्रव्य का लक्षण सत्य है। इसलिए वह सत्य स्वाभाविक है। सत्य का अर्थ ही है जिसकी त्रिकालाबाधित सत्ता हो। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता हो उसे उसी रूप में जानना सत्य ज्ञान है। असत्य की सत्ता सदा से सापेक्ष रही है। जीव का अजीव में अभाव, अजीव का जीव में अभाव। इसका अर्थ है कि जीव की अपेक्षा अजीव असत् और अजीव की अपेक्षा जीव असत् है। किन्तु जो कुछ भी है वह सब सत्य है। असत्य कुछ भी नहीं। इस तरह असत्य, वस्तु में नहीं उसे जानने वाले के ज्ञान में है। मानने वाले की श्रद्धा में है। असत्य या तो वाणी में होता है या ज्ञान में, वस्तु में नहीं। वस्तु को अपने ज्ञान और वाणी के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता। अत: आत्म तत्त्व ही परम सत्य है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा हमारा समस्त जीवन व्यवहार चल रहा है। समस्त जैनाचार्यों ने

काय, क्लेश, भय, हठ, योगादि उपायों को छोड़कर मन आदि इन्द्रियों के वश में करने के लिए भेद विज्ञान अथवा वैराग्य भावना पर बल दिया है। इन्द्रिय सुख क्षणिक है। अत: सुख का भोग करके तृष्णा रूपी रोग मिटने की अपेक्षा और बढ़ जाता है। जैन दर्शन के अनुसार पूर्व संचित कर्मों के क्षय के लिए तप आवश्यक है और संयम से भावी कर्मों का अभाव अथवा निरोध होता है। समस्त रागादि के त्याग पूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होना और आत्मलीनता के द्वारा विकारों पर विजय पाना ही तप है। इस तप के द्वारा मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है। जैनाचार्यो ने प्रायश्चित्त तप और विनय तप द्वारा आत्मा के धर्म को प्राप्त करने का मार्ग सुझाया है। इसीलिए जैन मुनि त्याग पर विशेष बल देते हैं, उनके लिए अपरिग्रह आवश्यक है। उत्तम ब्रह्मचर्य द्वारा वे विशुद्ध आत्मा में रमते हैं। ब्रह्म 'शब्द' का अर्थ है निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा है। निजात्मा में लीन होना ही ब्रह्मचर्य है। तथापि जब तक हम अपने आत्मा को नहीं जानेंगे, नहीं मानेंगे तब तक उसमें लीनता सम्भव कैसे होगी। उत्तम ब्रह्मचर्य एक लक्षण भाव है इसीलिए जैन धर्म इसे प्रमुख स्थान प्रदान करता है।

जैन दर्शन समस्त वैदिक दर्शन में जो भी उच्च और उदात्त है उसको अपने दर्शन में स्थान देकर उसको पूर्णत: गरिमामय बना देता है। जैन दर्शन में सागार, अनगार धर्म की प्रधानता है। सागार या गृहस्थ धर्म का लक्षण देते हुए बताया गया है कि गृहस्थ अविद्या के दोष से उत्पन्न आत्मज्ञान से विमुख और विषयों के प्रति सदा उन्मुख रहा करते हैं। अनगार का अर्थ ही है घर और घर कहने से सभी परिग्रह आ जाते हैं। अत: सागार के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम धर्म को मानकर ही इस धर्म के संबंध में सोचा जा सकता है। इसमें परनिन्दा और कठोरता को दूर रखने की कोशिश है। आत्मा के सम्यक् दर्शन आदि गुणों को ही धर्म कहते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को स्थान दिया गया है। गृहस्थाश्रम में योग्य आहार-विहार रहना आवश्यक है जिससे मन दूषित न हो। जितेन्द्रियता और धर्म विधि श्रवण आदि इसके उपाय हैं। इस प्रकार दोष रहित सम्यक्त्व, बारह व्रत, पाँच-पाँच अतिचार रहित बारह व्रत और मरण समय में विधि पूर्वक सल्लेखना आदि श्रावक का सम्पूर्ण धर्म है।

इसी प्रकार अनागार का अर्थ होता है-घर को त्याग देना। जैन दर्शन में सकल चारित्र के धारक अनगार साधु के 28 मूल गुण की चर्चा है जो चारित्र लक्ष्मी प्राप्ति के मूल कारण हैं। पंच महाव्रतों द्वारा संयम की शुरूआत होती हैं और इस प्रकार अनगार धर्म अपने समस्त लक्षणों के साथ प्रतिस्थापित होकर इस दर्शन को समपूर्णता प्रदान करता है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि सागार हो या अनगार जैन धर्म में दोनों के लिए एक विस्तृत आचारशास्त्र बना हैं आचार को ही परमधर्म माना गया है। आचार से ही धर्म अच्छा बुरा समझा जाता है। जैन धर्म में सकल चरित्र के धारक साधुओं के भिन्न-भिन्न विशिष्ट गुणों के कारण उन्हें ऋषि, यति, मुनि के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार जैन धर्म के जितने भी तात्त्विक गुण हैं वे उसके मूलभूत अर्थ को प्रकाशित करने में सर्वथा समर्थ हैं।

जैन दर्शन धर्म के उन साधनों का भी विस्तृत उल्लेख करता है जिन्हें धर्म पाद कहा गया है। वैदिक दर्शन में जैसे धर्म के दश तत्त्वों का उल्लेख है उसी प्रकार जैन धर्म साधन रूप से धर्म के तीन पादों की स्वीकृति देता है जिन्हें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से जाना जाता है। बौद्ध दर्शन में यही अष्टांगिक मार्ग है। पुन: प्रत्येक धर्म के तत्त्वों की व्याख्याएं विभिन्न देश काल और अवसर में उत्पन्न अर्हत्, मुनि और सिद्ध पुरुषों द्वारा की गई हैं किन्तु उनका सम्यक् रूप एक ही है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार जीव ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य भाव को धारण करने वाला है। चेतना रहित द्रव्य अजीव है। इस प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की विभिन्न व्याख्या उसके अनेक भेदों के साथ प्रकट होती है। जैनाचार्यों ने इस संदर्भ में खूब विचार मन्थन किया है। ज्ञान के अन्तर्गत किसी प्रकार के आरोप से अपने को अलग रखा गया है। आत्म तत्त्व के वास्तविक कल्याण साधन के मार्ग को पहचानना ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक् चारित्र राग-द्वेष रहित होकर आचरण के अनुष्ठान का ही नाम है।

इस तरह सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र में पूर्ण समन्वय रखना ही धर्म के साधनों को प्राप्त करना है। यहाँ धर्म के लक्ष्य पर भी विचार किया गया है। क्योंकि धर्म का लक्ष्य अन्तत: मोक्ष ही है। जैन दर्शन मोक्ष के अन्तर्गत बंधन के कारणों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करता है साथ ही मोक्ष के स्वरूप का विवेचन कर यह सिद्ध करता है कि आत्मा का गुण स्वत: में मोक्ष है। इस मोक्ष के भी तीन साधन दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। इन्हीं का समन्वय मोक्ष का द्वार विवृत करता है। मोक्ष के लिए ईश्वर की कल्पना आवश्यक नहीं है, क्योंकि मोक्ष जीव का होता है और आत्मा पर पड़े रज को हटाकर वह उसकी सम्पूर्णता का पूरा ज्ञान करा देता है। मोक्ष आत्मा की वह विशुद्धावस्था है जिसमें उसका किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और सम्पूर्ण विकारों का अभाव होकर आत्मा स्वस्वरूप में स्थित हो जाती है। इस प्रकार मोक्ष या मुक्ति जैन दर्शन में जीवन का एक अभिन्न अंग है।

प्राय: प्रत्येक युग में धर्म के अंगो पांगों में कोई न कोई विशेषता उत्पन्न कर समय के अनुसार उसे महत्त्व दिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य अंग उपेक्षित या बेकार हो गए और अब उनकी आवश्यकता कभी नहीं रहेगी। अपितु उस अंग विशेष के बिना समस्त की कल्पना ही सम्भव नहीं है। जैसे राजनीति में राज्य के स्वरूप निर्धारण में उसके अंगों का चर्चा होती है वैसे ही धर्म में भी धर्म प्रत्येक मानव को धारण करना है। अत: इसे सृष्टि के मूल में, पृथ्वी के मूल में और मानव मात्र के मूल में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कोई भी धर्म जो पूर्व में था वह सनातन रूप में आज भी विद्यमान है। परिवर्तन अर्थवत्ता और ग्राह्यता के आधार पर ही निर्धारित होता है। जैन धर्म या बौद्ध धर्म का विकास ऐसी ही आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ है। जैन धर्म ने सम्यक् दर्शन और चारित्र के आधार पर एक ऐसा समन्वय बोध उत्पन्न किया जिससे मानव जीवन में आमूल परिवर्त्तन की विविध सम्भावनाएं प्रकट हुई हैं।

जैन धर्म ने मानव के मानवत्व को नये सिरे से समाज के सामने रखा। इसमें सबसे आवश्यक था मानव-मानव में परस्पर प्रेम का भाव। पशु भाव से अपने को अलग रखना मानव का प्रथम चिन्ह् बना। राग-द्वेष को ही सारे बन्धनों के मूल में मानकर षट् दोषों को दो दोषों में समाहृत कर उनका अध्यावसान कर दिया गया। इससे मनुष्य की अन्तः वृतियां विशेष रूप से प्रच्छालित हो जाँय, यह ध्यान सदा रखा गया। हिंसा वृत्ति को सभी पापों का मूल मानकर एक परम वैज्ञानिक सत्य को जीवन में उतारने का सबसे बड़ा प्रयत्न जैन धर्म में हुआ। यह धर्म मनुष्य मात्र के लिए सारे देश और काल की सीमा को लांघकर एक विश्व धर्म में प्रकट हो सकता है। मनुष्य अपनी कितनी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है और दूसरों की प्रगति में सहायक हो सकता है, इसकी सर्वाधिक सम्भावना जैन धर्म में दिखाई पड़ती है। मनुष्यता के इस परिवर्तन में इतिहास और पुराण का समस्त नवनीत एकत्र हो गया और मनुष्य मात्र के लिए वह धर्मावलम्बी हो या नहीं किन्तु एक विशेष धर्म का दर्शन हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ। मनुष्य कतिपय गुणों एवं आदर्श की डाल को पकड़ कर सारे भूतों से प्राप्त शक्ति को अपने लिए और उनके लिए कैसे प्रकट कर सकता है, जैन धर्म ने इसी को जीवन का दृष्टिकोण बना लिया और तीर्थकरों के वाक्यों को ही इस धर्म का मूल आधार स्वीकार कर लिया। यह विशुद्धता आज भी मानव की सम्पूर्णता के लिए आवश्यक है। ऐसा आचरण वाला प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर हो या नहीं विशुद्ध मानव होकर अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचानने में समर्थ अवश्य हो सकता है। मनुष्य कितना महान है, कितनी उसके भीतर शक्ति छिपी है और वह स्व स्वरूप को पहचान कर ईश्वरत्व के कितने निकट पहुंच सकता है, इसकी विस्तृत व्याख्या जैन धर्म-दर्शन करता है। इस प्रकार जैन दर्शन में जो धर्म का स्वरूप व्याख्यायित है, वह मानव के सर्वांगीण विकास का प्रेरक, सदाचारमय जीवन का उपजीव्य एवं उसके सर्वोच्च आध्यात्मिक उत्कर्ष-मोक्ष सुख का प्रापक है।

## *सहायक ग्रन्थ की सूची*


1. अंगुत्तरनिकाय (तीन भाग): अनु. भदन्त आनन्द कौशल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता।
2. अध्यात्म-पदावली: सं. प्रो. राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण-1954.
3. अनगारधर्मामृत : पं. आशाधर, अनु. पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली- 1977.
4. अनगारघर्मामृत : पं. आशाधर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1919.
5. आधुनिक युग में धर्म : राधाकृष्णन् अनु.-प्रयागशुक्ल राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली -6, प्रथम संस्करण -1968.
6. अनुत्तरोपपातिकदशा : सम्पा. श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, 1981.
7. अभिधानराजेन्द्र कोश : श्री विजय राजेन्द्र सूरि जी, रतलाम।
8. आचारांगशीलांक वृति : आगमोदय समिति, बम्बई, 1916.
9. आचारांग सूत्र : आगमोदय समिति, सूरत।
10. आचारांग सूत्र (दो भाग): आचार्य आत्माराम जी जैन, आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, 1963.

# “संस्कृत साहित्य में पर्यावरण''

डॉ. कुमारी संगीता

***संस्कृत विभाग, पी.सी.वि. महाविद्यालय***
***जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार***

“सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुशश्च।''[1] अर्थात् मनीशियों ने, प्रारम्भ में न केवल प्रकृति को अपितु संपूर्ण प्राकृतिक शक्तियों को देवस्वरूप माना। शक्ति के अपरिमिति स्रोत सूर्य को स्थावर जंगम संपूर्ण सृष्टि की आत्मा माना। जैसा कि– सूर्य को देव माना सूर्यदेवो भव और कामना की कि सूर्य से उसका कभी वियोग न हो। जैसा कि–

*“नः सूर्यस्य संदृशे मा युयोथा''।* [2]

क्योंकि वे जानते थे कि सूर्य ही पृथ्वी ग्रह का जीवनदाता एवं प्रेरक है। उसके बिना मानव का ही नहीं अपितु अन्य जीवों का भी अस्तित्व संभव नहीं है।

*“सहस्त्रशीर्शा सुमनाः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।*

*सहस्त्रबाहुः प्रथमप्रजापतिस्त्रयोपथेयः पुरूषो निगद्यते।*

*आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता अपूर्व एकः पुरूषः पुराण''।* [3]

*वृक्षों के विकास के लिए सूर्य और चन्द्रमा की किरणें अनिवार्य हैं। जैसा कि-*

*“ओशधय रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभां।''*[4]

प्रश्नोपनिशद् में इसी आदित्य को मनुष्य के शरीर में व्याप्त प्राण की संज्ञा से अभिहित किया गया–

*“आदित्यो ह वै प्राणः''।* [5]

ऋषियों ने पेड़ पौधों में भी जीवन-चेतना को स्वीकार किया। संभवतः इसलिए उन्होनें मनुष्य के शारीरिक संस्थापन को वृक्षों के सदृश परिकल्पित किया। शरीर की रोमावली पत्तों के, त्वचा छाल के, रक्त वृक्ष की त्वचा से निकले उत्पट-गोंद के, मांस तथा मांसपेशियां वृक्ष के गूदे के, पुरूष का नाड़ी जाल वृक्ष की कीनाट-लकड़ी से लगे हुए कोमल भाग के, अस्थियां लकड़ी के और मज्जा-मज्जा के सदृश है। जैसा कि–

*“यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरूषो मृशा।*
*तस्य लोभानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिता बहिः।।*
*त्वच एवास्य रूधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।*
*तस्माद् तदा तृणात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्।।*
*मांसान्यस्य शकराणि कीनाटं स्नाव तत् स्थिरम्।*
*अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमाकृता।।''*[6]

वृक्ष की सर्वांग उपमा के माध्यम से वनस्पति में संचारित प्राण-तत्व को स्वीकार कर अपनी संवेदना सहानुभूति ही नहीं अपितु आत्मीयता की भी व्यंजना की है। वाल्मीकीय रामायण मे रावण, राम को ऐसे वृक्ष के रूप में देखता है- सीता जिसमें पुष्प एवं फल हैं, सुग्रीव, जाम्बवान् कुमुद नल, द्विविद मैन्द, अंगद, गंधमादन्, हनुमान, सुशेण और सारे वानर सेनापति राम रूपी वृक्ष के शाखा प्रशाखा रूप है–

*"रामवृक्षं रणे हन्मि सीता पुश्पफलं प्रदम्*

*प्रशाखा यस्य सुग्रीवो जाम्बवान् कुमुदो नलः।।*

*द्विविदश्चैव मैन्दश्च अंगदो गंधमादनः।*

*हनुमांश्च सुशेणश्च सर्वे च हरियूथपाः।।''*[7]

महाभारत में भी इसी प्रकार का संदर्भ उपलब्ध होता है जहॉ दुर्योधन क्रोध का महावृक्ष है और जड़ है, अमनीशी राजा धृतराष्ट्र उस वृक्ष का तना है, कर्ण शाखाएँ, शकुनि और फल-फूल दुशासन। दूसरी ओर युधिष्ठिर धर्म का महावृक्ष है कि जिसकी जड़े भगवान् कृष्ण के रूप में है। इस वृक्ष का तना है अर्जुन, शाखाएँ भीमसेन और पुश्फल–नकुल, सहदेव।

*"दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।*

*दुःशासन फुलपुश्पे समृद्धे मूलं राजा धृतराश्ट्रो*मनीशी।।*

*युधिश्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धो*र्जुनो भीमसेनो*स्य शाखाः।*

*माद्रीसुतौ पुश्पफले समृद्धे मूलं कृश्णो ब्रह्न च ब्राहम्णश्च।''*[8]

पुराणों में वृक्ष के महत्व को सर्वोपरि मानकर बताया गया है कि दस कुओं के बराबर एक बावड़ी है, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब है, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र और पुत्रों के बराबर एक वृक्ष।

*"दश कूप-समवापी, दशवापी-समो हलदः।*

*दशहृद-सम पुत्रो, दशपुत्रसमो-द्रुमः।।* [9]

जिस संस्कृति में वृक्षों को पुत्र से भी उच्च स्थान दिया गया हो वहॉ पर्यावरण के प्रति अनुराग भी अद्वितीय ही रहा हैं। इतना ही नहीं वृक्षो की पूजा भी इसीलिए की जाती है कि वृक्ष फूल-पत्तों और फलों का बोझ वहन कर धूप के ताप और सर्दी की ठिठुरन की पीड़ा स्वयं सहकर भी परोपकारार्थ अपना जीवन भी अर्पित कर देता हैं।

*" धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां धर्मव्यथां वहति शीतभवारूजश्च।*

*यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमो*स्तु।।''*[10]

वृक्षावली-वनराजि शस्य-श्यामला पृथ्वी का परिधान है, उसके जीवन का रक्षा कवच है। प्राचीन ऋषियों का वैज्ञानिक पद्धति पर वृक्षो के उपयोग का विवेचन उस युग में संभव नहीं था, किन्तु वृक्ष-पंक्तियां, भूक्षरण, भूस्खलन और बाढ़ो को रोकती है, इसका उन्हे पर्याप्त ज्ञान था। संभवतः इसीलिए वृक्षारोपन जलाशयों के समीप ही अपेक्षित था।

*अश्वत्थरोपणं कृत्वा जलाशय: समीपत: जलानां निकटे*

*रम्ये रसानां क्रय-विक्रय मार्ग्रे जलाशये वृक्षान् रोपयेत्।''*[11]

अत्यन्त प्रचीनकाल से प्रकृति तथा मानव का घनिष्ठ संबंध है। प्रकृति तथा मानव की आराध्य भी रही है। वृक्षों और वनस्पतियों में स्थित चेतना को देवत्व के धरातल पर स्थापित करने के कारण संभवत: मानव जीवन में उनकी उपादेयता ही रही हो। तुलसी भी अश्वत्थ की भाँति आराध्य, श्रद्धेया वन्दनीयता रही है। कारण, तुलसी वृक्ष में मूल से लेकर उसकी छाया तक में सभी देवता और तीर्थ निवास करते है। जैसा कि–

*"तुलसी तरूमूले च पुश्यदेशे सुपुण्यादे।*

*अधिश्ठानं तु तीर्थानां सर्वेशां च भविश्यति।।* [12]

*तत्रैव सर्वदेवानां समधिश्ठानमेव च।*

*तुलसीपत्रपतनप्राप्तो यश्च वरानने।।''*[13]

तुलसी की गंध से सुवासित वायु दिशाओं को पवित्र कर देती है, जैसा कि कहा गया है–

*"तुलसी गंधमाघ्राय यत्र गच्छतिमारूत:*

*दिशोदशचत: पूताभूतग्रामश्चतुविध:।।''*[14]

वृक्षारोपण करने वाला नरक को प्राप्त नहीं करता–

*"वृक्षारोपी नरकं न याति।''*[15]

वृक्षारोपण के अन्य गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है–

*"अथैतेशां तु वृक्षाणां रोपणे च गुणाश्रृंछृणु।*

*अतीतानागतौ चोमौवंशौमहाऋशे।*

*तस्येदवृक्षेरपीच तस्माद्वृक्षांस्तु रोपयेत्।''*[16]

अपनी शीतलता पावनता एवं दीर्घायु के कारण अश्वत्थ वृक्ष संसार में पूजनीय है। अपने दिव्यांश से युक्त सर्वोत्तम वस्तुओं की गणना के प्रसंग में मैं वृक्षों में अश्वत्थ हूँ, यह कहकर सर्वेश्वर कृष्ण ने अश्वत्थ वृक्ष की महिमा उद्‌धाटित की है। जैसा कि कहा गया है–

*"अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणां देवर्शीणां च नारद:।*

*गन्धर्वाणां चित्ररथ: सिद्धानां कपिलो मुनि:।।*[17]

भगवान् बुद्ध ने भी पीपलवृक्ष के नीचे निर्वाण प्राप्त किया। वैशाख पूर्णिमा बुद्ध का निर्माण दिवस है। यह तिथि लोक में बुद्ध पूर्णिमा अथवा पीपल पूर्णिमा के नाम से बड़े सम्मान से मनाई जाती है। पीपल का वृक्ष लोक संस्कृति का सशक्त संवाहक है। लोक साहित्य में पिपल वृक्ष के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। गांवों में पीपल की छाया बालकों के लिए क्रीड़ा स्थली, प्रेमी युगलो के लिए मिलन स्थल

तथा वृद्धों की विश्राम स्थली है। जहां बैठकर वृद्ध अपने अतीत की यादों को ताजा करते हैं। उत्सव एवं पर्वो पर नारियाँ पीपल वृक्ष के परिसर में गाती है, नाचती हैं, पीपल की पूजा करती हैं, तथा अपना मनोरथ सिद्ध करती हैं।

निसर्ग कन्या शकुन्तला प्रकृति पेलवा होने के कारण लता वृक्षों तथा पशुपक्षियों के साथ सादर-स्नेह रखती थी। वृक्षों को जल पिलाकर, जल पीना, अलंकार प्रिया होने पर भी स्नेहवश उनके पत्तों को न तोड़ना, उनके प्रथम पुश्पोद्‌भव को पुत्रोत्सव मानना उसके प्रकृति प्रेम को अभिव्यक्त करता है। जैसा कि–

*"आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः।''*[18]

पार्वती ने भी छोटे-छोटे पौधों को स्तनों के जैसे घड़ों के जल से सींच-सींच कर पाला था। उन्हें वे पुत्रों के समान प्यार करती थी, कि बाद में जब कार्तिकेय का जन्म हो गया तब भी उनका वात्सल्य प्रेम इन पौधों पर कम नहीं हुआ। जैसा कि कहा गया है–

*''अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्त्रवणैर्व्यवर्धयत्।*

*गृहो*पि येशां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिश्यति''।।*[19]

*"अमुं पुरः पश्यति देवदारूं पुत्रीकृतो*सौवृशभध्वजेन।*

*यो हेम कुम्भस्तननिः सृतानांस्कन्दस्यमातुः पयसां रसज्ञः''।।*[20]

प्रकृति की गोद में पली शकुन्तला जब राजमहिशी बनने जा रही है तब वल्कल वस्त्र पुश्पाभरण उसके लिए उपर्युक्त नहीं। इसीलिए वृक्षों ने मांगलिक रेशमी वस्त्र, लाक्षारस तथा वनदेवियों ने श्रृंगार के लिए आभूशण प्रदान किए। विदाई के समय आश्रम के लता, वृक्ष, पशु-पक्षी दुःखाभिभूत हो जाते हैं। मृगियाँ दर्भकवल उगल देती हैं, मयूर नर्तन करना छोड़ देते हैं, वृक्ष लताएँ पीले पत्तों के रूप में अश्रु-विसर्जित करते हैं। जैसा कि–

*"उद्‌गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तर्नतना मयूराः।*

*अपसृतपाण्डुपत्रा मुंचन्त्यश्रूणीव लताः''।।*[21]

अश्वत्थ वृक्ष लोक में पिप्पलवृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। शब्दकोशों में तथा शास्त्रों में अश्वत्थवृक्ष के पर्यायवाची शब्दों के रूप में बोधिवृक्ष, बोधिद्रुभ, चलद्‌दल आदि नामों का प्रयोग प्राप्त होता हैं। दिव्यगुणों से समन्वित अश्वत्वृक्ष का रोपण करना मानवों के लिए पुण्यकर तथा पापों को हरने वाला है। साथ ही सुख-सौभाग्य प्रदान करने वाला है। अश्वत्थ वृक्ष के लगाने से मनुष्य को जो फल प्राप्त होता है वह सौ यज्ञों एवं सौ पुत्रों से भी प्राप्त नहीं होता है। जैसा कि कहा गया है–

*"अश्वत्थैनैव वृक्षेण रोपणेनैव यत्फलम्।*

*तद्वै वस्तुशतैर्नैव पुत्रैरेव शतैरपि''।।*[22]

विश्णु द्रुम अथवा अश्वत्थ वृक्ष की सेवा से तथा पूजा से मानव के हजारों पाप नष्ट होते हैं और मनोरथ सिद्ध होते है। ''स्कन्द पुराण'' से ज्ञात होता है कि कदाचिद् दैत्यों से पराजित देवता ब्रह्मा की शरण में पहुँचे तथा दैत्यों का भय नष्ट करने का

उपाय पूछने लगे। ब्रह्माजी ने पराजित हुए दैत्यों को आए संकट का निवारण करने के लिए स्पर्शमात्र से विघ्न नष्ट करने वाले अश्वत्थ वृक्ष की सेवा के लिए कहा। धर्मप्राण भारतीय जन अश्वत्थ वृक्ष की पूजा करके अपने को धन्य समझते हैं।

वैज्ञानिक दृश्टि से भी अश्वत्थ वृक्ष की महती उपयोगिता है। रोगों की चिकित्सा के लिए अश्वत्थ वृक्ष कल्पवृक्ष के समान सिद्धि प्रदान करने वाला है।

प्राय: देखा जाता है कि कुछ वृक्षों की जड़ कुछ वृक्षों के पत्ते एवं बहुतों के फल उपयोगी होते है। किन्तु अश्वत्थ वृक्ष के तो समस्त अंग अमृततुल्य लाभकारी होते हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों की चिकित्सा के लिए अश्वत्थ वृक्ष परम उपयोगी है। घावों को भरने में जोड़ो का दर्द दूर करने में दन्तपीड़ा को रोकने में कर्णशूल को दूर करने में अश्वत्थवृक्ष के विभिन्न अंग दवा के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। ग्रीष्म से संतप्त पथिकों, पशु-पक्षियों के लिए वृक्ष की छाया-तापहारिणी तथा शान्तिदायिनी है। पीपल का वृक्ष तपस्वियों की तपस्थली मुमुक्षुओं की मोक्षस्थली है। बलराम जी के प्रयाण करने के पश्चात् यदुकुल के संहार से उदास श्री कृष्णजी ने पीपल वृक्ष के नीचे स्थित होकर स्वेच्छा से अपने धाम में गमन किया। जैसा कि भागवत में कहा गया है–

*"रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुत:।*

*निशसाद धरोपस्थे तूश्णीमासाद्य पिप्पलम्''।।* [23]

*"लोकाभिरामं स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।*

*योगधारणया**ग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्''।।* [24]

चित्रकला में भी पीपल के पत्ते बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं। साफ किए गए पीपल के पत्तों पर सोने से बने हुए रंगों तथा विभिन्न रंगों से चित्रकारों द्वारा चित्र बनाए जाते हैं। इन बहुमूल्य चित्रों को बेचकर चित्रव्यवसायी प्रभूत धनार्जन करते हैं। इस प्रकार के उत्कृष्ट गुणों के निधान पीपल के वृक्ष का सि्चन रक्षण तथा पोषण परम आवश्यक है। महानगरों में सुख-सुविधा के लिए वृक्षों के छेदन तूफानी गति से बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है। अबाध शक्ति से वृक्षों को काटना सर्वथा अमंगलकारी है।

शास्त्रों में पीपल वृक्ष को काटने वाला पाप का भागी तथा उसे सींचने वाला सुख सौभाग्य से परिपूर्ण होता है। नि:सन्देह पीपल का वृक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का दायक है।

जो व्यक्ति एक पीपल का वृक्ष, एक नीम, एक बड़ दस पुश्प देने वाले पौधे, लताएं, दो अनार के वृक्ष, दो संतरे अथवा पांच आम के पेड़ लगाता है, उसे कभी नर्क की प्राप्ति नहीं होती। पेड़ का प्रत्येक भाग मानवोपयोगी है।[25]

अत: वृक्षारोपण के महत्व को धर्म एवं नरक-स्वर्ग से जोड़ दिया गया।

वृक्षों से ऋशि मुनि पुत्रवत् स्नेहभाव रखते थे। पुत्रवत् वाले गये वृक्ष और वन के पत्रांकुर का विनाशकर जो फलमूल का अभाव करते थे, वे शाप के भागी होते थे। जैसा कि–

*''वने*स्मिन् मामके नित्यं पुत्रवत् परिरक्षते।*

*पत्रांकुरविनाशाय फलमूलभवाय च।''*[26]

निम्ब वृक्ष महाभिशक् होने के कारण पूजनीय माना गया। आम्र और रसाल वसन्त के मदनोत्सव का मुख्य आकर्शण होता है। धतूरे को शिव से संयुक्त किया जाता है, तो बबूल को भूत प्रेत से। कदंब को कृष्ण से, पलाश को ब्रह्मा से, सोम को चन्द्रमा से, अशोक को इन्द्र से और पीपल को विष्णु से संबंधित किया गया है।[27] इस प्रकार पेड़-पौधें के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दिव्यता के दर्शन करना अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में रहा है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत साहित्य में "पर्यावरण'' की विशाल परंपरा है, जो वैदिक काल से प्रारम्भ होकर अद्यतन, गतिशील है तथा इन परंपराओं से भी स्पश्ट होता है कि, वृक्षों की विलक्षण चेतना एवं पशु-पक्षियों की मार्मिक अनुभूतियां होती रही हैं।

## सन्दर्भ


1. ऋग्वेद - 1/115/1
2. वही - 2/3/1
3. भविष्य पुराण - 177/19/20
4. अथर्ववेद - 10/08/31
5. प्रश्नोपनिशद् - 1/5
6. बृहदारण्यकोपनिशद् - 3/9/28, 1/2/3
7. बाल्मीकी रामायण - 6/99/ - 4/5
8. महाभारत आदि पर्व - 110/111
9. पद्मपुराण - 1/44 - 455
10. भामिनी विलास -
11. पद्मपुराण - 58/172
12. ब्र.वै.पु. प्रकृति - 21/37
13. वही - 21/38
14. पद्मपुराण - 6/23/33
15. वही - 6/23/13
16. वही - 6/2/14
17. भगवद्गीता - 10/26
18. कालिदास - अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 4/9
19. वही - कुमार संभवम् - 5/14
20. वही - रघुवंशम् - 2/36
21. अभिज्ञान शाकुन्तलम् - 4/12
22. पद्मपुराण सृष्टिखण्डे - 60/8
23. श्रीमद् भागवत - 11/30
24. वही - 11/26
25. वराह पुराण - 172/39-44
26. वाल्मीकि रामायण - 4/11/57
27. वही - 3/49/32

# वेदों में विश्वबंधुत्व की भावना

प्रो. शेलडिया किशोर

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओतप्रोत होकर आर्यों ने सर्वत्र ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके प्राणी मात्र को ममत्व और एकत्व की भावना से सबल बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। समग्र देश को एकसूत्र में बांधकर सुसंगठित राष्ट्र के रूप में गहरे महत्व के साथ प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि भारत वर्ष में प्राचीन समय से ही देश प्रेम और विश्वबंधुत्व की भावना के दर्शन होते हैं और वह हमें संस्कृत भाषा और उनके विभिन्न ग्रंथों के द्वारा ज्ञात होता है। राष्ट्र के लिए त्याग भाव, समृद्धि और संपत्ति की जो व्यवस्थाएं हैं वह हमें अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, शुक्लयर्जुवेद जैसे अनेकानेक ग्रंथों में दर्शन होते हैं। हमारी समस्त उपासना और सांप्रदायिक भेदभावों की निर्मलता इस वैदिक उदघोषणा से प्रमाणित होती है।

*सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।*

*सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःखभाग्भवेत् ।।*

ऐसी वैदिक प्रार्थनाओं में समष्टिभाव और पूर्ण साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है और वेदों में विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की भावना मानव के लिये सौहार्द की, मित्रता की भावना प्रकट करता है। भारतभूमि को संस्कृत भाषा की जननी माना जाता है और विविधता में एकता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। संस्कृत भाषा राष्ट्रीय ऐक्य का मूल स्रोत है। संस्कृत जैसी प्राचीनतम भाषाओं में भी देशभक्ति, देश के प्रति भावना और उनके प्रति प्रतिबद्धता दिखाई देती है। हमारे वेद जैसे की अथर्ववेद, ऋग्वेदादि और पुराणों में राष्ट्र और उसके समीप की अनेकानेक बातें हमें सुक्तों में देखने को मिलती है।

हमारे वेदों में 'राष्ट्र' शब्द हम देख सकते हैं कि वह भूमि या उसमें निवास करने वाली जनता के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ किन्तु उसकी वेदसंमत परिभाषा है–

*'राजते तद राष्ट्रम्'' ऐसा अर्थ दिया गया है।*

वेदों में हमारे राष्ट्र के प्रति, भूमि के प्रति भावना व्यक्त करने वाले कई सूक्त है की जिसमें राष्ट्र के प्रति अगाध भावना का प्रगटीकरण मिलता है। जैसे कि भूमि सूक्त से जाना जाता है। भारतीय परंपरा में मातृभूमि के प्रति अपार प्रेम और श्रद्धा को व्यक्त करता हुआ यह वैदिक ''राष्ट्रगीत' से पहचाना जाता है।

अथर्ववेद के भूमि सूक्तों में जगत के सर्वप्राणी और मनुष्य मात्र के कल्याण की कामना दिखाई देती है। और अन्य एक मंत्र में कहा गया है कि प्रभु हमारे दो पैर वाले और चार पैर वाले पशुओं के लिए कल्याणमय और सुखमय बनो तथा ऐसी भावना भी अभिव्यक्त की हुई मिलती है कि हे प्रभु कृपा करो कि मैं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राणीमात्र के प्रति समभाव के प्रति समभाव रख सकूं और हे मातृभूमि जो हमारा द्वेष करते हैं जो सेना के द्वारा हमें पराजित करना चाहते हैं।

कुचेष्टा करते हैं। जो हमारा संहार करके पीड़ा पहुचाना चाहते हैं उन शत्रुओं का आप समुल नाश करें।

*यो नो द्वेषत पृथिवी यः पृतन्याद योऽभिद्रासान्मनसा ।*

*यो वधेन तं नो भूमेः रन्धय पूर्वकृत्वरि ।।*[2]

अथर्ववेद में कहा गया है कि हममें मातृभेदभाव भले ही हो लेकिन परस्पर समता की ओर ऐक्य की अथवा मैत्री की भावना है। तथा मनुष्यों ने एक-दूसरे के साथ संगठन किया अर्थात् एकत्रित हुए हैं। उसके समाज में हमें स्थापित करके और इस तरीके से हमारी रक्षा की है। भूमि तुम हमारी माता हैं और हम सभी तेरे पुत्र हैं–

*माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।*[3]

वेदों में सहभाव के साथ सहभोजन पर अत्याधिक भार दिया हुआ मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि हम सब साथ मिलकर खान-पान करें। वेदों में भिन्न-भिन्न धर्म, जाति और भाषा में भी राष्ट्र की एकता का निर्देशन किया गया है। और भारत में विविधता में एकता वह भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

भारत के विविध प्रदेशों में भिन्न-भिन्न भाषा होने पर भी भारत में भाषा शिक्षण ऐक्य भी विद्यमान है जैसे कि–

*ता नः प्रजाः दुह्यतां समग्रा बाचो मधु पृथिवी धेहि मह्यम् ।।*[4]

अर्थात् सर्वलोक, तेरी संपूर्ण प्रजा मधुरवाणी बोलकर प्रेमपूर्ण तरीके से एकत्र होकर रहे और हमें वचन बोलने की शक्ति दे और लोगों में किसी भी प्रकार का द्वेष न रहे तथा सभी लोग परस्पर मित्रता से रहे।

ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में भी हमें राष्ट्रीय भावना से संबंध विचार सर्वत्र दिखाई देते हैं संज्ञानसूक्त के चारों मंत्रों में मानव मन में सद्भाव उदय की कामना की गई है सद्भाव की संज्ञान है। संज्ञान वह प्रेरणा स्त्रोत है जो मानव मन में भावात्मक एकता को सुस्थापित करता है और संसार के प्राणियों को सुसंगठित करते है।

*समानी वः आकूतिः समानी हृदयानि वः ।*

*समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति ।।*[5]

अर्थात् हमारे विचार एक रूप हो, हमारे हृदय एक प्रकार के बने, हमारे मन समान बने, जिससे हमारा सुंदर सहभाव हो सके। इस तरह यहां पर समान रूप से विचार और भावों को अभिव्यक्त करने का उपदेश दिया गया है। और इस उपदेश के द्वारा ऋषि भावात्मक एकता लाना चाहते हैं।

*सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।*

*देवाभागं यथा पूर्वे सं जनाना उपासते ।।*[6]

अर्थात् जिस तरह से प्राचीन देव एकमत होकर तत्वभाग को ग्रहण करते हैं उस तरह हम सब साथ मिलकर चले और आपके मन समान रूप से तत्व की स्थिति आदि को समझे इस तरीके से संज्ञान सुक्त के द्वितीय मंत्र में भावात्मक एकता प्रस्थापित करने की प्रेरणा प्रदत्त है।

उपरोक्त मंत्रों में संवनन ऋषि द्वारा संज्ञान के सभी प्राणियों में पारस्परिक भेदभाव भूलकर एकता के सूत्र में आबाद होने की प्रेरणा दी गई है। हजारों वर्ष पूर्व कैसी अद्‌भुत सद्‌भावना है। सभी एक बने वैसी प्रार्थना, राष्ट्र ऐक्य भावना की पवित्र कामना सर्व प्रथम ऋग्वेद और अन्य वेदों में मिलती है। राष्ट्र अविचल सुदृढ़ और सर्व प्रकार से संपन हो वैसी प्रत्येक आर्यो में भावना थी। यज्ञों में वरुण, इन्दू, बृहस्पति तथा अग्नि जैसे शक्तिशाली देवों को, वह राष्ट्र को स्थिर बनाने की प्रार्थना करते हैं।

*ध्रुवं ते राजा वरूणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।*

*ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।।*[7]

समस्त राष्ट्र में निवास करने वाले वेदिक युगी मानव एकता के सूत्र में आबद्ध थे। वह राष्ट्र के किसी भी भाग में निवास करते हुए भी एक परिवार के समान रहते थे। और दुग्धदात्री धेनु जैसी पृथ्वी के पास अनेक प्रकार से धन और ऐश्वर्य का संदोहन करके आनंदमय जीवन व्यतीत करते थे।

अथर्ववेद में भी राष्ट्र की एकता पर ही गौर किया गया है। और बताया गया है कि–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।।[8]

अर्थात् भाई भाई का द्वेष न करे और बहन-बहन का द्वेष न करे वह सभी एक विचार तथा एक कर्म वाले होकर परस्पर कल्याण की बात करे–

समानी प्रपा सह वोडन्नभागः समान योक्त्रे सह वो युनज्मि ।।[9]

अर्थात् हे समानता की कामना करने वाले मनुष्यो! आपके पानी पीने का स्थान एक ही है और अन्न का भाग भी साथ होता हैः हम आपको एकता के प्रेमपाश में

बांध रहे हैं। भाषा अथवा स्थान विशेष के कारण उस वक्त ऐक्य की भावना ज्यादा प्रबल थी। विभिन्न धर्मानुयायि होने पर भी सब एक थे।

वेद के बहुत से सूक्तों में शत्रुओं से देश की रक्षा करने और उत्तमवीर पुरुषों से शत्रुवध करवाकर राष्ट्र को अध:पतन से बचाने की बात की गई है। हमेशा निरोगी जीवन आप बनाये जिससे हम राष्ट्र को तेजोमय बना सके।

इसके अलावा ऋग्वेद में भी उनके सूक्तों में राष्ट्र भावना के बीज दिखाई देते हैं। ब्रह्मा इन्द्र को अपने स्वराज्य के प्रति देशभक्ति और उसको बचाने के लिए कहते हैं कि स्वराज्य का सत्कार करके तू शत्रुओं का नार करके और तेरे शत्रुओं के सामने जा और उसे हराकर तेरे राज्य में से दूर कर तथा अपने देश के प्रति वफादारी तू दिखा एवं स्वराज्य की रक्षा के लिए और अपने राज्य में सदा समृद्धि रहे और पर्याप्त मात्रा में अन्न की उत्पति हो ऐसी प्रार्थना की गई है।

स्वराज्य की स्थापना के लिए नदियों के नजदीक रहकर स्थिर करने की बात करते हैं। और स्वराज्य सत्कार कर इत्यादि बात इस सूक्तों में कही गई है। जैसे कि–

*सहसं साकमर्चत परिष्टोभत विंशति: ।*

*रातेनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोघ्यत गर्चन्नतु स्वराज्यम् ।।*[10]

अर्थात् राज्य की शांति और समृद्धि के लिए सभी को एक होकर प्रार्थना करने के लिये सूचित किया गया है। तथा सभी एकत्र न हो सके तो 20 की संख्या में एकत्र होकर प्रार्थना करने को कहा गया है। स्वराज्य सूक्त में स्वराज्य के लिए किसी भी प्रकार का भोग देने की बात कही गई है।

यजुर्वेद अर्था यज्ञ का वेद। हमारे ऋषि मुनि यज्ञ करते वक्त राष्ट्र प्राप्ति की कामना से ऐक्य की भावना के लिए देवताओं को भावपूर्ण आहुति देते थे। जैसे कि–

*राष्ट्रया राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा ।।*[11]

शुक्लयजुर्वेद में कहा गया है कि परमेश्वर हमारे निश्चित राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वि परम जितेन्द्रिय बालक एकत्र हो, सूरवीर अस्त्र-शस्त्र में प्रवीण क्षत्रिय उत्पन्न हो। तथा राष्ट्र की शक्ति स्वरूप गौ-माता अतिशय दुग्ध देने वाली हो और अतिशय बोझ वहन करने वाले सक्षम बैल तथा क्षिप्रगामी अश्व भी उत्पन्न हो। नगर की रक्षा कर सके ऐसी विरांगना और रूपवती नारियां भी उत्पन्न हो राष्ट्र के पुरुष और तरुण सभा में कुशल ऐसे शूरवीर पुत्र उत्पन्न हो। हम सभी का योगक्षम सुखमय बने।

*उफं आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसि जायताम् वीरो जायताम् ।*[12]

इस तरह उपरोक्त सूक्तों से स्पष्ट होता है कि वैदिक वाङमय का मूल उद्देश्य देशवासियों में राष्ट्र भक्ति की भावना का संचार करके उसे स्वावलंबी बनाने का था।

अन्य अर्थ में कहें तो ऋषिओं ने इन मंत्रों के द्वारा देशवासियों को यह बोध दिया है। और विभिन्न धर्म संप्रदाय, जाति के साथ संबंधित होने पर भी एक ही माता के और पुत्र होने से हम देश बान्धव हैं। इस तरह भारतीय वैदिक साहित्य विश्व बंधुत्व की भावना से संपन्न हैं। इस भावना का अर्थ है केवल राष्ट्र के प्रति अपार आस्था, प्रकट करना ही नहीं अपितु राष्ट्र अथवा उसके धर्म भाषा, इतिहास, एवं संस्कृति में सभी संपूर्ण श्रद्धा रखना है।

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक वाङमय का मूल उद्देश्य देशवासियों में राष्ट्रभक्ति की भावना का विस्तार करके उसे स्वावलंबी बनाने का था इसके लिए उन ऋषियों ने कहा है कि मातृभूमि, मातृ संस्कृति और मातृभाषा नामक त्रिविध सुख प्रदान करने वाली देवी आपके अंत:करण में सर्वदा निवास करे।

## संदर्भ सूची तथा पाददीप


- वैदिक रत्न मंजुषा–प्रो. डॉ. हिना बहन कीकानी, बहाउद्दीन कॉलेज-जुनागढ़
- संस्कृत साहित्य का इतिहास–वाचस्पति गैरोला, चोखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
- अथर्ववेद भूमिसूक्त–डॉ. रजनीभाई जोशी, श्री पाद् सातवेलकरजी
- ऋग्वेद–स्वराज सूक्त-अनुवाद पं. श्री पाद् सातवेलकरजी
- अथर्ववेद–6/87-6/88
- ऋग्वेद–1/173


## पाददीप

1. यजुर्वेद
2. अथर्ववेद–12/1/18
3. अथर्ववेद–12/1/12
4. अथर्ववेद–12/1/16
5. ऋग्वेद–10/191/8
6. ऋग्वेद–10/191/2
7. अथर्ववेद–6/88/2
8. अथर्ववेद–3/30/3
9. अथर्ववेद–3/30/6
10. ऋग्वेद–1/80/8
11. यजुर्वेद–9/80
12. शुक्लयजुर्वेद।

# आधुनिकसंस्कृतकाव्यशिक्षणे प्रयुक्तप्रश्नानुप्रश्नविधेः मूलस्त्रोत-एकः दृष्टिः

**सुशान्तहोता**

***शोधछात्र, शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, तिरुपति***

मानवान्तर्मनसः अन्तर्निहितकारुणिकप्रवृत्ति-आकाङ्क्षा-मनोवृत्तीनां सूक्ष्मातिसूक्ष्ममालङ्कारिक- मभिव्यञ्जनमेव काव्यम्। काव्यमिदं सततम् उदारवृत्तार्थपदैरुपगतम्, समाससन्धिसमन्वितम्, सुललितपदावलीविलोलितम्,ताललयोपपत्राम्, तन्त्रीलयसमायुक्तं भवति। काव्यमेतत् कस्याः अपि भाषायाः कलात्मकं तथा साहित्यिकसौन्दर्यानुभूतेः प्रमुखं स्त्रोतः वर्त्तते।

सङ्क्षेपेण कविकर्म काव्यम्। काव्यतत्त्वरहस्यवेत्ता, काव्यसंसारस्य प्रजापतिः कविरेव स्वशक्त्या अतीतं भविष्यदपि द्रष्टुं पारयति। तदनुसारं सः स्वानुभवं स्वलेखन्या तुलिकया वा चित्रयति। एतादृशस्य कवेः काव्यं संस्कृतवाङ्मयनन्दनवनस्य सुगधितं पारिजातपुष्पं यस्य सुमनोहरैः सुरभैः काव्यतत्वास्वादनशीलः सहृदयः परमानन्दं प्राप्नोति।

संस्कृतशिक्षाक्षेत्रे एतादृशस्या काव्यस्य शिक्षणे अभिरूचिविवर्धनाय, ओजः माधुर्यप्रसादगुणसमन्वितैः तत्वैः सौन्दर्यानुभूतिसम्पादनाय ये विधयः उपयुज्यन्ते ते संस्कृतकाव्यशिक्षणविधयः इति ख्याताः। संस्कृतकाव्यशिक्षणेऽस्मिन् उपदेशात्मक- प्रश्नानुप्रश्न- खण्डान्वय-दण्डान्वय-भाष्य-टीका-समीक्षा-तुलना-व्याख्यानप्रभृतय :अनेके विधयः प्रयुज्यन्ते। साम्प्रतिकसमये संस्कृताकाव्यशिक्षणान्तर्गते समुपयुक्तेषु एषु विधिषु प्रश्नानुप्रश्नविधेः मूलस्त्रोतः किम् ? इति जिज्ञासायां लघुशोधप्रत्रमेतत् मया प्रस्तुतम्।

सामान्यतः प्रश्नोत्तरपरम्परा सृष्टेः प्रारम्भात् एव प्रचलिता वर्त्तते इति ज्ञायते। आदिमकाले जगत्स्त्रष्टा ब्रह्मा यदा समुत्पत्रोऽभूत् तदानीं तस्य मनसि प्रश्नोऽयं प्रस्फुटितः। यथा-

*क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु।। इति।।*

(श्रीमभ्द्रागवतम् ३. ८. १८)

अर्थात् कमलस्य कर्णिकायामुपविष्टः कोऽहम् ? कमलमेतत् कारणेन विना जलेऽस्मिन् कुतः समुत्पत्रम् ? प्रश्नोऽयं संसारस्य आदिप्रश्नः इति नास्ति काऽपि अतिशयोक्तिः। जगन्मातुः। भगवत्याः पार्वत्याः प्रश्नानां, भगवतः शङ्करस्य च उत्तराणां फलस्वरूपं जगत्यस्मिन् विविधाः लौकिकाः अलौकिकाश्च विधाः प्रकटिताः, विविधानि शास्त्राणिच विरचितानि सञ्जातानि।

सामान्यतया बाल्यावस्थायामेव जिज्ञासोः हृदये प्रश्नाः समुल्लसिताः भवन्ति। सन्तोषप्रदोत्तरप्राप्तये च सः उपयुक्तगुरूम् अन्विष्यति। तस्मात् श्रीमखगवद्गीतायां भगवता श्रीकृष्णेन उक्तम्-

*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।*

*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। इति।।* (गीता ४.३.४)

ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः इति कथनस्य तात्पर्यमेतत् यत् प्रश्नानां समुचितमुत्तरं प्रदातुं स एव समर्थः यः शास्त्रविद् तत्त्वविच्चास्ति इति।

संस्कृतकाव्यशिक्षणे विधिरयं राजते। उपनिषद्काले शिष्याणां जिज्ञासाशान्तये आचार्यैः तेषां शिष्याणां प्रश्नानां समाधानं प्रदत्तमासीत्। प्रश्नोपनिषदि पिप्पलादमहर्षेः आश्रमे कबन्धि-भार्गव-आ श्वालायन-सौर्यायणि-सत्यकाम-सुकेशाप्रभृतयः शिष्याः वेदाध्ययनसम्बन्धिन्यः स्वजिज्ञासाः प्रकटितवन्तः। यथा-

ऊँ सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणिः च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गव वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठां परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः

इति।।१।।

तान्ह स्म ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथा कामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः .............इत्यादि।

पुनश्च कठोपनिषदि यमनचिकेतसो सम्बादः प्रश्नानुप्रश्नविधेः उदाहरणरुपेण अस्माकं समक्षमागच्छति। तथाहि-

*स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति*

*न तत्र त्वं न जरया विभेति।*

*उभे तीर्त्वाशिनाया पिपासे*

*शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। इति।।* (कठ. प्रथमावल्ली-१२)

एतादृशान् प्रश्नान् यमराजस्य समक्षं ब्रह्मज्ञानपिपासु नचिकेता समुपस्थापयति।

इत्थम् आधुनिकशिक्षाप्रणाल्यां शिक्षाशास्त्री सुकरात् अपि स्वशिष्याणां प्रश्नानामुत्तराणि दत्वा अध्यापयति स्म। तन्मतानुसारं ज्ञानं प्रत्येक व्यक्तेः हृदि विद्यमानं भवति। ज्ञानस्योद्घाटनं शिक्षायाः प्रमुखं कार्यम्। इदानीं विद्यालयेषु काव्यशिक्षणसमये सर्वे संस्कृताध्यापकाः एनं प्रश्नानुप्रश्नविधिं समाश्रित्यैव अध्यापयन्ति। विधिरयं काव्यशिक्षणे महदुपकारं संसाधयति। विद्यालयेषु उपयुज्यमानः प्रश्नानुप्रश्नविधिरयं वैदिक तथा उपनिषद् कालिन शिक्षायाः अवदानमिति निः सन्देहं स्वीकर्त्तुं शक्यते।

।।इति शम्।।

### *परिशीलिताग्रन्थसूची*


१. संस्कृतशिक्षणम्, डा. सन्तोष मित्तल्।

२. श्रीमखगद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर।

३. कठोपनिषद्, गीताप्रेस्, गोरखपुर।

४. प्रश्नोत्तरमणिमाला, गीताप्रेस, गोरखपुर।

५. भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः।

६. ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

# वैशेषिकदर्शने शिक्षा

विद्याधर हरिचन्दनः

*शोधछात्रः, शिक्षाविभाग, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठम्, तिरुपतिः*

विशेषाभिधस्य पदार्थस्य प्रतिपादनमिदं दर्शनं वैशेषिकमित्युच्यते। "वैशेषिक" इति पदं विशेषाद्व्युत्पनम्, अस्य नाम्नः आधारश्चायं विश्वासो यद्विश्वेषामपि वस्तूनां वैशिष्ट्यमेतेषां वास्तविकं स्वरूपम्। वैशेषिकदर्शनेनाऽस्य दृश्यमानस्य जगतस्सप्तषु पदार्थेषु वर्गीकरणं विहितमस्ति। सप्तानामेतेषां पदार्थनां समग्रं विश्लेषणं दार्शनिकक्षेत्रेऽप्रतिम एव प्रयोगः, वस्तुतत्त्वस्य भावोऽभावश्च सर्वमपि तेषु निहितम्। तेभ्यस्सप्तेभ्यः परं न किञ्चत्प्रतिपाद्यमवशिष्यते, इदामवधारणमेव वैशेषिकस्य वैशिष्ट्यम। अशेषजनोज्जिजीविषया आसृष्टेराहितप्रचाराणामाम्नायानामभिरक्षणदीक्षीतैः अध्यक्षितपरावरैः परमर्षिभिरनुगृहीन तेषु शास्त्रेषु दर्शनेषु अन्यतमं तावत् कणादोपज्ञं वैशेषिकदर्शनं नाम (वैशेषिकदर्शनम्, रसायनभाष्योपेतम्, भूमिकायां, पृ.१)। वैशेषिकदर्शनम् अत्यन्तम् अखूतं भवति। उच्यते-वैशेषिकं किमपि दर्शनमुखुतं ते (सुभाषित रत्नभाण्डागारम्)। वस्तूनां सधर्मता, विषयधर्मता, समानता, असमानतायाः साररूपं वैशेषिकदर्शने काणादेन सूत्ररूपेण प्रतिपादितम्।

*धर्मविशेष प्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां।*

*पदार्थनां साधर्म्यवैधर्माभ्यां तत्त्वज्ञानात्रिः श्रेयसम्।।*

*(१:४)*

वैशेषिकदर्शने षट् पदार्थाः परिगणिताः सन्ति। किन्तु कालान्तरे वैशेषिकशास्त्रस्याचार्यैः आभावस्यापि सप्तमपदार्थरूपेण परिगणनं कृत्वा सप्तपदार्थनां विवेचनमेव वैशेषिकस्य प्रतिपाद्यं निर्धारितम्। ते यथा-द्रव्यगुण-कर्म-सामान्य-विशेष- समवाय-अभावश्चति। न्यायशास्त्रस्य षोडशपदार्थनाम् एषु सप्तष्वेव पदार्थेषु अन्तर्भावो जायते इति वैशेषिकस्य मान्यताऽस्ति। दर्शनमिदं परमाणुवादी वर्तते। अतः तन्मतानुसारेण सृष्टिक्रमः परमाणुभ्य आरभ्यते। अनेन दृष्टिकोणेन महाभूतान्यपि नित्यानित्यत्वेन द्विधा प्रतिपादितानि। कारणरूपेण सर्वाणि नित्यानि भवन्ति किन्तु कार्यरूपेण सर्वाणि अन्त्यिानि भवन्ति। अनित्यानां पुनः शरीरेन्द्रिय विषयभेदात् त्रैविध्यमपि प्रतिपादितमस्ति। दिक्कालौ नित्यो विभू च मन्यते। उपाधिभेदात् व्यवहारे कालस्य त्रयो भेदा उक्ताः- वर्तमानः भूतः भविष्यच्च। एक्मेव दिशोऽपि भेदा अभिव्यक्ताः प्राची-अवाची-उदीची दक्षिणाश्चेति।

शिक्षायाः तात्पर्यम्-

वैशेषिकसूत्रेषु शिक्षायाः तात्पर्यं पदार्थनां अववोधनेन साकं जीवनस्य लक्ष्यप्राप्तिः इत्यर्थे भवति। वैशषिकदर्शनानुसारं बुद्धेः विद्या तथा अविद्या चेति प्राधानतया रुपद्वयं वर्त्तते। केचन विद्वांसः ज्ञानं अज्ञानश्चेति इत्यपि वदन्ति। महर्षिकणादस्य सूत्रेंषु विद्या

दोषरहितज्ञानमिति कथ्यते। यथ-अदृष्टं विद्या (वैशे. सूत्र ९-२-१२) इति। अविद्याविषये उच्यते-दृष्टं ज्ञानं। (वैशे. सूत्र ९-२-११)। अविद्येयम् इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषात् वा भवति तद्यथा-इन्द्रियदोषात् संस्कार: तेषाच्चाऽविद्या। (वैशे. सू. ९-२-१०) अर्थात् या विद्या दोषरहिता तथा च निर्मला सा विद्या इति कथ्यते। वैशेषिकदर्शनानुसारं विद्या चतुर्विधा भवति। यथा- प्रत्यक्ष-अनुमान-स्मृति- आर्षश्चेति अविद्या अपि चतुर्विधा भवति। यथा-संशय: विपर्यय:,

अन्वष्टयवसाय: स्वानश्चेति। अविद्या मिथ्याज्ञानमिति कथ्यते। कर्मण: तथा धर्मस्य च ज्ञानं शिक्षा भवति।

शिक्षाया: उद्देश्यानि-

### १. *सदसत् इत्यस्य ज्ञानप्रदानम्-*

शिक्षाया: उद्देश्यं भवति पदार्थस्य परिचय: अथवा प्रत्यक्षीकरणम्। वस्तुत: सत् तथा असत्। अस्तित्वं तथा अनस्तित्वं इति विषये ज्ञानप्रदानं तथा च तदानुकूलपगत: कार्यव्यापारस श्चेत्रकरणं शिक्षाया: प्रथमोद्देश्यं भवति।

### २. *तत्त्वज्ञानप्रदानम्-*

वैशेषिकदर्शन बुद्धि: उपलब्धि: ज्ञानं प्रत्यय: एते चत्वार: समानार्थका: शब्दा: सन्ति। अत्र बुद्धि: द्विप्रकारा अभिमता-विद्या अविद्या च। अविद्याऽपि चतुर्धा प्रतिपादिता-संशय: विपर्यय: अध्यवसाय:, स्वप्नश्च। तत्र स्थाणुर्वा पुरूषो वा इत्याकारकं ज्ञानं संशयोऽस्ति। विपरीतं ज्ञानं विपर्ययो भवति। अनिश्चयोऽनध्यवसाय उच्यते। स्वप्नज्ञानं तु संस्कारपाटवेन धातुदोषेण अथवा अदृष्टेन संभवति। दर्शनेऽस्मिन् विद्यायाश्चत्वारो भेदा: प्रतिपादिता:-प्रत्यक्षं लौङ्गिकं स्मृति: आर्षश्चेति। वैशेषिकमतेऽपि प्रत्यक्षम् इन्द्रियार्थसत्रिकर्षजन्यं भवति अर्थात् इन्द्रियार्थयो: संयोगेन उत्पत्रं ज्ञानं प्रत्यक्षं भवति। लैङ्गिकं ज्ञानमनुमानं भवति। अतीन्द्रियविषयाणां स्पप्रतिभया क्रियमाणं यथार्थज्ञानं भवति।

### ३. *मनस्तत्त्वनिरूपणम्-*

वैशेषिकदर्शने मन: भवति आत्मनि सुखदु: खयोरनुभवस्य साधनम्। ज्ञानस्य साधनानां यद्यपि इन्द्रियाणां तद्विषयाणाम् आत्मनश्चस्तित्वमस्ति तथापि मनो विना क्वचिदपि ज्ञानं नोत्पद्यते। यथा बाह्यविषयाणां ज्ञानं बाह्येन्द्रियै: सम्भवति तथैव सुखदु:खादि सदृशानाम् आन्तरिकविषयाणां ज्ञानम् अन्तरिन्द्रियेण मनसा एव जायते। ज्ञानस्य असाधारणकारणतया मनस: अपह्वोऽपि सम्भवो नास्ति।

### ४. *सद्व्यवहारिकजीवनस्य क्षमताप्रदानम्-*

वैशेषिकशिक्षादर्शनानुसारं शिक्षाया: तृतीयोद्देश्यं भवति व्यावाहारिकजीवनस्य

क्षमताप्रदानम्, विशुद्धाचरणं, संध्यावन्दनं च सत्कर्मणः अनुष्ठानेन मनुष्यः पदार्थस्य वास्तविकज्ञानं प्राप्तं शक्नोति। एतादृशीशिक्षया वस्तुनः यथार्थज्ञानं भवति। परन्तु यथार्थज्ञानप्राप्त्यर्थं जीवने उपयुक्तमाचरणं तथा व्यवहारस्य अभ्यासं आवश्यकं भवति।

### ५. *कर्त्तव्यज्ञानप्रदानम्-*

यस्याचरणात् तत्त्वज्ञानं मुक्तिश्च प्राप्यते तदेव कर्त्तव्यमिति वैशेषिकाः स्वीकुर्वन्ति। यस्य ज्ञानात् अभ्युदयरूपिणः तत्त्वज्ञानस्य प्राप्तिर्भवति, निःश्रेयसरूपिणः मोक्षस्य प्राप्तिश्च भवति स एव धर्मो भवति। आचार्यप्रशस्तपादेनोक्तं-यस्याचरणात् साधकः मोक्षं लभते स एव धर्मः। यः अतीन्द्रियः शुद्धसंकल्पेन समुत्पनः स्ववर्णधर्मानुगतकर्मरूप श्च धर्मो भवति। धर्मस्य रूपद्वयं वर्तते-सामान्यो धर्मः विशेषधर्म श्च। आभ्यां द्वाभ्यां रूपाभ्यामेव धर्मस्य सिद्धिर्भवति। सत्य-अहिंसादयः सामान्यधर्माः सन्ति किन्तु वर्णाश्रमणां विहितकर्माणि विशेषधर्माः एतानि कर्माणि यदि सकामभावेन क्रियन्ते तदा अनुकूलफलप्रदानि भवन्ति। यदि च निष्कामभावेन अनुष्ठीयते तदा तत्त्वज्ञानाय सहायकानि जायन्ते।

### ६. *सृष्टितत्त्वप्रदानम्-*

द्वयोः परमाणवोः संयोगो द्रव्यणुको भवति किन्तु द्रव्यणुकस्य परिणामोऽपि अणुसदृश एव वर्तते। स च नैव दृश्यते। अतो द्रव्यणुके यत्कार्यद्रव्यं जायते तदपि अणुपरिमाणेव भवति। तदपि दृष्टिभूतं न भवति। अतएव वैशेषिकदर्शने द्वयणुकादिस्थयूलस्य कार्यद्रव्यस्य उत्पत्तये त्रिसंख्या गृहीता। स्थूलेन अथवा महत्परिमाणेन द्रव्येण अथवा त्रिसंख्यया एव स्थूलद्रव्यस्य उत्पत्तिः सम्भवाऽस्ति। अतो यदा त्रयाणां द्रव्यणुकानां संयोगो।

### ७. *मोक्षप्राप्ति-*

वैशेषिकशिक्षायाः अपरमुद्दश्यं मोक्षप्राप्तिः भवति। वैशेषिकदर्शने तत्त्वज्ञानं मोक्षस्य प्रमुखं साधनमिति मन्यते (प्रो. संगमालाल पाण्डेय-भारतीयदर्शन का सर्वेक्षण-पृष्ठ-२२३)। प्रशस्तपादभाष्येऽपि उच्यते-द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां षण्णां पदार्थनाम् साधर्म्य वैधर्म्य तत्त्वज्ञानं निः श्रेयहेतुः। धर्माचरणेन तत्त्वज्ञानस्य वा समाप्तिर्जायते। तदानीम् अदृष्टसमाप्तेः कर्मचक्रम् अवरुद्ध्यते। फलस्वरूपं शरीरेण आत्मनः सम्बन्धविच्छेदो भवति। आत्मनः सम्बद्धतायाः विनाशे सति जननमरणयोः परम्पराऽपि विच्छित्रा भवति। तदा सर्वेषां दुःखानां आत्यन्तिकं विनाशोऽति सम्भवति। मोक्षस्य साधनेषु सर्वप्रथमं श्रद्धाया नाम गण्यते। श्रद्धां विना तत्त्वज्ञानं न उदेति। कुलीनता, श्रद्धा, जिज्ञासा चेति त्रीणि तत्त्वज्ञानस्य अत्यावश्यकानि साधनानि सन्ति। एवमेव श्रवण-मनन-निदिध्यासन- साक्षात्कारैश्चापि तत्त्वज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति। अनेन सिद्ध्यति यत् तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिरस्ति।

*पाठ्यचर्या-*

वैशेषिकशिक्षादर्शनस्य पाठ्यचर्यायां भौतिकविज्ञानं, रसायनविज्ञानं अन्तरिक्षविज्ञानं, मनोविज्ञानं, नीतिशास्त्रं, तर्कशास्त्रं, धर्मशास्त्रं, इत्यादयः विविधाः क्रियाः अन्तर्मुक्ताः भवन्ति. एतादृशी पाठ्यचर्या व्यापिका विविधा च भवति। अत्र विज्ञानं, साहित्यं, भाषा, दर्शनादिविषयाः समाविष्टाः भवन्ति।

*शिक्षणविधय-*

***क) सूत्रविधि-***

महर्षिकणादेन लिखितं वैशेषिकदर्शनं सूत्ररूपेण प्राप्यते। सूत्रमेकं अतीव सूक्ष्मकथनं भवति। तथा तत्र विविधप्रसङ्गानां सङ्केतः प्राप्यते। उदाहरणार्थम्-तद्वचनादाम्नायस्य प्रमाण्यम् इति। (वैशे. सूत्र १:२:३) अस्मिन् विधौ वेदप्रमाणम्, धर्मप्रमाणञ्च पालनीयम् इति सङ्केतः वर्त्तते।

***ख) तर्कविधि-***

वैशेषिकदर्शने तर्कविधेः प्रयोगः क्रियते। अस्मिनदर्शने तर्कनामयुक्तकेषाञ्चन पुस्तकानामपि उल्लेखः प्राप्यते। यथा- लौगाक्षिभास्करस्य- तर्ककौमुदी, अत्रभदृस्य- तर्कदीपीका, केशवमित्रस्य-तर्कभाषा, व्ययाकारस्य- तर्कामृतं, वरदराणस्य- तार्किकरक्षा इत्यादयः।

***ग) उपदेश, व्याख्या, वर्णनविधि-***

प्राचीनशिक्षापद्धतिः वस्तुतः उपदेशपूर्णा अभवत। वैशेषकदर्शनस्य प्रथमसूत्रं भवति- अथातो धर्म व्याख्याप्यामः इति (वै. सू-१:१:१)। अर्थात् इदीनीं धर्मस्य व्याख्या क्रियते।

***घ) विश्लेषण तथा संश्लेषणविधि-***

विशेषिकदर्शने तर्कसमये विश्लेषणविधेः प्रयोगः भवति। उदाहरणार्थं महर्षिकणादस्य सूत्रं भवति-

प्रवृतिनिवृत्तिः च प्रत्यगात्मनि दृष्टं परत्र लिङ्गम्। (वै. सू-३-१-२०)

आत्मन्द्रियार्थसत्रिकर्षे ज्ञानस्य भायोऽभावश्चमनसो लिङ्गम्। (वै. सू-३:२:१)

अत्र पदार्थस्य विश्लेषणं दीयते।

पदस्यार्थः पदार्थः अर्थ प्रकाशको वुद्धिः

गुणत्व जातिमान् गुणः निषेधमुख प्रमाणगम्योखावः। इति।।

### ङ) प्रत्यक्षविधि-

वैशेषिकदर्शनं प्रत्यक्षविधेः प्रयागस्य समर्थनं करोति। वैशेषिकदर्शने पदार्थस्य यत् विश्लेषणं भवति तत्तु प्रत्यक्षानुभूतेः साहाय्येन एव क्रियते।

### च) मौखिकविधि-

दर्शनमिदम् मौखिकविधेः प्रयोगस्य समर्थनं करोति। सूत्राणां प्रयोगः मौक्षिकविधमाध्यमेनैव भवति। सूक्ष्म तथा साररूपाणां वर्णनं मौखिक विधिमाध्यमेन भवति स्म।

### अध्यापक-

वैशेषिकदर्शनानुसारं अध्यापकः ज्ञानवान्, श्रद्धावान्, नम्रः भवेत्। सः सर्वदा विद्यार्थीणां वौद्धिक तथा मानसिकविकासार्थं वलं दद्यात्।

### विद्यार्थी-

विद्यार्थेः जीवनं सरलं न भवत्। सः सर्वदा ज्ञानार्जनाय कठोरं परिश्रमम् कुर्यात्। गुरोः उपदेशग्रहणं, ज्ञानस्य अन्वेषणं, ज्ञानप्राप्तिः, दुःखात् मुक्तिः, विद्यार्थिनः लक्ष्य अवश्यं स्यात्।

### अनुशासनम्-

वैशेषिकानुसारं मानवोचित स्वाभाविकनुशासनस्य पालनं कुर्यात। आत्मनुशासनं पालीयम् वर्तते।

### विद्यालय-

वैशेषिकदर्शनस्य प्रणेता एकः ऋषिः आसीत् यः शिक्षाप्रदानं स्वकीये आश्रमे करोति स्म। अतः विद्यालयः एकान्ते, ग्रामात् वहिः तथा च क्षेत्राणां समीपे आसीत् इति वक्तुं शक्यते। विद्यालयस्य मुख्यः ऋषिः अथवा गुरूः आसीत्। अपि च एकः विशेषविद्यालयः आसीत् यस्मिन् विशेषज्ञानानि प्रदीयन्ते स्म यत् वैशेषिकमिति उच्यते। अनेनप्रकारेण विद्यालयः विशेषशिक्षायाः केन्द्रमासीत्।

शिक्षामानवस्य अन्तरनिहतशिक्तिनां विकासं करोति इति सर्वैः मन्यते। व्यवहारदृष्ट्या अपि वैशेषिकदर्शनं सर्वेषां कृते अत्यन्तमुपयोगी। अतः शिक्षायाः उपरि अस्य प्रभावः नूनं भवति भविष्यति च।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

वैशेषिकदर्शनम्, वैशेषिकसूत्रम्, शिक्षायाः दार्शनिकाधारः, भारतीय शिक्षादर्शनम्,

# विद्यामाधवविरचिते पार्वतीरूक्मिमीयमहाकाव्य अलङ्कारविमर्शः

**सोमनाथमुखार्जी**

***शोधच्छात्रः, साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरूपतिः***

स्त्रीणामलङ्करणाय यथाऽऽभरणानि आवश्यकानि तथा काव्यस्यालङ्करणेऽपि अलङ्काराः आवश्यकाः भवन्ति। काव्यशोभातिशयकर्तारः अलङ्काराः एवेति कथ्यन्ते। ते तस्य शोभातिशयं कुर्वन्तीति भावः।

अलङ्काराः प्रथमतः द्विविधाः भवन्ति। शब्दानां पुनरावृत्तित्वेन शब्दालङ्काराः भवन्ति। अर्थसौन्दर्येण भावसौन्दर्येण वा अर्थालङ्काराः भवन्ति।

काव्येऽस्मिन् द्विविधानलङ्कारान् कविः प्रयुक्तवान्। तत्रादौ अनुप्रासालङ्कारः।

### १. अनुप्रासालङ्कार

*उपरिश्रितमाननेन्दुना सुतनोः कण्ठमनङ्गदीपनम्।।*

*(पा. रू. २। ११)*

*इत्यत्र नकारस्यावृत्तिः श्रवणसुभगत्वं भजते। अतोऽयं वृत्त्यनुप्रासालङ्कारः।*

*तुष्टेन तुष्टवुरभीष्टगिरो मुनीन्द्राः। (पा. रू. ७।२४)*

### २. यमकालङ्कार

*प्रोवाच वाचं प्रियसंहितां हितां स्मृतामराधीशगुणां गुणाधिकाम्।।*

*(पा. रू. ३। ८)*

इत्यत्र हितां, गुणाम् इति पदयोः आवृत्तेः कारणेन, अन्वये तात्पर्यस्यार्थभेदत्वात् अयं यमकालङ्कारः इति कथ्यते। एवमेवान्यत्रापि द्रष्टव्यः।

अथ अर्थालङ्कारविषये कविरयं महाकविकालिदासमनुकरोति। अर्थात् उपमा कालिदासस्य इति भावः। तथैव कविरयमुपमालङ्कारं प्रयुक्तवान् यथा–

### ३. उपमालङ्कार

*शिरसः पुष्पमालेव पद्मासम्पादिवम्भसः।*

*व्योम्नः शशिकलेव त्वं कुलस्यास्य विभूषणम्।। (पा. रू. ५। ३)*

इत्यत्र पादत्रयेषु उपमालङ्कारः स्पष्टं विद्यते। "मेघशब्दं मयूरीव" (पा. रू. ५।

२०), "प्रथयन्तीव भवस्थितं चलाम्" (पा. रू. २।२), "करीन्द्ररूद्धा करिणीव बाला" (पा. रू. ५।४७) इत्यादीनि बहूनि उदाहरणानि उपलभ्यन्ते।

### ४. *रूपकालङ्कारः*

*अभवदमलमुक्तानूपुरं सिन्दुवारं*

*कुरवकमुरूकाञ्ची मालतीहारयष्टिः।*

*नवतिलकमशोकं कर्णिका कर्णिकारं*

*सुरभिसुरभिलक्ष्म्याः चारूचूतावतंसाः।। (पा. रू. ८।७)*

### ५. *उत्प्रेक्षालङ्कार*

*प्रभममिव पदं वसन्तलक्ष्मीः रणदलिनूपुरमादधादशोके।*

*अत इव दृढदौहदस्सुहृद्यैः सभ्रशमयुज्यतपल्लवैः प्रसूनैः।। (पा. रू. ८। ६)*

### ६. *अर्थान्तरन्यासालङ्कार*

*मिथुनानि रतोद्यतानि दृष्ट्वा त्रपया दूरगतेऽनुयायिर्लोकाः।*

*स्थितमुत्रिषता स्मरेण तत्र क्व नु रत्युत्सुकमानसस्य लज्जा।। (पा. रू. ९।४५)*

### ७. *काव्यलिङ्गालङ्कार*

*जगतीं जयतीति नाखुतं नृपतिः पुरूषबाहुजसम्भवः।*

*भुवनान्यजयत् यदाश्रयम् अबलाया अपि तौ भुजौ स्मरः।। (पा. रू. २।१८)*

### ८. *क्रमालङ्कार*

*कुलेहीनं कुलोखुतां निर्गुणं गुणशालिनी।*

*विरूपं रूपशोभाढया त्वमर्हसि न तं पतिम्।। (पा. रू. ५।७)*

अत्र कुलहीनं, निर्गुणं, विरूपं, नायकपरान्वयः, कुलोखुता, गुणशालिनी, रूपशोभाढया नायिकापरान्वयः। अतोऽत्र क्रमालङ्कारः।

### ९. *सारालङ्कार*

*कुलन सदृशं रूपं, रूपेण सदृशी मतिः।*

*मत्या ते सदृशी विद्या, विद्यया सदृशी स्थितिः।। (पा. रू. ५।४)*

सुप्रसिद्धालङ्कारेषु कतिपयालङ्काराः काव्येऽस्मिन् प्रयूक्ताः। द्विसन्धानकाव्यत्वेऽपि अस्मिन् विषये क्षतिः न जाता इति वक्तुं शक्यते। इत्थं कविना पार्वतीरूक्मीणीयमहाकाव्ये अलङ्काराणां विमर्शः कृतः।

# जनसम्पर्क के प्रमुख स्तर

**कुमार चन्दन**

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, ति.माँ. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर-812007 (बिहार)*

जनसम्पर्क एक कला है जिसकी साधना करने के लिए जनसंचार साधना उपलब्ध कराता है। इस दृष्टि से जसंचार यदि रथ है तो जनसम्पर्क सारथी है। जाहिर है कि एक सारथी के रूप में जनसम्पर्क-कर्त्ता का दायित्व और कर्त्तव्य अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। जनसंचार के समस्त साधनों या माध्यमों को प्रभावोत्मादक और सुनियोजित प्रयोग द्वारा जनमत निर्धारण में सहायक बनाना जनसम्पर्क का कार्य है। जिस प्रकार वाद्य-वृन्द के विभिन्न यंत्र जब किसी सिद्धहस्त परिचालक का निर्देशन प्राप्त करते हैं तो अनेकाविद्य ध्वनियों के स्थन पर स्वर्गिक संगीत की अनुपम स्वर-लहरी श्रोताओं की आत्मा को आन्दोलित और स्पंदित कर देती है (ऐसी ही भूमिका को जनसंचार के क्षेत्र में जनसंपर्क की संज्ञा दी जाती है।[1]

अभिप्राय यह कि 'यदि जनसंचार को जनसंपर्क का निर्देशन या इसके द्वारा ताल-मेल की सहायता न मिले तो विभिन्न माध्यमों से जो भी प्रचार किया जाएगा, उसमें समस्वरता या एकरूपता, लेशमात्र भी नहीं रहेगी और ऐसा होने पर जनसंचार पर किया गया सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा/जनसम्पर्क जनसंचार में सामंजस्य और समस्वरता पैदा करता है। इसके लिए तकनीक की ठोस जानकारी के साथ-साथ कलात्मक दक्षता, बुद्धि-विवेक और पहलकदमी के गुणें का होना अपरिहार्य होता है।[2]

जिस तरह एक अभियंता को किसी भवन या किसी अन्य परियोजना निर्माण के लिए पहले एक नक्शा बनाकर तत्पश्चात् उसके अनुसार सामग्री-संचयन कर तब निर्माण-कार्य प्रारंभ करना होता है। वैसे ही एक जनसंपर्ककर्त्ता को अपनी योजना पर काम करके अपने लक्ष्य को सिद्ध करना होता है। जाहिर है कि जनसंपर्ककर्त्ता को स्थूल सामग्री के बजाय सूक्ष्म सामग्री-जनसाधारण की रूचि-अरूचि, इच्छा-अनिच्छा से काम लेना पड़ता है और उसे व्यक्ति से लेकर सामूहिक जन-मनोविज्ञान को समझना और उसका ध्यान रखना पड़ता है और कई जनसंगठनों, दलों आदि से उत्पन्न वाद्याओं और उनकी अपेक्षाओं की कसौटी पर उतरना होता है। इसलिए जनसंपर्क कार्य के लिए दिलेर, बहादुर, कर्मठ, उत्साही, सूझ-बूझ संपर्क, लचीले लोगों की आवश्यकता होती है जिनके दिलों में कुछ कर दिखाने की उमंग उछलती रहती है। इसीलिए डॉ. गैलप ने जनसंपर्क की जनमत निर्माण की अनियांत्रिकी कहा है।[3]

सक्षम जनसंपर्क के बिना लोकतंत्र मिथ्या और निराधार बनकर रह जाता है क्योंकि जन-समर्थन जनसंपर्क द्वारा ही प्राप्य है। जनसंपर्क की आवश्यकता केवल प्रशासन या राजसत्ता का ही नहीं होती बल्कि कोई भी समुदाय या सामाजिक संगठन अपने घटकों के सहयोग और विश्वास के बल पर ही स्थिर रह सकता है और इस

सहयोग तथा विश्वास को जनसंपर्क की सहायता से जनसंचार के साधनों द्वारा ही अर्जित और संग्रहित किया जा सकता है।[4]

अभिप्राय यह है कि जनसंपर्क का काम बहुमुखी और निरन्तर चलने वाला होता है क्योंकि जनसंपर्ककर्त्ता को जनसंचार के सभी साधनों की गतिविधियों पर हमेशा दृष्टि रखनी पड़ती है ताकि सभी समान रूप से प्रचार एवं लोकमत-निर्माण के लक्ष्य की सिद्धि में सहायक बने रहे।[5]

जनसंपर्क-कर्त्ता की सफलता का रहस्य यह होता है कि वह जनमत की रचना और इसकी संवेदनशीलता की बारीकियों को समझता है। इसके भावी झुकावों को पहले से ही अनुमान लगा लेता और अपने सामने एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनसंचार के तमाम उपायों से लोकमत को अपने पक्ष में करता है। जनसंपर्क का काम जनसंचार के माध्यमों की सहायता से अपेक्षित दिशा में लोकमत को झुकाना है। जनसंपर्क कर्त्ता एक प्रकार का वकील होता है जो लोकमत की अदालत में अपने पक्ष का मुकदमा लेकर पेश करता है और अपने पक्ष का पैरवी करने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं देता है। विरोध का मुकाबला करना और लोकमत को अपने अनुकूल बनाना जसंपर्ककर्त्ता का व्यावसायिक काम है। वही जनसंपर्क सफल होता है जहाँ कदम-कदम पर जन-प्रतिक्रिया पर ध्यान रहता है।[6]

वस्तुत: जनसंपर्क का काम एक प्रकार से एक हिमखंड की तरह होता है जिसका तीन-चौथाई भाग पानी में डूबा रहा है। हम सिर्फ उसका चौथा भाग ही देख पाते हैं। जसंपक-कर्त्ता को पर्दे के पीछे रहकर निम्नलिखित चार स्तरों पर कार्य करना होता है– 1. समस्या-स्थापन, 2. संदेश-रचना, 3. संदेश-प्रचार तथा 4. मूल्यांकन

### *1. समस्या-स्थापन*

समस्या-स्थापन या नीति-निर्धारण जनसंपर्क-कार्य का पहला महत्त्वपूर्ण स्तर है। उच्च स्तर पर काम करनेवाले प्रशासक या कारोबार के प्रबंधक जनमत का अध्ययन करके अपनी नीति और कार्यक्रम का स्थापन करते हैं। इस स्तर पर जिन मुद्दों का प्रचार-प्रसार करना होता है। उसे स्पष्ट निर्धारित करना पड़ता है। जैसे– यदि संसद द्वारा सब पहलुओं की देखकर किसी पंचवर्षीय योजना की स्वीकृति दे दी गई तो अब उसके कार्यान्वयन के पूर्व इसे जनता में प्रचारित-प्रसारित कर उनका विश्वास अर्जित करना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में योजनाविशेष के आधार पर यह देखा जाता है कि इसमें किस-किस मुद्दे को उठाकर 'संदेश' की रचना की जाय जिसे जनता में प्रचारित किया जा सके। जैसे– अधिक अन्न उपजाने, वृक्ष लगाने, छोटी बचत करने, राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता की रक्षा करने, परिवार नियोजन करने, साक्षरता मिशन चलाने आदि का कार्यक्रम या अभियान आदि।[7]

### *2. संदेश-रचना*

सफल जनसंपर्क के लिए 'संदेश', 'नारे', 'सूक्ति वाक्य' आदि प्रभावी भूमिका निभाते हैं। इसलिए जब समस्या-स्थापन हो जाता है अर्थात् योजनाओं का प्रारूप

निर्धारित हो जाता है, तब 'संदेश' निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण मुद्दों को चिन्हित कर संदेश-रचना की जाती है। जैसे– 'चलो पढ़ाएँ, कुछ कर दिखाएँ', 'एक या दो और बस', 'हम दो, हमारे दो', 'आराम-हराम है', 'बातें कम, काम अधिक', 'जय विज्ञान', 'सुर मिले हमारा तुम्हारा' आदि।

### *3. संदेश-प्रचार*

'संदेश-रचना' के पश्चात् 'संदेश-प्रचार' का तीसरा स्तर प्रारम्भ होता है। जनसम्पर्ककर्त्ता को यह ध्यान रखना होता है कि संदेशों का प्रचार-प्रसार समाचार-पत्रों, रेडिया, दूरदर्शन, होर्डिंग्स, दीवार-लेखन, पोस्टर, पम्पलेट आदि द्वारा सम्यक् एवं व्यापक स्तर पर हो। इसके लिए जनसंपर्ककर्त्ता समाचार-पत्र के सम्पादकी एवं मीडिया-प्रबंधकों से दोस्ताना सम्पर्क और सम्बन्ध रखते हैं। वे प्रेस कांफ्रेंसों, अनौपचारिक गोष्ठियों आदि आयोजन करता है, प्रेस विज्ञप्तियाँ रिलीज करते हैं और लोकप्रिय संचार-माध्यमों में विज्ञापन देते हैं।

### *4. मूल्यांकन*

मूल्यांकन जनसंपर्क-प्रक्रिया का चौथा महत्त्वपूर्ण स्तर है। इस स्तर पर जनसंपर्क कर्त्ता जसंचार के माध्यमों द्वारा जनता में अपने 'संदेशों' के प्रचार-प्रसार के परिणामों का अध्ययन, विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। इसका अभिप्राय यह देखना होता है कि जनता ने किस सीमा तक प्रस्तावित कार्यक्रम को स्वीकारा या नकारा है और जनता इसमें किस तरह का संशोधन या परिवर्तन चाहती है। इसके लिए जनसंपर्क कर्त्ता समाचार-पत्रों का अध्ययन करता है और अन्य सूत्रों से जनता के विचारों की जानकारी प्राप्त करता है। वस्तुत: मूल्यांकन जनसंपर्क कार्य की एक विशेष शाखा है। इसके लिए जनसंपर्ककर्त्ता को अनुसंधान और सर्वेक्षण की गहराई में उतरना पड़ता है। इसीलिए जनसंपर्क विभागों में अनुसंधान अनुभाग की स्थापना करते हुए उसे विशेष महत्त्व दिया जाता है। व्यावसायिक जनसंपर्क में इसे बाजार-शोध (Market Research) कहा गया है। इस अनुसंधान, शोध या मूल्यांकन की कई प्रविधियाँ हैं और जनसंपर्क कर्त्ता को इन सभी से गुजरकर अपने निष्कर्ष पर पहुँचना होता है।[8]

सारत:, जनसंपर्क की प्रक्रिया संश्लिष्ट और विविध स्तरीय है।

## संदर्भ :


1. जनसंचार और जनसंपर्क : डॉ. रस्तोगी राम, पृ. 39.
2. पब्लिक रिलेशन्स : डिफरेन्ट आस्पेक्ट, डॉ. बालहम, पृ. 118.
3. पब्लिक रिलेशन्स : द सोशल एनेलेसिस, डॉ. गैलप, पृ. 111.
4. जनसंचार और जनसंपर्क : डॉ. रस्तोगी राम, पृ. 48.
5. प्रचार तथा जनसंपर्क की भूमिका – महाराज कृष्ण काव, 'जनसंचार' सं. राधेश्याम शर्मा, पृ. 289.
6. जनसंपक – अपेक्षाएँ और सम्भावनाएँ – राजेन्द्र, 'जनसंचार' सं. राधेश्याम शर्मा, पृ. 269.
7. जनमत सर्वेक्षण – कुलदीप कालिया, पृ. 322.
8. जनसंचार और जनसम्पर्क : डॉ. रस्तोगी राम, पृ. 110.

# राजनीति व प्रशासन तंत्र का यथार्थ दस्तावेज: फूल .....इमारतें और बन्दर

डॉ० प्रबुद्ध कुमार त्रिपाठी

*प्रवक्ता हिन्दी, सिटी इण्टर कालेज, बाराबंकी, उत्तर प्रदेश।*

प्रख्यात कथाकार गोविन्द मिश्र ने अपने उपन्यासों में समकालीन राजनीतिक-सामाजिक जीवन की विसंगतियों, प्रशासन तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार व चापलूसी वृत्ति को जन सामान्य के समक्ष उजागर कर दिया है। इसी क्रम में उनका प्रसिद्ध उपन्यास फूल .....इमारतें और बन्दर है।

गोविन्द मिश्र का प्रस्तुत उपन्यास 'अवरोह', तथा 'आगमन' शीर्षक से तीन भागों में वर्णित है। इसमें प्रशासनिक विभाग के एक उच्चपदाधिकारी मोहन्ती की व्यथा कही गयी है जो अध्यक्ष पद प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाता है अंतत: उसे पश्चाताप ही हाथ लगता है।

उपन्यास के प्रथम भाग 'अवरोह' में महन्ती के द्वारा अध्यक्ष पद प्राप्त करने के जो सारे हथकण्डे अपनाये जाते हैं उन सबका वर्णन उपन्यासकार ने किया है। मोहन्ती अध्यक्ष पद प्राप्त करने के लिये रंजन स्वरूप, मोहित, पृथ्वी सिंह, अविनाश कपूर, दीनदयाल समर सिंह, रतन कुमार नवीन चन्द आदि व्यक्तियों, नेताओं, व्यापारियों से सिफारिश करवाते हैं।

मोहन्ती सरकार विभाग में सीनियर अफसर हैं और उन्हे अपनी वरिष्ठता के आधार पर अपने विभाग का अध्यक्ष होना है। इसी अध्यक्ष पद की प्राप्ति के बहाने उपन्यासकार गोविन्द मिश्र ने समूचे देश की भ्रष्ट व्यवस्था का राजनेताओं, फिल्मी नायकों, व्यापारियों, प्रेस तथा अफसरशाही की दुनिया के अपसी सम्बन्धों, षड्यन्त्र, दांव पेंच आदि का खुलासा पाठकों के समक्ष कर दिया है।

मोहन्ती के अध्यक्ष बनने की प्रक्रिया में ये विभिन्न लोग मोहन्ती के आत्मीय बनने का दिखावा करते हुये उनके करीब आते हैं। मोहन्ती जैसा नेक व ईमानदार आदमी भी पद लिप्सा में पड़कर इनके चक्कर में फंस जाता है यद्यपि उसकी आत्मा बार-बार उसे कचोटती है।

मोहन्ती अपना पतन देखता है। तथा वह उसे महसूस भी करता है जिसे उपन्यासकार ने 'मोहन्ती की डायरी' शीर्षक के माध्यम से उद्घाटित किया है। फिर भी लालच के वशीभूत होकर वह उन सत्ता के दलालों की चापलूसी करता है, उनसे प्रधानमंत्री तक की सिफारिश करवाता है। मोहन्ती को अध्यक्ष का पद प्राप्त हो जाता है।

उपन्यास के दूसरे भाग 'आरोह' में पद पाने के बाद मोहन्ती अपने पतन को रोकनें का प्रयत्न करता है। मोहन्ती के वे हितैषी जिन्होंने मोहन्ती को अध्यक्ष बनवाने में मदद की थी, उससे फायदा उठाना चाहते हैं लेकिन मोहन्ती अब सच्चाई व ईमानदारी के साथ काम करना चाहता है। इसीलिये वह रमेश कुमार, नारायण स्वामी जैसे चापलूसों को सरकारी तंत्र का दुरूपयोग करने से मना कर देता है। मोहन्ती को इस बात का एहसास हो गया था कि इन्हें मौका देने का मतलब है आफत मोल लेना "मोहन्ती को डर था कि एक बार रमेश कुमार को छुट दी तो सिर पर सवार हो जायेगा, सुपर मंत्री बनकर बोलेगा। रोज उनके पास कभी इसे कभी उसे भेजा करेगा। (फूल....इमारतें और बन्दर)

इसी बीच मोहन्ती की अपने विभाग के मंत्री से भी अनबन हो जाती है। मंत्री चाहता था कि मोहन्ती उसकी इच्छानुसार काम करें जबकि मोहन्ती नियमत: कार्य करने को प्राथमिक देते थे। इन सबका परिणाम यह होता है कि मोहन्ती को भारत सरकार की तरफ से एक विदेशी सरकार से बातचीत करने के लिये भेजकर उनका तबादला कर दिया जाता है। मोहन्ती जब वापस आते हैं तब उन्हें इसकी सूचना रात के पौने बारह बजे सरकारी दूत के माध्यम से मिलती है।

उपन्यास का तीसरे भाग 'आगमन' में मोहन्ती अपने मूल चरित्र की ओर वापस लौटते हैं। वे अब सुधारने की दिशा में चलना चाहते हैं। उन्हे ईश्वरीय न्याय में दृढ़ आस्था है। इसी बीच मोहंती के 'अवरोह' के साथ ही सत्तासीन सरकार का भी 'अवरोह' होता है।

मोहन्ती का मंत्री हट जाता है। अध्यक्ष पद के दौड़ में शामिल मोहन्ती का एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी माया प्रसाद बिना अध्यक्ष बने रिटायर हो जाते हैं। अध्यक्ष बनाने व हटाने का दम्भ भरने वाला डी०वी० सचिवालय से बाहर भेज दिया जाता है। उपन्यासकार इस खण्ड के माध्यम से यह बताना चाहता है कि जो लालच के वशीभूत होकर अनैतिक कृत्य करते हैं उन्हे भी अन्तत: कुछ नहीं मिलता है।

अन्तत: यह कहा जा सकता है कि समस्त उपन्यास के केन्द्र में सचिवालय तथा उसमें चलने वाली वे समस्त घटनायें है जो देश की प्रगति में अवरोध उत्पन्न करती है। गोविन्द मिश्र ने अपने इस उपन्यास में प्रशासन तंत्र के खोखलपन का पर्दाफाश कर दिया है। उपन्यासकार गोविन्द मिश्र ने भारतीय राजनीति की गंदगी को पाठकों के समक्ष उजागर कर दिया है। सांसदो के क्रय-विक्रय तथा राजनीति में नासूर का रूप ले चुके भ्रष्टाचार आदि को देखकर पाठक यह समझ जाता है। कि हमारे देश भारत में राजनीति का तात्पर्य येन-केन प्रकारेण दूसरे को कुर्सी से हटाकर कुर्सी प्राप्त करना है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गोविन्द मिश्र का प्रस्तुत उपन्यास भारतीय राजनीति व प्रशासन तंत्र का यथार्थ दस्तावेज है।

# व्यंग्य और विद्रोह के क्षेत्र में कवि ''धूमिल'' का स्थान

**डॉ० नीतू शर्मा**

*प्रवक्ता-हिन्दी, आई०टी० कॉलेज, लखनऊ*

## सारांश-

समकालीन कवियों में ऐसे कवि कम हैं, जो कविता में प्रयुक्त शब्दों की सार्थकता के प्रति वास्तविक जीवन में और लोक व्यवहार में भी पर्याप्त सजग हैं। सुदामा प्रसाद पाण्डेय 'धूमिल' का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। उनकी कविताओं में जीवन के संघर्ष और तनाव से पैदा हुए शब्द मूलभूत मनुष्यता के प्रति अपने कर्तव्य की चिन्ता में लीन हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति तीखे ढंग से उनकी कविताओं में मिलती है। सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के साथ राजनीतिक चेतना का इतना उपयुक्त सामंजस्य संभवतः मुक्तिबोध के बाद 'धूमिल' के ही रचना संसार में देखने को मिलता है।

**मूल शब्दः-** सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, अनुभूति, व्यंग्य।

**प्रस्तावना**-उनका प्रथम काव्य संग्रह 'संसद से सड़क तक' की कुल 25 कविताओं में 'धूमिल' ने जहाँ लोगों के मस्तिष्क को झकझोरा वहीं उनकी भावगत संवेदनाओं ने कुंठित मनोवृळि को प्रस्तुत मूल्यहीनता, अराजकता और चेतना की द्वन्द्व स्थिति से जोड़ा। संसदीय राजनीति अर्थात् सदन में चलने वाली राजनीति को सड़क पर लाने वाले धूमिल ही हैं। धूमिल की कविताओं में व्यवस्था की चीड़-फाड़ स्थितियों की सटीक व्याख्या और उनसे उबरने की छटपटाहट मौजूद है। जनता के सुख-दुख, उसके सपनों और निराशाओं का जैसा जीवन्त चित्र धूमिल ने खींचा है, शायद ही किसी अन्य कवि ने किया है। 'धूमिल' को व्यंग्यकार के रूप में जो मान्यता मिली उसका कारण वर्तमान व्यवस्था का क्रूर मजाक और दोहरा चरित्र है- 'मेरे हाथ काले हैं/मेरी आँखों में जाले हैं/मेरी जुबान चुप है/होठों पर ताले हैं/टखनों में जाड़ा है/मेरा जीवन लार टपकती हुई नेकर का नाड़ा है। मुझे मेरे दर्द ने पिछाड़ा है। ''इन पंक्तियों में धूमिल की मनोदशा का प्रच्छन्न संकेत मिलता है कि वे एक आम आदमी की तरह अपने अन्दर घुटन, टूटन, कुंठा का अति केन्द्रीकरण अनुभव करते थे। आज जहाँ चारों तरफ मूल्यों का ह्रास हो रहा है। व्यक्ति मूल्यहीन परिवेश में सांस ले रहा है। उसे पथ नही दिखाई दे रहा है। जीवन-मूल्यों के इस संकट से धूमिल सचेत थे-'सहानुभूति और प्यार/अब ऐसा छलावा है जिसके जरिए/एक आदमी दूसरे को अकेले-अंधेरे में ले जाता है और उसकी पीठ में छुरा भोंक देता है''। धूमिल समसामाजिक अनुभवों से अपनी कविता को व्यापक और गहरा बनाते हैं। व्यक्तिगत और अकेलेपन की पीड़ा से हटकर वे समाज, देश, संसद, लोकतंत्र, वर्गभेद

और जीवन के मुखौटों को उतारने की कोशिश करते रहे किंतु जनता के त्रासद अनुभवों को वे भूल नहीं पाये। व्यक्ति के नैतिक पतन को देखकर वे दुखी हैं–'मगर यह वक्त घबराए हुए लोगों की शर्म/आंकने का नहीं/और न यह पूछने का–कि सन्त और सिपाही में/देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य कौन है।'' धूमिल की काव्य कला संवेदना तथा सामाजिक पक्षधरता को समझने के लिये उनकी कविता ''पटकथा'' आवश्यक है। ''देश की और अपनी ऐसी बेरहम तस्वीर इतनी बेवाकी से उतार सकना एक समर्थ सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा संभव है और उचित भी, यह कविता ध ूमिल को समकालीन कवियों में एक अलग, खास, और उच्च दर्जा देती है।'' धूमिल को जनवादी कविता पथ प्रदर्शक कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। 'पटकथा' कविता जनजीवन में व्याप्त असन्तोष, अनैतिकता, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, स्वार्थपरता को प्रस्तुत करती हुई वस्तुत: जनवादी है। उनके शब्दों में जनतंत्रीय व्यवस्था का शोषक रूप दृष्टव्य है–''मुझे लगा–आवाज/जैसे किसी जलते हुए कुएं से/आ रही है/एक अजीब सी प्यार भरी गुर्राहट/जैसे कोई मादा भेडिघ्या/अपने छौने को दूध पिला रही है और/साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है। '' 'पटकथा' के अतिरिक्त धूमिल की अन्य कविताएं भी राजनैतिक व्यवस्था का साक्षात्कार कराती है। 'धूमिल की कविता में जंगल, कुत्ता, व्याकरण भेडिघ्या, जनतंत्र, संसद, रोटी, भाषा, दलदल आदि शब्दों का प्रयोग बार–बार हुआ है। 'जंगल' अराजकता का सूचक है। 'कुत्ता' शोषित, तिरस्कृत वर्ग का प्रतीक है। 'भेड़िया' अत्याचार की ओर संकेत करता है और 'जनतंत्र' भारतीय व्यवस्था का प्रतीकात्मक अर्थ देता है। इसी तरह अन्य शब्दों का भी अपना एक खास अभिप्राय है। 'मोचीराम' में धूमिल का मोची अपनी व्यथा और दंश नहीं दर्शाता, वह शोषित, अपमानित श्रेणी की ओर से उच्च वर्ग को उसी के आइने में झाँकता है। 'कैसे आदमी हो/अपनी जाति पर थूकते हो? आगे उसका 'मोचीराम' बड़े स्पष्ट और बेबाक शब्दों में कहता है–'बाबूजी! सच कहूँ मेरी निगाह में/न कोई छोटा है/न कोई बड़ा है/मेरे लिये हर आदमी एक जोड़ी जूता है/जो मेरे सामने/मरम्मत के लिये पड़ा है।'

धूमिल का अक्खड़पन उनकी कविताओं में अपनी पूर्णता के साथ उभरा हुआ है। उनके 'कुम्हड़े, की सब्जी' सामाजिक क्रूरता के घेराव में नये मानव मूल्यों का प्रतीक है। ''कविता/घेराव में/किसी बौखलाए हुए आदमी का/संक्षिप्त एकालाप है''........ और जहाँ हर चेतावनी/खतरे को टालने के बाद/एक हरी आँख बनकर रह गई है'' जिसका–'पेशेवर भाषा के तस्कर–संकेतों में/और बैलमुत्ती इबारतों में/अर्थ खोजना व्यर्थ है।''

अपनी आक्रामक मुद्राओं में वे व्यक्ति नहीं, व्यक्ति के दंभ पर चोट करते थे। वे जानते थे कि प्रजातंत्र मे कोई कमी है, सामाजिक व्यवस्था में कोई गड़बड़ी है। उनकी कविता राजनैतिक मुखौटों के साथ सामाजिक दरिन्दों को भी पहचानती है। वे इस सच्चाई को बेखौफ शब्द देते हैं–''वे सबसे सब तिजोरियों के/दुभाषिए हैं/वे वकील हैं, वैज्ञानिक हैं/लेखक हैं/कवि हैं। कलाकार हैं/यानि कि–कानून की भाषा में बोलता हुआ। अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।'' धूमिल ने केवल व्यवस्था या सत्ताधारियों को ही अपने व्यंग्य का विषय नही बनाया उन्होंने जहाँ कहीं भी दोष

देखा उस पर प्रहार किया। मानवीय दुर्बलताएं और सामाजिक विद्रूप उनके व्यंग्य के प्रमुख विषय रहे हैं। व्यंग्यकार की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। असंगति और अनौचित्य का वर्जनात्मक निरूपण है–'व्यंग्य'। धूमिल का व्यंग्य तकलीफों से उत्पन्न समझ है जिसका उद्देश्य जन–जागरण है। जीवन मूल्यों के संकट को व्यक्त करते हुए धूमिल ने लिखा–''आदतों, और विज्ञापनों में दबे हुए आदमी का/सबसे अमूल्य क्षण संदेहों में/तुलता है। हर ईमान का एक चोर दरवाजा होता है/जो संडास की बगल में खुलता है'' विसंगति ज्यों–ज्यों गहरी और तीखी होती जाती है अनौचित्य और अनाचार त्यों–त्यों बढ़ता चला जाता है। उनकी लम्बी कविताएं 'पटकथा' लोहसांय, राजकमल चौधरी के लिए, 'भाषा की रात', 'किस्सा जनतन्त्र', 'शब्द जहाँ सक्रिय हैं, 'नगरकथा', मै हूँ, 'अर्थगर्भिता और तीक्ष्ण प्रहारात्मकता है। उनका सामाजिक व्यंग्य सामाजिक रूढिघ्यों और दकियानूसी मान्यताओं के विरूद्ध तो है ही, प्राचीन मूल्यों के विघटन से उत्पन्न स्थितियों पर अभिकेन्द्रिय है। वह अनुभव करते हैं हमारा जनचेतना आज भी–डफले पर बजती है भूख पैर में घंटिया/ दुपहर की आँच में सिकती हैं/रोटियां/मजा करो–/तुम अपनी संसद के साथ/हम अपनी सांसत के साथ/छितो डांग–डांग/छितो–छितो../'' इस रूप में धूमिल ने समकालीन यथार्थ के लिये व्यंग्य, वक्रोक्ति, और विडम्बना का व्यापक स्तर पर प्रयोग किया है। धूमिल के व्यंग्य की चोट गहरी है पूँजीवादी व्यवस्था में हर चीज बिकाऊ है, श्रम से लेकर शरीर तक और सुख से लेकर मान सम्मान तक। अस्तु सभ्यता संस्क ृति सबका मापदण्ड मात्र पैसा है। इस विसंगतिजन्य स्थिति पर उनका व्यंग्य दृष्टव्य है–''सबसे अधिक हत्यायें/समन्वयवादियों ने की/दार्शनिकों ने/सबसे अधिक जेवर खरीदा।'' आज की सबसे बड़ी आवश्यकता रोटी की है। आवास की है। व्यक्तिगत दर्द और अकेलेपन की पीड़ा से हटकर धूमिल आज की भ्रष्ट राजनीति, समाज, देश संसद, वर्गभेद, और विसंगतिपूर्ण जीवन के मुखौटे उतारने लगे। गरीबी और बेरोजगारी से घिरे रही जनता के त्रासद अनुभवों को अपनी कविता का विषय बनाया। ''आज मैं तुम्हें वह सच्चाई बतलाता हूँ। जिसके आगे हर सच्चाई छोटी है। इस दुनिया में/भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क रोटी है।'' बेकारी, बेरोजगारी और भूखमरी के लिये आज की व्यवस्था ही जिम्मेदार है। ''एक आदमी/रोटी बेलता है। एक आदमी रोटी खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है/न रोटी खाता है/वह सिर्फ रोटी से खेलता है/मै पूछता हूँ/यह तीसरा आदमी कौन है?/मेरे देश की संसद मौन है।'' ध ूमिल राजनैतिक कविताओं के सहारे सपने के सौदागरों की कलई खोलकर आम आदमी को सावधान करना चाहते हैं। उनकी राजनैतिक कविताएं बहुत सटीक लहजे में अपने वक्तव्य को कविता में प्रतिष्ठित करती है।

वे अपनी कविता के बारे में स्पष्ट कहना चाहते हैं कि उनकी कविता का उद्देश्य क्या है। वे कविता के द्वारा समाज में परिवर्तन तो चाहते थे लेकिन कविता को हथियार की तरह इस्तेमाल नही करना चाहते थे। मेरे भीतर की आग/उसी तरह जलती है/परन्तु–मेरी कविता अपनी डँडइयों के बीच/शब्दों की राख उगलती है।'' इस रूप में धूमिल की सबसे बड़ी पहचान है–आक्रोश। उनकी कविताओं में कहीं–कहीं उत्तेजनात्मक भाव मिलते हैं किन्तु अधिकतर कविताएं सूचनात्मक, तथ्यकथन की

प्रणाली में ढलती चली गयी है। हाथों में ''कविता'' और दिमाग में आँतों के 'एक्सरे' का केन्द्रीय तनाव प्रत्यक्ष है। धूमिल यह मानते थे कि कविता का सत्य जीवन के सत्य से अलग नहीं है। इसलिये जीवन की जो सच्चाई है, उसे कविता जब तक शब्द न दे तब तक उसकी सार्थकता संभव नहीं। समाज में व्याप्त विसंगतियाँ धूमिल के रचना संसार में एक नया अन्दाज लेकर मुखरित हुई है-''हिजड़ों ने भाषण दिये/लिंग बोध पर/वेश्याओं ने कविताएं पढ़ी-आत्म शोध पर/प्रेम में असफल छात्राएं/अध्यापिकाएं बन गयी हैं। और रिटायर्ड बूढ़े/सूर्योदयी''। यहाँ कथ्य में तीव्रता है। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा आक्रामक हो गयी है और व्यंग्य में कुछ ज्यादा तीक्ष्णता आ गयी है। उनके व्यंग्य मन की गहराइयों में बैठकर पाठक को झकझोर देते हैं। धूमिल की कविताएं व्यंग्य के जिन आयामों को लेकर प्रहारात्मकता के साथ आगे बढ़ी हैं निश्चय ही उससे एक सार्थकता का बोध होता है। उसमें गाम्भीर्य है। वे नये रूप, नये विषय और नयी सामाजिक समझ लेकर आये, जिससे एक नया धरातल तैयार हुआ।

**निष्कर्ष**-धूमिल का काव्य अनुभूति; विचार एवं समझदारी की त्रिवेणी है। इनके पारस्परिक घुलमिल जाने के कारण उनकी कविता बौद्धिक स्तर पर सक्रिय है। उनमें अनरूद्ध अभिव्यंजना-शक्ति है, और है व्यंग्य के साथ विद्रोह का प्रधान स्वर। धूमिल की कविताओं में व्यंग्य के साथ-साथ अभिव्यंजना शक्ति भी प्रगाढ़ है इसलिये प्रतीकवाद और प्रभाववाद दोनों रूपों में वे उभरे से दिखायी पड़ी है। 'शब्दों को खोलकर रखने वाले' कवि धूमिल की कविता में सयाहता और नग्नता है। डा0 नामवर सिंह के अनुसार ''धूमिल की कविता मजबूत धरातल की ओर बढ़ी। शिल्प और विम्ब नियोजन मे काफी सजगता आ गयी। उस समय नयी कविता, खासकर अर्थ की लय के घोर विरोध में वे अपना स्वर ऊँचा करते रहे। इस रूप में धूमिल की कविता सभी दृष्टियों से, कविता की दुनिया का विस्तार करती है।

## सन्दर्भ पुस्तक सूचीः-


1. घूमकेतु, धूमिल और साठोत्तरी कविता : मीनाक्षी जोशी-राजकमल प्रकाशन पृष्ठ संख्या-87।
2. कवि परम्परा-तुलसी से त्रिलोचन: प्रभाकर क्षोत्रिय-भारतीय ज्ञानपीठ पृष्ठ संख्या-92।
3. आधुनिक काव्य: चिन्तन और संवेदना-डॉ0 करूणा शंकर उपाध्याय-राजकमल प्रकाशन पृष्ठ संख्या-54।
4. समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य-डॉ0 रेवती रमण-नवनीत प्रकाशन, इलाहाबाद पृष्ठ संख्या-74।
5. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त-सम्पादक डॉ0 सुधाकर-विकास प्रकाशन पृष्ठ संख्या-92।
6. समकालीन सृजन सन्दर्भ- भारत भारद्वाज-वाणी प्रकाशन पृष्ठ संख्या-32।
7. आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज-डॉ0 गायत्री वैश्य-रंजन, प्रकाशन, आगरा पृष्ठ संख्या-55।
8. नयी कविताएं एक साक्ष्य- राम स्वरूप चतुर्वेदी- लोक भारती प्रकाशन पृष्ठ संख्या-45।

# ब्रज लोकगीतों में सौंदर्य निरूपण

**डॉ. दिलीप कुमार श्रीवास्तव**

*सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जगदम कॉलेज, छपरा*

मनुष्य की सकर्मक भूमिका कलात्मक कार्य को विशेषीकृत आत्मिक श्रम के समतुल्य लाकर खड़ा कर देती है। मनुष्य जिस प्रकृति की उत्पत्ति है, सौंदर्य सृष्टि में उसी प्रकृति को चुनौती देने लगता है। कला श्रम दोनों का स्वभाव रचनात्मक है। इसलिए दोनों किसी न किसी प्रकार का उत्पादन करते हैं। कला का उत्पादन सौंदर्य प्रधान है तो श्रम का उपयोग प्रधान सौंदर्य से उपयोग और उपयोग से सौंदर्य की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया निरंतर एक दूसरे को प्रभावित करती हुई चलती है। कला मनुष्य की रचनात्मक क्षमता को, वस्तुगत मानवीय यथार्थ को इन्द्रिय ग्रहृय रूप प्रदान करती है। इसलिए उसकी अंतर्वस्तु उपयोगपरक की अपेक्षा मानवीय अधिक होती है। शुद्ध उपयोगितावाद का अतिक्रमण कर सकने वाला यह नया मूल्य आनन्द प्रदान करता है, जिसे आज हम सौंदर्य कहते हैं। ''मनुष्य सौंदर्य-नियमों के अनुसार जो रचना करता है, वह स्वयं मनुष्य की सौंदर्य चेतना और सौंदर्य-ग्रहण की क्षमता को विकसित करती है।''[1] ऐसा सोवियत सौंदर्यशास्त्री इवान अस्ताखोव मानते हैं। पाश्चात्य विचारक एरसेलो ने अपनी नयी पुस्तक में अपने आस-पास की सभी वस्तुओं में सौंदर्य के दर्शन किए हैं।[2] यथार्थ जीवन के असौंदर्य से उद्विगन होकर ज्याँ पाल सार्त्र कहते हैं कि ''कल्पना में छनकर आया यथार्थ ही सुंदर होगा.........और सौंदर्य एक ऐसा मूल्य है जो कल्पना लोक से संबंधित है''[3] इस प्रकार सार्त्र महोदय सौंदर्य का संबंध कल्पना जगत से स्थापित करते हैं।

जीवन प्रक्रिया में निहित उपयोग और अनुरंजन तत्त्वों में से किसी एक का भी सौंदर्य-मूल्यों के क्षेत्र में निषेध नहीं होता। अनवर जिस ने इस का अंत: संबंध की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सौंदर्य और उपयोगी तत्त्वों को आपस में बेमेल नहीं मानना चाहिए।'' न तो सुंदर को नैतिक से पृथक किया जा सकता है, न ही सौंदर्य को अच्छाई से.........सामाजिक जीवन में और कला में सौंदर्य और नैतिक पक्ष अभेद्य रूप से अनुस्भूत होते हैं।[4]

आधुनिक सौंदर्यशास्त्र मनुष्य की कर्मशक्ति की नियामक भूमिका को मनुष्य का सबसे बड़ा मूल्य मानकर चलने के नाते ही सौंदर्य-सृजन में मनुष्य को प्रकृति का सफल प्रतिद्वंद्वी मानता है। मानवीय-कर्म और सौंदर्य-चेतना परस्पर निर्भर होते विकास के साथ-साथ उनकी यह निर्भरता बढ़ती जाती है। पाश्चात्य सौंदर्य चिंतकों ने सौंदर्य को चेतन रूप माना है। जिन विचारकों ने कलात्मक सौंदर्य और लोकोत्तर सौंदर्य को एक बिन्दु पर जोड़ कर देखने का प्रयास किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ''कला सौंदर्यशास्त्रीय सौंदर्य और लोकोत्तर सौंदर्य (इन्द्रियातीत) के बीच के अंतर को मिटा देने तथा सौंदर्यशास्त्रीय सौंदर्य को लोकोत्तर सौंदर्य में समाहित करने के

लिए संघर्ष करती है।''[5] जीवन-प्रक्रिया में से ही सौंदर्य मूल्य विकसित हुए हैं, इसलिए जीवन-प्रक्रिया से उनका अविच्छेद संबंध है। जीवन-प्रक्रिया में बाह्य-जगत को ग्रहण करने के लिए विकसित की गई युक्तियों में निहित आत्मगत मूल्य ही सौंदर्य है। इवान प्रस्ताखोब ने लिखा है कि ''सौंदर्य हमारे विचार और विचारणीय वस्तु दोनों में होता है। जिसे हम आत्मगत धरातल पर सौंदर्यात्मक आनन्द के रूप में अनुभव करते हैं।[6] भारतीय साहित्य (संस्कृत के ग्रंथों) में भी सौंदर्य की व्याख्या की गई है। महाकवि माध ने सौंदर्य के रूप में रमणीयता का प्रतिपादन किया है और लिखा है–क्षण-क्षण में जो नवीनता (नयापन-आकर्षण) को अविर्भूत करती है वही रमणीयता का रूप है–''क्षणे क्षणे यन्नवतामुदेति तदेव रूपं रमणीयता:।[7] पण्डित राज जगन्नाथ ने तो इस रमणीयता को काव्य का आधार ही मान लिया और काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा–''रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य कहलाता है।

''रमणीयर्थप्रतिपादक:शब्द: काव्यम् ।''[8]

इसी प्रकार अनेक विचारकों ने सौंदर्य की अपने-अपने ढंग से व्याख्या करते हुए परिभाषा दी है। सौंदर्य निरूपण के पश्चात् सौंदर्यानुभूति की बात आती है तो सौंदर्यानुभूति चेतना का गुण कहा गया है। इसलिए उसका संबंध सजीव मनुष्य से है। इस पक्ष पर अधिक बल देने वाले भाववादी चिंतक अंतत: इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि चेतना ही सृष्टि का उत्स है, समूचा वस्तु जगत इसी परम चेतना का प्रतीयमान रूप है, सौंदर्यनुभूति इसी परम चेतना से संबंद्ध अद्वितीय-अलौकिक अनुभूति है।[9] प्लेटो के सौंदर्य-संबंधी मत का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए डॉ. नगेन्द्र जो हिन्दी के प्रख्यात विद्वान हैं, ने लिखा है–''सौंदर्य के चार स्तर हैं–

1. शारीरिक सौंदर्य,
2. मानसिक सौंदर्य,
3. नैतिक सौंदर्य और
4. शुद्ध बुद्धि का सौंदर्य या प्रज्ञात्मक सौंदर्य।

प्रज्ञात्मक सौंदर्य ही निरपेक्ष और चरम सौंदर्य है। इसी प्रज्ञात्मक सौंदर्य को प्लेटो ने प्रकाश-रूप माना है जो वस्तुत: आत्म चैतन्य का प्रतीक है।''

भारतीय काव्यशास्त्र में रसानुभूति और साधारणीकरण को 'ब्रह्मस्वाद सहोदर' बताकर अन्तत: अलौकिक (लोकोत्तर) अनुभूति का समान धर्म घोषित किया गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अज्ञेयजी का कहना है कि अनुभूति अद्वितीय है, क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नहीं भोग सकता।[10] इस मान्यता का दार्शनिक आधार है इस तर्क के अनुसार अनुभूति का संबंध अंतर्मन की प्रेरणाओं से है, बाहर की किसी वस्तु या विचार के साक्षात्कार से नहीं। इस अनुभूति की 'अद्वितीयता' के तर्क से यह निष्कर्ष निकलता है कि देशकाल और पात्र (व्यक्ति) के तीनों के आयामों में अनुभूति की पुनरावृत्ति संभव नहीं है। साथ ही कोई भी दूसरी अनुभूति पहले जैसी नहीं हो सकती

है। इसलिए अनुभूतियां गुण-दोष वाचकता से निरपेक्ष हुई। सामाजिकता एक नैसर्गिक गुण है। मनुष्य के संदर्भ में यह और भी सार्थक तथ्य बन गया है। काडवेल नामक समाजशास्त्री समाज को व्यक्ति और प्रकृति के मध्य स्थित एक ऐसा घटक मानते हैं जो व्यक्ति के समक्ष सूर्य, पृथ्वी, वायु आदि सहित समस्त वातावरण के रूप में व्यवस्थित होता है तथा प्रकृति के समक्ष एक सक्रिय मानवीय शक्ति के रूप में।[11]

समाज की इस मानवीय शक्ति ने मनुष्य में सुंदर रूप और सुंदर संगीत के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया, उसके भावबोध को निद्रा, भय आदि सहज प्रवृत्तियों से ऊपर उठाकर मूल्यबोध के स्तर तक पहुंचाया। रूप-रस-गंध की वस्तुओं में उनके विशिष्ट अंत: संबंधों तथा संतुलनों में सौंदर्य की अनुभूति कर सकने की मानवीयता क्षमता ने हमें प्राणी जगत में विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया।[12] संभवत प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत का यह कथन इस संदर्भ में सटीक बैठता है। ''सुंदर है विहग, सुमन सुंदर, मानव तुम सबसे सुंदरतम।'' मानव की क्षमता को पहचानकर डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है-''सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता स्वयं उन वस्तुओं में है, जिनके गुण पहचानकर हम उन्हें सुंदर-असुंदर की संज्ञा देते हैं।[13] लोक साहित्य के काव्यत्व और लोकगीतों की सौंदर्यानुभूति पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए लिखा प्रख्यात हिन्दी कवि पं. रामनरेश त्रिपाठी के विचार दृष्टव्य और विचारणीय हैं।'' (लोक) गीतों में कवित्व है, उसे ही मैं अपनी लेखनी द्वारा प्रकट करने में समर्थ हुआ हूं। पर ये गीत जब स्त्री-कंठ से निकलते हैं, तब इनका सौंदर्य, इनका माधुर्य और इनका उन्माद कुछ और ही हो जाता है। इससे गीतों का आधे से अधिक रस तो स्त्रियों के कंठ ही में रह गया। खेद है, मैं उसे कलम की नोंक से अपने पाठकों तक नहीं पहुंच सका। यूरोप में यह काम फोनोग्राफ के रिकोर्डो से लिया जाता है। विधाता ने स्त्रियों के कंठ में जो मिठास रख दी है, जो लचक भर दी है, उसे मैं लोहे की लेखनी में कहां से ला सकता हूं। उन्होंने आगे लिखा है-''जब गृह देवियाँ एकत्र होकर पूरे उन्माद के साथ गीत गाती हैं, तब उन्हें सुनकर चराचर के प्राण तरंगित हो उठते हैं। आकाश चकित सा जान पड़ता है, प्रकृति कान लगाकर सुनती हुई सी दिखाई पड़ती है। मैं एक अच्छे अनुभवी की हैसियत से अपने उन मित्रों से, जो कौवाली और टप्पे सुनने को बाहर मारे-मारे फिरते हैं, सानुरोध कहता हूं कि लौटो। कस्तूरी मृग की तरह सुगंध स्रोत की तलाश में कहां फिर रहे हो? स्वर का सच्चा सुख तुम्हारे अंत:पुर में है। वहां ही हृत्तन्त्री का तार जरा अपने मधुर वचनों से छू दो, फिर देखो, कैसा सुखमय जीवन जाग उठना है।[14]

पं. रामनरेश त्रिपाठी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि लोकगीतों का सौंदर्य और माधुर्य लिपिबद्ध लिखे गए गीतों की अपेक्षा नारी कंठ में सर्वाधिक विद्यमान रहता है। हमारे यहां काव्य की सौंदर्यानुभूति के परीक्षण के जो मानदण्ड हैं, सब शिष्ट लिखित साहित्य संबंधी हैं, जैसे रस, छन्द, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोति तथा राग-तत्त्व, कलातत्त्व, कल्पनातत्व, शैली तत्व आदि। इन तत्त्वों के द्वारा शिष्ट साहित्य का तो परीक्षण संभव है, किन्तु लोक साहित्य का पूर्ण परीक्षण तथा उसकी

सौंदर्यानुभूति इन मानदण्डों से असंभव जान पड़ती है। लोकगीतों का सच्चा आनन्द (लुफ्त) तो हम लोकगायकों के कण्ठ से नि:सृत ध्वनियों, ताल-लय के उतार चढ़ाव के आधार पर अनुभव करते हैं कण्ठ की मधुरता रस परिपाक में अत्यधिक सहयोग प्रदान करती है। लोकगीतों के सौंदर्य का जो अनुभव उन्हें सुनकर प्राप्त होता है। उतना उन गीतों को लिपिबद्ध रूप में पढ़कर नहीं होता। अत: तो लोकगीत लिपिबद्ध हैं उनमें उतना सौंदर्य एवं माधुर्य नहीं मिलता जितना स्त्रीकंठ से गाये गए गीतों में मिलता है।

नगर की सभ्यता से दूर गांवों तथा असभ्य किंवा अर्द्धसत्य जनों के कण्ठों में निवास करने के कारण लोक काव्य में अत्यधिक सरसता और स्वाभाविकता देखने को मिलती है। यही कारण है कि लोक काव्य अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इतना ही नहीं, जिस काव्य में जितनी अधिक स्वाभाविकता होगी, वह काव्य उतना ही लोकप्रिय होगा। चाहे वह नगर का हो, या ग्राम का हो। अपनी स्वाभाविकता और सरसता के कारण ही वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, जयदेव, सूर, तुलसी जैसे कवि समाज में अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठावान् रहे हैं। फिर लोकगीतों में सरसता और स्वाभाविकता कूट-कूटकर भरी होती है। इसीलिए विद्वानों ने लोककाव्य की आत्मा, उसकी सौंदर्यानुभूति के तत्त्व उसकी सरलता, सरसता तथा स्वाभाविकता में माने है। लोककाव्य रस प्रधान काव्य है। उसमें रसानुभूति और अलंकारों का प्रयोग तो स्वाभाविक तथा अनायास ही होता है। तुक और छनद का बंधन उसे बेड़ियों में नहीं बांध सका। लय को अवश्य ही लोक काव्य का प्रधान गुण माना जा सकता है। यही वह तत्त्व है जो लोककाव्य को संगीतमय बना देता है।

## संदर्भ


1. प्रॉब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स–इवान मस्ता खोव–पृ. 162
2. ए न्यू थियरी ऑफ ब्यूटी–एरसेलो–पृ. 03
3. दि सायकोलोजी ऑफ इमेजिनेशन–ज्या पाल सार्त्र–पृ. 252
4. फण्डामेंटल्स ऑफ माक्सिस्ट इस्थेटिक्स–अवनर किस–पृ. 191
5. क्रिएटिव इंट्यूशनइन आर्ट एण्ड पोइट्री–जैम्वेजमारिते–पृ. 126
6. प्रॉब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स–इवान प्रस्तखोष–पृ. 173
7. शिशुपालवधम्–माघ–सर्ग
8. रसगंगाधर–पं. जगन्नाथ–प्रथमानन से
9. भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका–डॉ. केन्द्र पृ. 21
10. आत्मनेपद–सं.ही. वात्स्यायन अज्ञेय–पृ. 169
11. फरदर सटडीज–क्रिस्टोफर काडवेल–पृ. 86-87
12. दि डिसेंट ऑफ मैन–काडवेल–पृ. 104
13. लोक जीवन और साहित्य–डॉ. राम विला शर्मा पृ. 5-6
14. कविता-कौमुदी (5वां भाग) पृ. रा. न. त्रिपाठी–पृ. 63-64।

# प्रेमचन्द्र की परम्परा का मतलब

**डॉ. चन्द्रमोहन**

*एम.ए., पीएच.डी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा*

प्रेमचन्द्र का जन्म 31 जुलाई 1880 में हुआ था जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इनके जन्म के ठीक पांच वर्ष बाद 1885 में हुई थी। यह वह काल था जब देश भर में नई राष्ट्रीयता बोध का उदय हो रहा था। प्रेमचन्द्र इस नयी राष्ट्रीयता बोध को बड़ी सजगता से आत्मसात करते हैं।

यह देश के नवाजारण का युग था। अतीत का गौरवगान, सामाजिक सुधार और राजनीतिक मुक्ति, इस आन्दोलन के स्वर थे। शुरू में प्रेमचन्द्र इन आन्दोलनों से प्रभावित होकर कहानियाँ लिखते हैं। लेकिन समय के बदलते प्रवाह के साथ उन्होंने अपने विचारों को बदला। यह बात सही है कि उनकी पूरी जिन्दगी में जितने भी आन्दोलन हुए, चाहे वे राजनीतिक हों, सामाजिक सुधार के हों, धार्मिक या साम्प्रदायिक हों या सांस्कृतिक हों, जिनसे राष्ट्र की जनता प्रभावित होकर आगे बढ़ने के लिए क्रियाशील हुई, गुलामी और पाखंड से मुक्ति पाने के लिए आन्दोलित हुई, नए जीवन की ओर उन्मुख हुई–वह सब प्रेमचन्द्र साहित्य में रचनात्मक स्तर पर रूपायित हुआ। जैसे-जैसे आदाजी की लड़ाई तेज होती गई–उसका विकास होता गया–प्रेमचन्द्र उसके साथ-साथ आगे बढ़ते चले गये, बाद में तो वे आगे निकल गये और राजनीति के आगे-आगे मशाल दिखाते हुए दिखाई पड़े। उनके सम्पूर्ण जीवन काल में जिस किसी ने उनको पढ़ा और उनको जानने का प्रयास किया–वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहा।

इस जानकारी के बड़े प्रमाण तो गाँधीजी थे। प्रेमचन्द्र की मृत्यु पर अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा–''हमारा देश जब स्वाधीन होगा और जब यहां के ग्रामीण समाज, बेगारी गरीबी, शोषण और अशिक्षा से मुक्त हो जायेगा तब लोग यह कल्पना भी न कर सकेंगे कि कभी भारत का किसान और मजदूर उस हालत में रहा था। तब प्रेमचन्द्र के उपन्यास और कहानियां क्लासिक (कालजयी साहित्य) के रूप में पढ़े जायेंगे और उनसे ही पता चलेगा कि तत्कालीन समजा कैसा था।''

प्रेमचन्द्र ने अपनी कहानियों, उपन्यासों, अग्रलेखों और लेखों में भारतीय समाज को जितनी गहराई से जानने का प्रयास किया–वह अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। उनकी गहराई में पूरा सामाजिक जीवन बिम्बित होता हैं–गांवों के जीवन के सबसे निचले सिरे पर स्थित भूमिहीन किसान तथा खेतिहर मजदूर वर्ग से लेकर बड़े भूमिपति तथा जमीन्दार वर्ग के लोग अपने तमाम संबंधों के साथ उनमें दिखायी देते हैं; बीच के पात्र-बनियें, मुंशी, पंडित आदि भी अपनी सामान्य भूमिका के साथ प्रस्तुत हैं। जमीन्दारों के अमले भी हैं, सरकारी तंत्र के बहुत छोटे-बड़े कल पुर्जे भी, पुन: उनमें एक ओर कफन के घीसू और माधव जैसे अर्द्ध-सामाजिक परजीवी पात्र

दिखायी देते हैं, खेतिहर मजदूर के रूप में सहसा रूपांतरित होता हुआ 'पूस की रात' का हल्कू मिलता है, आपसी विद्वेष के चलते मजदूर बन गये 'मुक्ति मार्ग' के बुद्धू और झींगुर हैं, 'दो बैलों की कथा' का मंझोला किसान झूरी है; सामाजिक स्तर पर तिरस्कृत और सामंती वर्ण व्यवस्था की शिकार 'मंदिर' की सुखिया है तो दूसरी ओर इन्हीं कहानियों में ठाकुर साहब, हैं, राय साहब हैं, चौधरी साहब हैं; गांव का बनिया है, मंदिर का पुजारी है, रामलीला का ठीकेदार है, बहुत सारे लोग उनमें हैं; सिर्फ ग्रामीण जीवन के ही नहीं, शहरों के भी–निम्न मध्यवर्ग के पात्रों से लेकर उसके ऊपरी सिरे तक के पात्र, छात्र और युवा समुदाय, नौकरी के पेशे के भीतर और बाहर के लोग, अधेड़ और बुजुर्ग; असहयोग आन्दोलन में हाथ देते हुए–मृदुला (जेल), नोहरी, (समर यात्रा), जयराम (जुलूस), उससे लाभ उठाते 'चकमा' के सेठ चंदूमल जैसे पात्र, उसे तोड़ने की कोशिश करते मोटेराम शास्त्री (सत्याग्रह) जैसे लोग; फिर इस सामंती व्यवस्था की रूढ़ियां, परम्पराओं औ प्रथाओं की शिकार कुसुम जैसी लड़कियां; आधुनिक सभ्यता के प्रभावों के बीच घिरी मिस जोशी, मिस पद्मा; अलग-अलग जाति और धर्मो के लोग–सकीना और हामिद, जेनी और पादरी मोहन दास-सभी इसमें दिखाई देते हैं और प्रेमचन्द्र इन सबको जानते है; इनके अड़ोस-पड़ोस से भी परिचित हैं, इनके दोस्तों और दुश्मनों से भी वाकिफ हैं; सिर्फ इन्हें ही नहीं बल्कि इनके पूरे पारिवारिक जीवन को, इनके आस-पास के सम्बन्धों को तथा इनके तमाम सामाजिक अंतर्विरोधों को भी पहचानते हैं।

इस तरह प्रेमचन्द के साहित्य में समाज के विभिन्न वर्गों के तकरीबन छः हजार पात्र हैं साथ ही सरकारी मशीनरी की एक क्रमबद्ध परम्परा भी उनमें मौजूद है। भारतीय इतिहास के पचास संघर्षपूर्ण वर्षों का यह साहित्य अपने भीतर समेटे हुए हैं। इस रूप में इसे अपने समय का वस्तुनिष्ट और प्रामाणिक इतिहास कहा जा सकता है। प्रेमचन्द्र ने रैयतवारी व्यवस्था, ग्रामीण ऋण ग्रस्तता और सूदखोरी, बैंकिंग और सबसे बढ़कर 'गोदान' में अवकाश भोगी वर्ग के बारे में जो कुछ लिखा है, उसे अपने उपन्यासों और कहानियों के पात्रों के माध्यम से समझाया है वैसा किसी अर्थशास्त्री की पुस्तक में भी नहीं देखने को मिलता है।

प्रेमचन्द्र शत-प्रतिशत सामाजिक जीव थे। सामाजिक होने के नाते ही वे समसामयिक थे; अपने समय के जीवन की समस्याओं को समझने, विसंगतियों को उजागर करने, उनके समाधान ढूंढने और समाधान पाने के लिऐ जनता के साथ-साथ आजीवन जूझते रहे थे। रूढ़ि, पाखंड, अनाचार, अत्याचार, अन्याय और शोषण के विरुद्ध उन्होंने जो आजीवन लड़ाई लड़ी, वह बाद के हिन्दी रचनाकारों में शायद ही वैसी लड़ाई लड़ने वाली कोई दिखाई पड़ा।

प्रेमचन्द्र जिस समय लिख रहे थे समाज के प्रमुख वर्ग सामन्त, महाजन और किसान थे। समज के मूलभूत कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होते थे। स्वभाव से महाजन अभी पूंजीपति नहीं बने थे। निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग का प्रादुर्भाव हो चुका था। लेकिन प्रेमचन्द्र के कथा साहित्य के प्रमुख पात्र सामन्त और किसान ही हैं। उनकी लेखनी का अधिकांश भाग ग्रामीण समाज का है। ग्रामीण जीवन की विषमताओं, हीन

अवस्थाओं, दु:खों, विपन्ननाओं, सामन्ती प्रतारणाओं और महाजनी शोषण ही उनकी रचनाओं का केन्द्रबिन्दु है। 1919 में लिखे गये अपने लेख 'पुराना जमाना : नया जमाना' और 1936 में अपनी मृत्यु के तीन सप्ताह पहले 'हंस' में लिखे गए अपने लेख 'महाजनी सभ्यता' में सामन्तवादी और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं और शोषण पर आधारित उनकी अमानवीय और पतनशील संस्कृति के अनिवार्य अन्त की घोषणा उन्होंने की थी। उन्होंने अपने समाज की सारी समस्याओं और उनके सारे अन्तर्विरोधों के हल करने की शक्ति अपनी जनता में देखी थी।

प्रेमचन्द्र ने भारतीय समाज को बहुत हद तक उसी रूप में देखा जिस रूप में 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में फांस में पनपे वाणिज्यिक पूंजीवाद और उसके ऊपरी ढांचे के विभिन्न अंगों पर होने वाले प्रभाव को बाल्जाक ने देखा था। मार्क्स ने फ्रांसीसी क्रांति के उपरान्त फांस में हुए सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक बदलावों को जानने के लिए उसी उपन्यासकार बाल्जाक की कृतियों को पढ़ने की सलाह दी थी। उन्होंने कहा था यदि फांस के सामाजिक-आर्थिक इतिहास को जानना चाहते हैं तो बाल्जाक के उपन्यासों को पढ़िए। उन्होंने यह भी कहा था कि अर्थशास्त्रियों तथा अन्य समाज विज्ञानियों की उबाऊ रचनाओं से यथार्थ की वह समझ प्राप्त नहीं हो सकती जो बाल्काक की साहित्यिक कृतायों से मिल सकती है।

प्रेमचन्द्र के बाद, प्रेमचन्द्र की परम्परा के वाहक होने का दावा करने वाले कहानीकारों-उपन्यासकारों ने इस व्यापक जीवन के प्रवाह, इसके अतिशय विस्तृत और वैविध्यपूर्ण कैनवास को अपनी रचनाओं में शायद ही किसी ने चित्रित किया है। सामाजिक जीवन के जिस व्यापक परिवेश को, उनके अनेक संबंध-सूत्रों को, उसके बीच के अन्तर्सम्बन्ध के क्षेत्रों को, विभिन्न जाति और धर्म के लोगों को एक प्रकार का सामाजिक जीवन जीते, एक दूसरे के सुख-दु:ख में शरीक होते, एक तरह से सामाजिक अन्तर्विरोधों का मुकाबला करते दिखाया है, बाद के लेखकों की रचनाओं में वैसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता है, बल्कि वह परम्परा भी व्यापक सामाजिक जीवन को ग्रहण करने में चूक गई है। आज के लेखक, बदले समाज के सामाजिक-आर्थिक परिवेश और परिस्थिति को गहराई में जाकर समझने की कोशिश नहीं करते हैं जैसा प्रेमचन्द्र ने किया था। परम्परा का अर्थ कतई दुहराना नहीं बल्कि एक ऊँचाई पर जाकर उसे दुहराना होता है। परम्परा का अर्थ अपने समय और समाज की बदली हुई परिस्थिति को रेखांकित करना है।

## संदर्भ


1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति, नामवर सिंह, पांचवा सं. 1971, लोकभारती प्रकाशन।
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, रामविलास शर्मा 1973, राजकमल प्रकाशन।
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, दि. सं. 1971, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. उपन्यास और लोक जीवन, राल्फ फाक्स अनुवादक, नरोत्तम नागर पहला सं. 1957, पी.पी.एच।
5. आधुनिक परिवेश और नवलेखन, शिव प्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

# समकालीन महिला कथा-लेखन और मेहरून्निसा परवेज की कहानियाँ

**आशा कुमारी**

**शोधार्थी, हिन्दी विभाग, नव नालन्दा, डीम्ड यूनिवर्सिटी, नालन्दा**

हिन्दी कहानी के समग्र विवेचन से यह तथ्य साफ तौर पर सामने आता है कि स्वतंत्रता पूर्व के कहानी साहित्य में जहाँ लेखिकाओं की भागीदारी अत्यंत नगण्य है, वही स्वतंत्रता के बाद के दौर में लेखिकाएँ लगातार अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रही हैं। बल्कि अंत के दो-तीन दशकों में तो उनकी भूमिका इतनी महत्वपूर्ण हो जाती है कि उन पर चर्चा किए बिना कहानी विधा की उपलब्धियों को रेखांकित ही नही किया जा सकता। हिन्दी कहानी के उद्‌भव काल में बंग महिला की 'दुलाईवाली' (1907 ई.) कहानी का उल्लेख रामचंद्र शुक्ल से लेकर अन्य इतिहासकारों के ग्रंथों में हुआ है। वस्तुतः यह 'बंग महिला' और कोई नही श्रीमती राजेन्द्र बाला घोष थी और उस समय कहानी-विधा लगभग अप्रतिष्ठित थी, बल्कि इसे नवयुवकों के लिए घातक माना जाता था। उस भयानक समय में बंग महिला ने मौलिक कहानियों के साथ-साथ बंगला से कुछ कहानियों का हिन्दी में अनुवाद भी किया था।

छायावाद काल में सुभद्रा कुमारी चौहान की कई कहानियां प्रकाशित हुई। 'बिखरे मोती' (1932 ई.) और 'उन्मादिनी' (1934 ई.) उनकी कहानियों के दो संकलन हैं। अपनी कहानियों में सुमद्रा जी ने विशेषत: भारतीय स्त्रियों की दशा-दुर्दशा, सीमा-संभावना के साथ-साथ उनकी भावनाओं का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। उनकी कहानियों में सामाजिक पारिवारिक जीवन के व्यावहारिक चित्र मिलते है। उनकी एक उल्लेखनीय कहानी है- 'पापी पेट'।

प्रेमचंद की पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने भी सुभद्राकुमारी की तर्ज पर कुछेक कहानियाँ लिखी थीं जो कौमुदी (1937 ई.) में प्रकाशित हुईं। 1933 ई. के आसपास उषादेवी मिश्रा की भावुकता भरी कल्पनामयी सामाजिक कहानियाँ तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। 'पिउ कहाँ', 'मूर्त्त मृदंग' 'गोधूलि' 'देवदासी', 'मन का मोह' आदि उनकी इस दौर की प्रकाशित कहानियाँ है। इसी अवधि में होमवती देवी की कहानियों का भी उल्लेख हुआ है। लेकिन उनकी कहानियों की स्वतंत्र रूप से कहीं चर्चा नहीं हुई है। स्वतंत्रता पूर्व की कहानी लेखिकाओं में चन्द्र किरण सौनरेक्सा का नाम महत्वपूर्ण है। उनकी कहानियों का एक संकलन 'आदमखोर' प्रकाशित हुआ था। चंद्र किरण सौनेरिक्सा ने अपनी कहानियों में मध्यवर्ग को उठाया है। स्त्री मनोविज्ञान का सूक्ष्म अंकन भी उन्होंने अत्यंत कलात्मकता के साथ किया है। उन्होंने दलित और सर्वहारा की समस्याओं पर भी कहानियां लिखी हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में समाजिक व्यवस्था के वृहतर संदर्भ में पुरूष और स्त्री की स्थिति को परिभाषित करने की चेष्टा की है। परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व एवं तनाव उनकी

कहानियों में साफ तौर पर देखा जा सकता है। मध्यवर्गीय समाज में भौतिकवादी समृद्धि की भूख, महत्वाकांक्षा, प्रतिद्वंद्धिता, उपभोक्तावाद आदि प्रवृत्तियां भी उनकी कहानियों में व्यक्त हुई हैं। उनकी 'ना समझ' और 'कवयित्री' आदि कहानियों में पुरूष-वर्चस्व और स्त्री की बेबसी का चित्रण है। 'बर्थडे' और 'आत्महंता' शीर्षक कहानियों में मध्यवर्गीय प्रदर्शन-प्रियता का अत्यंत व्यंग्यपूर्ण चित्रण हुआ है। 'साइकिल', 'बड़े कमीन: छोटे कमीन' आदि कहानियों में सर्वहारा और शोषक जन के सोच और सपनों को वाणी दी गयी है, साथ ही, उच्चवर्गीय और मध्यवर्गीय मानसिकता की विसंगतियों को भी समानांतर रूप से उद्‌धाटित किया गया है। उनकी कहानियाँ अपने समय के बिडंबनापूर्ण सच पर आधारित हैं, किंतु उनकी कहानियों पर पर्याप्त विचार नहीं हो पाया है।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी लेखन में लेखिकाओं की भागीदारी महत्वपूर्ण हो जाती है। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा नयी कहानी के दौर की लेखिकाएं हैं।

कृष्णा सोबती की कहानियों का प्रतिनिधि संकलन 1980 ई. में 'बादलों के घेरे' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस संकलन में कुल 24 कहानियाँ हैं। इस संकलन में उनकी दो कहानियां 'नफीसा' और 'लामा' 1944 ई. की हैं। नई कहानी आंदोलन में उनकी कई कहानियाँ काफी चर्चित भी हुई थी। आत्मपरकता के उस दौर में भी उन्होंने स्वयं को अपने कहानी लेखक से अलग रखा है। उनकी कहानियां मुख्यत: तीन प्रकार की हैं। पहले वर्ग में बादलों के घेरे, कुछ नहीं कोई नही, दोहरी सांझ, पहाड़ों के साये तले और दो राहे: दो बाँहें आदि हैं। ये कहानियां प्रेम और स्त्री-पुरूष संबंधों को आधार बनाकर लिखी गयी हैं। बदली बरस गयी, गुलाबजल गंडेरियां और आजादी शम्मोजान की दूसरे प्रकार की कहानियां हैं। इनमें स्त्री की स्थिति को उसके परिवेशगत द्वन्द्धात्मक संबंधों के संदर्भ में आंकने की कोशिश है। कहानियां का तीसरा वर्ग, भारत-पाक विभाजन की जासदी से संबद्ध है, जिनमें- सिक्का बदल गया, डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा , मेरी माँ कहां............ आदि उल्लेखनीय हैं।

नई कहानी के दौर की एक चर्चित लेखिका उषा प्रियबंदा है। उनके दो कहानी संकलन है- 'जिंदगी और गुलाब के फूल' तथा 'एक कोई दूसरा' 1 उनकी पहली कहानी 'जिंदगी और गुलाब के फूल' 'कहानी' पत्रिका में 1958 जुलाई में प्रकाशित हुई थी। उनकी दूसरी कहानी 'वापसी' 'नई कहानियां' पत्रिका के 1960 के एक अंक में प्रकाशित हुई थी और उसे प्रथम पुरस्कार भी मिला था। यह कहानी उस दौर में बहुत चर्चित भी हुई थी। हिन्दी कहानियों के अधिकांश प्रतिनिधि संकलनों में यह कहानी उनकी प्रतिनिधि कहानी के रूप में संकलित होती रही है। नामवर सिंह ने इस कहानी की आलोचना करते हुए लिखा है -'वापसी' में अनायास शिल्प का आभास मिलता है। छोटी-छोटी घटनाओं के दृश्य चित्र सामने आते हैं और सभी चित्र कुल मिलाकर एक जीवन -मर्म का अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। कहानी वर्णनात्मक से अलग चित्रात्मक है, चरित्रों के क्रिया-कलापों पर आलोचनात्मक टिप्पणियां कम से कम हैं। क्रिया-कलापों का तथ्य परक अंकन ही अधिक है।"[1]

उनकी पहली कहानी 'जिंदगी और गुलाब के फूल' कहानी पत्रिका 1958 जुलाई अंक में प्रकाशित हुई थी। इस पहली कहानी पर अपनी टिप्पणी दर्ज करते हुए नामवर सिंह ने कहा था–"इससे एक कहानीकार की रचना प्रक्रिया की उस संक्रमणकालीन स्थिति का पता चलता है जिसमें प्राचीन से नवीन की ओर और आदर्शवादी रूमानियत से यर्थाथवाद की ओर अग्रसर होने का कठिन द्वंद्व होता है।"[2]

कुंवर नारायण ने इसी कहानी के आधार पर उषा प्रियवंदा को 'आधुनिकता की तरफदार'[3] कहा था। यद्यपि अपनी पूर्ववर्ती और समकालीन कथा लेखिकाओं की तुलना में उषा प्रियवंदा का रचना संसार और उनके रचनात्मक सरोकार बहुत सीमित हैं। वे न तो चंद्रकिरण सौनेरिक्सा की तरह वृहतर सामाजिक संदर्भो से जुड़कर व्यवस्था के शोषक आदमखोर स्वरूप का उद्‌घाटन करती है, और न ही कृष्णा सोवती की तरह संक्रमणशील समाज में स्त्री की आत्मसजगता को चित्रित करती है–सारे सामाजिक, राजनीतिक परिवर्त्तन के बीचो-बीच खड़ी अपनी निजता और अधिकार की आवाज उठाती हुई स्त्री। .......... उषा प्रियवंदा की कहानियां अनुभव की विपन्नता की कहानियां हैं। वे कदाचित अकेली लेखिका हैं, जिन्होंने प्रेम पर इतनी अधिक कहानियां लिखी हैं।"[4] छठे-सातवें दशक की एक अत्यंत महत्वपूर्ण कहानी लेखिका के रूप में मन्नू भंडारी का नाम लिया जाता है। उनके तीन संकलन प्रकाशित हैं- 'मैं हार गयी' (1957 ई.) 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', और 'यही सच है'। डा. ओम प्रकाश सिंघल ने उनकी कहानियों के संदर्भ में कहा है,–"मन्नू ने बड़ी ही ईमानदारी के साथ नारी के मन में उठने वाले भावों, स्थिति विशेष में पुरुष के मन में जगने वाली शंकाओं, ईर्ष्याओं आदि को अपनी कहानियों में चित्रित किया है।"[5]

उनकी कहानियों में ऐसी कुछ विशेषताएं हैं जो उन्हें समकालीन लेखिकाओं, साथ ही लेखकों से कुछ अलग विशिष्ट पहचान देती है। उनकी कहानियों में स्त्री की एक ऐसी तस्वीर गढ़ने की चेष्टा है जो निरंतर एक आत्मसजग स्त्री के रूप में विकसित होती है और जो व्यर्थ के आडंबर में जीवन बर्बाद करने की अपेक्षा अपने ढंग से जीने की सार्थक कोशिश करती है। तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का अंतर्विरोध जितने स्पष्ट रूप से उनकी कहानियों में उभरकर आए हैं, अन्यत्र कम ही दिखते हैं। स्त्री को कई रूपों में प्रस्तुत करने में समर्थ मन्नू भंडारी ने प्रचलित अर्थ वाली प्रेम कहानियां बहुत कम लिखी हैं।

'नई कहानी' के बाद हिन्दी कहानी में थोड़े समय तक 'अ-कहानी' आंदोलन का दौर चलता है। वस्तुत: नयी कहानी के उत्तरकाल में आत्मपरक कहानियों का चलन बढ़ चला था। ऐसी आत्मपरक कहानियां प्रतीकबहुल सांकेतिक भाषा में प्रेम और दैहिक वैभव को उकेरने वाली थीं। ऐसी ही कहानियों में चिन्हित साहसिकता के कारण कुछ लेखिकाएं काफी चर्चित भी हुई थीं। मृदुला गर्ग, ममता कालिया, मृणाल पांडे और मणिका मोहिनी की कहानियों में यह प्रवृत्ति साफ झलकती है। शुरूआत में इन्हीं कहानियों के संदर्भ में महिला-लेखन जैसे जुमले का प्रयोग हुआ। आधुनिकता एवं पश्चिम में नारी मुक्ति आंदोलन से उत्साहित होकर कई लेखिकाएं

उधर आकृष्ट हुईं, किंतु यह सिलसिला जल्द ही थम भी गया। ममता कालिया के दो संकलन प्रकाशित हुए-'जांच अभी जारी है' तथा 'प्रतिदिन'। प्रारंभ में निजी और सीमित अनुभव वाली कहानियों में कलावादी रूझान कुछ ज्यादा है। दूसरे संकलन की कहानियां विकसित दृष्टि का परिचायक है। इन कहानियों में मध्यवर्गीय स्त्री को वृहत्तर सामाजिक संदर्भो में रखकर उसकी स्थिति और नियति को परिभाषित करने की कोशिश की गयी है।

समांतर कहानी आंदोलन के दरम्यान कहानी के परिदृश्य पर मेहरून्निसा परवेज का आगमन होता है। 'सारिका' पत्रिका के 1974 के नवंबर अंक में उनकी पहली कहानी 'आतंक भरा सुख' प्रकाशित होती है। इस कहानी की पृष्ठभूमि बस्तर जैसे पिछड़े इलाके के एक दूर-दराज क्षेत्र से निर्मित होती है। भूख, अभाव, गरीबी और बेवसी को लेकर लिखी गयी इस कहानी ने पाठकों को काफी प्रभावित किया था। 1977 में इनका पहला संकलन 'टहनियों पर धूप' प्रकाशित हुआ। उसके बाद लगातार उनके कहानी-संकलन प्रकाशित होते रहे। लगभग तीस वर्षो के लंबे अंतराल में उनकी सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें समाज के हर वर्ग की अलग-अलग तस्वीर हैं। सर्वहारा दलित, स्त्री, गरीबी, शोषण, अन्याय और अदम्य जिजीविषा बहुविध चित्रों से उनकी कहानियाँ निर्मित होती रही हैं। महिला कथा लेखन में निस्संदेह उनका महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि लंबे समय तक और पर्याप्त लेखन के बावजूद उनके कथा साहित्य पर गंभीर आलोचना न के बराबर हुई है। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध की योजना बनी है।

समांतर कहानी आंदोलन में मेहरून्निसा परवेज के साथ दो और लेखिकाओं ने अपनी कथा यात्रा शुरू की थी-निरूपमा सेवती और सुधा अरोड़ा। तलाश के बाद, चुनौती ओर स्वीकृति, दंशित, आतंकबीज, काले खरगोश, कब तक और विरासत, निरूपमा सेवती की उल्लेखनीय कहानियाँ हैं, जिनमें गंभीर स्त्री विमर्श की झलक मिलती है। महिला-लेखन की परिपाटीबद्ध कहानियों से अलग अंतर्वस्तु का चुनाव इन्होंने अपनी कहानियों में किया है।

सुधा अरोड़ा के दो कहानी संकलन प्रकाशित हैं-बगैर तराशे हुए और युद्ध विराम। सुधा अरोड़ा की कहानियों में भाषा और शिल्प के स्तर पर अतिरिक्त सजगता भले न हो, किंतु अपने आस-पास के परिवेश के प्रति सजगता अवश्य दिखती है। इनकी कहानियों में वैसी स्त्रियाँ हैं, जो निरंतर आत्मसंघर्ष से गुजरती हैं। अतीत से मुक्ति का संघर्ष इनकी कहानियों में मुखर रूप से चित्रित हुआ है। अपनी आत्मकेन्द्रित दुनिया से बाहर आने के लिए उनके कथा पात्र निरंतर सचेष्ट रहते हैं। उनकी कहानियाँ निरंतर विकसित दृष्टि का संकेत देती हैं। पारिवारिक रिश्ते की गहन पड़ताल और पहचान 'युद्धविराम' कहानी में चित्रित है। 'तानाशाही' और पति परमेश्वर में पारिवारिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत ही रूढ़ियों और दुराग्रहों से मुक्त होकर अपने विवेक के बल पर जीवन जीने का आग्रह स्पष्ट है। महिला कथा लेखन में अंतर्वस्तु में विस्तार और नयी कथाभूमि की खोज की दृष्टि से नासिरा शर्मा की कहानियां उल्लेखनीय हैं। न केवल भारतीय समाज बल्कि एशियाई समाज, विशेषकर

ईरान, अफगानिस्तान की पृष्ठभूमि प्रसंग और पात्रों को लेकर उन्होंने इंसान के बुनियादी सरोकारों को कहानियों में चित्रित किया है। 'शामी कागज', 'संगसार', 'इब्ने मरियम' आदि उसके कहानी संकलन है। इनकी कहानियों में परिवेशगत और भौगोलिक ब्योरों का इस्तेमाल भर हुआ है। गृहयुद्ध उछल-पुथल, अराजक स्थिति के बावजूद मनुष्य की जीने की अदम्य इच्छा, और उजड़ने के बावजूद फिर से स्थापित होने की आकुलता लेखिका के लिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है, जिसे उन्होंने बार-बार रेखांकित किया है।

हिन्दी कहानी के उद्‌भव काल से ही महिला कहानिकारों की भागीदारी के बावजूद स्वतंत्रता पूर्व तक महिला कथा लेखन का कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं दिखता है। लेकिन आजादी के ठीक बाद से महिला कथाकारों की भागीदारी निरन्तर बढ़ती जाती है और सदी के अंतिम दशक तक आते-आते महिला कथाकारों की रचनाएँ कहानी की मूल धारा में समाहित हो जाती है। स्त्री विमर्श को बेबाकी से सामने रखने वाली कहानियों का प्रचलन बढ़ जाता है। "आधुनिक स्त्री के निमार्ण में स्वाधीनता की वयस्क समझ और उसके उपयोग का विवेक यही उनकी मुख्य चिंता है। हिन्दी कहानी में यहीं चिंता प्रभा खेतान से लेकर गीतांजलिश्री की कहानियों तक देखी जा सकती है।"[6]

एक कहानीकार के रूप में राजी सेठ का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वहाँ व्यापकता भले ना हो, किंतु पारिवारिक संबंधो की महीन बुनावट को नैतिक दार्शनिक संदर्भ में प्रस्तुत करने में वे निपुण हैं। 'दूसरे देश काल में', 'निष्कवच' आदि उनके प्रकाशित कहानी संकलन है। उन्होंने नयी पीढ़ी को आरोपित वर्जनाओं और नैतिकतावादी आवरणों को उतार कर अपनी मर्जी और विवेक से अपना जीवन जीने की सलाह देती दिखती है। वे अक्सर स्वीकृत और परम्परागत मूल्यों पर पुनर्विचार के लिए उकसाती नजर आती है। राजी सेठ की कहानियों से अलग सूर्यवाला की कहानियाँ मध्यवर्गीय समाज के परिचित यथार्थ को सादगी और विश्वसनीयता के साथ व्यक्त करती है। थाली भर चाँद, गृहप्रवेश, मटियारा तीतर, गीता चौधरी का आखरी सवाल आदि कहानियाँ समाजिक बिडंबनाओं -विद्रूपताओं को निर्ममता से उजागर करती हैं। उनकी कहानियों में यद्यपि आधुनिक स्त्री का वैसा चेहरा तो नहीं है, जो नारीवादी लेखिकाओं ने रचा है, किंतु आत्मसजग स्त्री के कई रूप वहाँ दिखते हैं।

किसी भी प्रकार के आंदोलन या लेखकीय खेमेबंदी से सर्वथा उदासीन चंद्रकांता संघर्षशील स्त्रियों को अपनी कहानियों में भरपूर सहानुभूति देती है। 'सूरज उगने तक', 'ओ सोन केसरी', आदि उनके प्रकाशित कहानी संकलन हैं। कहानी को व्यापक जनसमुदाय से निश्छल संवाद मानने वाली चंद्रकांता ने अपने कहानी संकलन 'सूरज उगने तक' की भूमिका में अपनी कहानियों के बावत महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया हैं– "महिला हूँ, पर लेखन खुद को महिला समझ कर नही किया।" उनकी कहानियों का रचना संसार अत्यंत व्यापक है।

'जगदम्बा बाबू गाँव आ रहे है' चित्रा मुदगल भी कहानियों का ताजातरीन संकलन है जो महिला कथा लेखन में आए रचना विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय

है। जहाँ गरीबो-विकलांगों को छलने वाली कल्याणी कारी योजनाओं के पीछे छिपे राजनीतिक छल -फरेब को उजागर करने वाली कहानियाँ उन्होंने लिखी है, वहीं 'तास महल' की सोभना और शिल्पा जैसी स्त्रियाँ भी हैं जो अत्याचार, उत्पीड़न और अपने भावानात्मक शोषण के विरूद्ध समझौताविहीन रूख अपनाती है। अपने वर्गीय अंतर्विरोध को भी अपनी कहानियों में उन्होंने निर्भीकता पूर्वक उद्घाटित किया है।

खुले आकाश के नीचे, जंगल गाथा आदि नमिता सिंह की कहानियों के उल्लेखनीय संकलन है। उन्होंने अपनी कहानियों में आदिम जनजातीय समाज की रूढ़ियों ओर अंधविश्वासों को सामंती और शहरी काईयांपन के सामने रखकर अंकित किया है। जनजातीय समाज के युवा वर्ग को यह शहरी अजगर किस तरह निगल रहा है, इसे उन्होंने साफ तौर पर सामने रखा है।

नवोदित लेखिकाओं में मैत्रेयी पुष्पा अकेली लेखिका है जिन्होंने ग्रामीण जीवन और परिवेश को केन्द्र में रखकर कहानियाँ लिखी हैं। 'चिह्नार' उनका पहला कहानी संग्रह है। गाँव के निरंतर बदलते चेहरे और बदरंग होती जिन्दगी उनकी संवेदनशीलता को आंदोलित कर देती है। गाँव से उनका भावनात्मक लगाव है। पुरूष वर्चस्व वाले समाज में स्त्रियों के ऊपर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध केतकी और मुन्नी जैसी स्त्रियाँ कलात्मक कमजोरी के बावजूद आश्वस्त करती हैं। उनकी 'रास' और 'गोमा' जैसी कहानियों में उनकी विकसित चेतना बहुत प्रभावित करती है। ग्रामीण जीवन और समाज की वास्तविकता को तमाम आग्रहों से मुक्त होकर अपनी कहानियों में वे जिस तरह सामने लाती है, वह पाठकों को न केवल प्रभावित करता है, बल्कि बहुत हद तक आश्वस्त भी करता है।

'कहानी की तलाश में' अलका सरावगी की वैसी कहानियों का संकलन है, जो हमें यह आश्वति प्रदान करती है कि कहानी आज भी अपने माननीय और सामाजिक सरोकारो से शिद्दत के साथ जुड़ी हैं। वे प्रचलित अर्थ में स्त्रीवादी नहीं हैं, क्योंकि पुरुषों के प्रति वहाँ न तो कोई पूर्वग्रह है और न ही कोई तलखी। बल्कि वे तो वैसे परिवेश का सुखद एहसास कराती हैं जहाँ स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सहयोग और समझदारी से बिना किसी कटुता और अविश्वास में साझा जीवन जिया जा सके। वर्त्तमान शिक्षा पद्धति और किताबी ज्ञान के प्रति उनका क्षोभ उनकी कहानियों में भी दिखता है। वे मौलिकता की पक्षधर हैं। हिन्दी कहानी के पारम्परिक 'कहानीपन' को बचाए रखकर ही इनकी कहानियाँ विकसित होती है।

गीतांजलि श्री का कहानी संकलन 'अनुगूंज' समाज में स्त्री की स्थिति और नियति से गहरे रूप से संबद्ध है। स्मृति के ताने-बाने से बुनी हुई कहानियों पर निर्मल वर्मा के प्रभाव को सहज ही महसूस किया जा सकता है। पुरुष वर्चस्व को निरंतर अनुभव करने वाली कहानियों में प्यार की उस सीमा का संकेत किया है जो स्त्री को अक्सर उसके दायरे के भीतर ही रहने के लिए विवश करता है। अंतर्धार्मिक विवाह की समस्याओं को भी उन्होंने 'वेलपत्र' कहानी में बेबाकी से स्पष्ट किया है।

सारा राय की कहानियों का संकलन है 'अबाबील की उड़ान'। निर्मल वर्मा ने इन कहानियों को समाज की आक्रामकता के विरूद्ध एक सार्थक हस्तक्षेप के रूप में

स्वीकृति प्रदान की है। नारी मुक्ति का सवाल उनकी कहानियों का प्रधान विषय नहीं है, बल्कि सभी धर्मो के मानने वाले लोगों की अंतरंग दुनिया पाठकों के मर्म को छूने में समर्थ है। यहाँ भी निर्मल वर्मा का प्रभाव दिखता है। यहाँ जीवन की बुनियादी उदासी और अवसाद का भाव है। ये कहानियाँ काव्यात्मकता के संस्पर्श से अत्यंत प्रभावपूर्ण हो जाती है।

इक्कीसवीं सदी का पहला दशक महिला कथा लेखन के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। नयी-नयी राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों, समस्याओं को समेटती ये कहानियाँ हिन्दी कहानी की सौ वर्ष की यात्रा की सफलता-सार्थकता का उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। दलित विर्मश पर आधारित सुशीला टाक मौरे की 'सूरज के आस पास ' शीर्षक कहानी (हंस दिसम्बर 2009), मुस्लिम परिवेश पर आधारित तबस्सुम फातिमा की कहानी 'हिजाब' (हंस अगस्त 2009) गीता श्री और भाषा सिंह की क्रमश: 'प्रार्थना के बाहर' तथा 'पन्द्रहवीं मंजिल का सफर' (हंस, अगस्त 2009), शारदा सिंह की कहानी- 'हुस्नबानू का आठवाँ सवाल (हंस, अक्तूबर 2009), कुसुम भट्ट की 'जेम्सवाट की केटली' (हंस, फरवरी 2008) प्रतिभा दास की 'जलमग्नी' (हंस, मई 01) , वंदना राय की छायायुद्ध (हंस, मई 08), किरण सिंह की 'जो इसे जब पढ़े' (हंस, मई 09) कविता भी 'पत्थर, माटी, दूब' (हंस, मई 09) सोनाली सिंह की 'क्यूटी पाई' (हंस, मई 09), अल्पना मिश्र की 'मिडडे मील' (उज्जवल ध्रुवतारा, जन. मार्च 07) आदि नवोदित लेखिकाओं की कहानियों में जहाँ विषय वैविध्य है, वहाँ ये कहानियाँ राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भो-सरोकारों को भी बखूबी सामने रखती हैं। अपनी लगभग सौ वर्षो की यात्रा में हिन्दी कहानी समय-समय पर विभिन्न मुद्दो को लेकर चलाए जा रहे आंदोलनों, विचारधाराओं आदि से नई शक्ति और उर्जा लेकर लगातार समृद्ध और विकसित होती रही है। इस छोटी सी अवधि में हिन्दी कहानी ने विश्व कहानी साहित्य का सर्वोत्तम सहजता से ग्रहण कर लिया है। विकास-यात्रा के पूर्वाद्ध में महिला कला लेखन बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, किंतु उत्तराद्ध इस दृष्टि से संतोषजनक ही नही बल्कि अत्यंत समृद्ध और महत्वपूर्ण है। समय-समय पर आए विचलन के बावजूद हिन्दी कहानी अपनी जातीय परम्परा के अनुरूप अपने परिवेश और समाज से निरंतर संबद्ध रही है और जरूरी चिंताओं, चुनौतियों और सवालों से सार्थक ढ़ंग से जूझती रही है। संभावनाओं की दृष्टि से आज की हिन्दी-कहानी पाठकों को आश्वस्त करती है। आज यह केन्द्रीय विधा के रूप में पूर्णत: प्रतिष्ठित है।

## संदर्भ ग्रन्थ


1. कहानी : नयी कहानी - ले. नामवर सिंह - लोक भारती प्रकाशन
2. कहानी : नयी कहानी - ले. नामवर सिंह - लोक भारती प्रकाशन
3. विवेक के रंग - ले. देवी शंकर द्ववस्थी- भारतीय ज्ञानपीठ - कुँवरनारायण के लेख से।
4. हिन्दी कहानी का विकास - ले. मधुरेश - सुमित प्रकाशन।
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास - ले. डा. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
6. हिन्दी कहानी का विकास - ले. मधुरेश सुमित प्रकाशन।

# प्रेमचन्द और दलित-समस्या

डॉ. अनुप निरंजन

भारतीय साहित्य में 'दलित-समस्या' की चर्चा दो बार जमकर हुई है। पहली बार मध्ययुग में सन्त कवियों द्वारा और दूसरी बार तब, जब गांधीजी 'दलित-समस्या' को आजादी की लड़ाई का अंग मान लेते हैं। मध्य युग के अनेक सन्तों ने ऊँच-नीच के भेद पर कसकर आघात किया था। बहुत से दूरदर्शी सन्तों ने इस प्रथा के उन्मूलन का प्रयास किया था। इस युग में विकसित पौराणिक धर्म ने धार्मिक समता की व्यवस्था की थी। एक ही परमात्मा सबका पिता है। गंगा, तीर्थ, पर्व-त्यौहार आदि सभी हिन्दुओं द्वारा समान रूप से मान्य है। अखिल भारतवर्ष के भूगोल तथा इतिहास को ये सभी समान रूप से पवित्र समझते है।

राम, कृष्ण, शिव, गणेश, हनुमान इत्यादि देवता सभी के पूज्य हैं। इन सब बातों से हरिजनों की धार्मिक समस्या हल हो गयी थी। दुर्भाग्य से इसी बीच भारत में मुसलमान के साथ इस्लाम धर्म का आगमन हुआ। इस्लाम धर्म के प्रचारकों ने दलितों को शेष समाज से पृथक रखने और इस्लाम में दीक्षित करने का प्रयत्न किया। बहुत-सी दलित जातियाँ मुसलमान हो भी गयीं। किन्तु वहाँ उनकी धार्मिक समस्या हल नहीं हो सकी।

इसी दौर में कबीर, दादू इत्यादि मुसलमान सन्तों ने नारा लगाया कि वैदिक धर्म और इस्लाम धर्म दोनों भ्रम हैं। उधर रैदास आदि हिन्दू दलित सन्तों ने भी उनके सिद्धांत को महत्त्व दिया। इन सन्तों के द्वारा सन्तमत का प्रवर्तन हुआ। सन्तमत में वही अद्वैतवाद है, वही आचार प्रधान धर्म है, वही भक्ति का सिद्धांत है, वही वैष्णव मत है, और वही ध्यान योग है, जो पुराणों में मिलता है। किन्तु पुराणों ने वैदिक चातुर्वर्ण्य के स्थान पर जाति-पाति की व्यवस्था की थी और इन सन्तों ने जाति-पाँति तोड़ने का विधान बनाया। इन्होंने ही अछूतों को पहले-पहल 'हरिजन' या हरिदास कहा था, जिसे बाद में गांधीजी जी ने बहुत प्रचलित किया और जो आज इस अर्थ में रुढ़ हो चला है।

सन्तमत सारे देश में फैला। हर जाति में उच्च कोटि के ज्ञानी सन्त हुए हैं जिन्होंने अपनी मातृभाषा में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण किया है। उन्होंने अपने अनुयायियों के नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाया है। आज समस्त हिन्दू पर गर्व करते हैं और उन्हें अपना सन्त समझते हैं। उनके विपुलकाय साहित्य को देखकर हर विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि दलितों का साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास हिन्दू धर्म और उनकी मातृभाषा के द्वारा ही हो सकता है।

राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के दौर में 'दलित-समस्या' गांधीजी के माध्यम से जन-जन तक पहुँचायी गयी, जिसे विभिन्न भाषाओं के लेखकों ने अपनी रचनाओं का विषय बनाया। ऐसे लेखकों में सबसे अधिक मुंशी प्रेमचन्द का नाम लिया जाता है। उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियाँ, ग्यारह-बारह उपन्यास, दो बड़े नाटक तथा

अनगिनत लेख लिखे, जिनमें से अधिकांश में कहीं-न-कहीं दलित जरूर मिल जाता है और उनकी समस्याएँ भी। प्रेमचन्द की रचनाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक पहलू 'दलित-समस्या' को माना जा सकता है। 'दलित-समस्याओं को यदि प्रेमचन्द के साहित्य में भूमिहीन किसान अथवा खेतिहर मजदूर की समस्या माना जाय तो ज्यादा अच्छा होगा। क्योंकि प्रेमचन्द की अधिकांश रचनाओं में वर्णित काल, पात्र और स्थान हिन्दी क्षेत्र के ही है, जहाँ प्रायः शत-प्रतिशत दलित भूमिहीन हैं और खेतिहर मजदूर हैं। प्रेमचन्द द्वारा वर्णित दलित पात्रों और उनकी समस्याओं को हम दो स्तरों पर देखते हैं–

(1) सामाजिक स्तर और

(2) आर्थिक स्तर।

सामाजिक स्तर पर ये समस्याएँ छुआछूत, मन्दिरों में प्रवेश-निषेध, वेदपाठ-निषेध से जुड़ती हैं तो दूसरी ओर आर्थिक स्तर पर खेत मजदूरों की समस्या से। महात्मा गांधी ने दलित-समस्या को सामाजिक समस्या के रूप में ही देखा था और उन्होंने उसका समाधान भी उसी स्तर से किया था। उन्होंने 'दलित' आन्दोलन चलाया था। इस आन्दोलन की मूल प्रेरणा थी– शूद्रों के प्रति सवर्णों की दयावृत्ति को उकसाना। इसका एक तो परिणाम हुआ कि अर्थनीति के कारणों से सवर्णों के प्रति शूद्रों के जो घृणा, विद्वेषमय संघर्ष बढ़ रहा था, वह धीमा पड़ गया। यह आन्दोलन बुद्ध, महावीर और स्वामी रामानन्द से आगे जाने की प्रेरणा नहीं रखता था। इस आन्दोलन से शूद्रों को कुछ मन्दिरों में भरमने का आत्म-सन्तोष प्राप्त हुआ, पर अर्थनीतिक व्यवस्था के बदलने से इन आन्दोलनों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। सामान्यतया समूह रूप से दलित गुलाम के गुलाम ही थे। प्रेमचन्दजी इस सन्दर्भ में गांधीजी से आगे जाते हैं और वे उसके आर्थिक पहलुओं को भी उजागार करते हैं और उस पर चोट करते हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में उनका कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं हैं, जिसका मुख्य विषय दलित समस्या हो। किन्तु उनकी दर्जनों कहानियाँ जरूर ऐसी हैं, जिनके मुख्य सवाल दलितों की जिन्दगी से जुड़े हैं और मात्र उसी समस्या को उद्घाटित करते हैं। उनकी कहानियाँ जिस रूप से इस समस्या को देखती हैं, उसके मुख्य बिन्दुओं को हम इस प्रकार रख सकते हैं–

प्राचीनकाल से ही वर्ण-व्यवस्था हिन्दू-समाज की आधारशिला रही है, किन्तु उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समाज की सर्वाधिक सेवा करने वाला वर्ग पिसता रहा तथा हेय समझा जाने लगा। उसे अछूत माना जाने लगा और कालान्तर में उसे आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, उसका मन्दिरों में प्रवेश निषेध हो गया। वह नाम-मात्र का हिन्दू रह गया परिणामस्वरूप शुरू में मुसलमानों ने और बाद में ईसाई मिशनरियों ने इससे लाभ उठाया और अनेक अछूतों को अपने सम्प्रदाय में मिला लिया। समाज सुधारकों ने इस भयंकर परिणाम को देखा और उनके उद्धार का बीड़ा उठाया। गांधीजी ने स्वयं इसके निमित्त हरिजन आन्दोलन चलाया। समाजशास्त्रियों के अनुसार अछूत भावना या अस्पृश्यता मुख्यतः तीन रूढिवादी मान्यताओं पर आधारित है– खान-पान सम्बन्धी नियम, शादी का सम्बन्ध

तथा धार्मिक उत्सव। अछूत के साथ बैठकर भोजन करना तो बहुत दूर की बात है उसको छूने मात्र से ही सवर्ण हिन्दू शरीर को अशुद्ध मानते हैं। मन्दिर-प्रवेश तथा धार्मिक उत्सवों में अछूत का सहयोग तो दूर, वह मन्दिर में रखी भगवान की मूर्ति का दर्शन भी नहीं कर सकता। प्रेमचन्द ने इन तीनों रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया, जिसका प्रमाण उनकी ये कहानियाँ हैं : 'ठाकुर का कुआँ, 'घासवाली', 'दूध का दाम', 'सद्‌गति', 'मन्दिर', 'बाबा का भोग' आदि। 'कफन' और 'पूस की रात' प्रेमचन्द की अत्यन्त उत्कृष्ट कहानियाँ हैं, जिनका मुख्य विषय खेतिहर मजदूर और गाँव के मजदूर की दशा का वर्णन है, जो परोक्ष रूप से दलित-समस्या का ही एक पक्ष है। प्रेमचन्द की कहानियों में वर्णित दलित-समस्या का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के पूर्व इनकी कहानियों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए यहाँ मैं दलितों और सवर्णों की अलग-अलग स्थिति का विवरण उपस्थित करना जरूरी समझता हूँ, जो प्रेमचन्द की मृत्यु के ठीक बाद का है। पहला विवरण शिमला पहाड़ की किसी देशी रियासत का है।

दलितों ने अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए 'दलितसेवक' में सम्पादक के नाम पत्र लिखा था, जिसमें कहा गया था कि–

1. जब किसी ऊँची जाति के किसी हिन्दू का कोई डंगर मर जाता है तो डंगर का मालिक खुद उसे छूने में छूत मानता है और दलितों को ले जाकर उसे गाड़ना पड़ता है।
2. कोई ब्राह्मण किसी दलित के यहाँ सत्यनारायण की कथा या कोई यज्ञ कराने नहीं आता।
3. किसी ऊँची जाति के लिए किसी दलित की लड़की या स्त्री को जबरदस्ती ले जाना कोई जुर्म नहीं समझा जाता।
4. कोई दलित हिन्दू तरीकों से कन्यादान करके अपनी लड़की की शादी नहीं कर सकता।
5. सरकारी अफसरों के दौरे के वक्त दूध, लकड़ी, घास, और हर तरह की बेगार दलितों से ली जातीं हैं, ऊँची जातिवालों से ये चीजें नहीं ली जातीं। इन चीजों की कीमत अगर कोई अफसर देता भी है तो वह नम्बरदार वगैरह ले लेते है, दलितों को नहीं मिलती।
6. ऊँची जाति वालों की तुलना में उतनी ही जमीन की माल गुजारी दलितों से दुगनी और तिगुनी ली जाती है। इस पर भी दलितों को जमीन का मौरूसी हकदार नहीं माना जाता।
7. जो दलित इस तरह के अत्याचारों पर एतराज करते हैं उन पर झूठे मुकदमे चलाये जाते हैं।
8. रियासतों के प्रजा मण्डलों में ऊँची जाति वाले लोग दलितों को प्रजा मण्डल का मेम्बर नहीं बनने देते और अगर बनने भी देते हैं तो उन्हें चुनाव वगैरह में बराबरी के हक नहीं देते।

दूसरा विवरण इन्दौर रियासत के 15 गाँवों के सवर्णों का हैं, जिन्होंने वहाँ के

अस्पृश्ययों को निम्नलिखित आज्ञाओं का पालन करने को कहा था, अन्यथा गाँव छोड़कर चले जाने की धमकी दी थी :

1. कोई पुरुष सुनहरी किनारी की पगड़ी न लगाये, रंगीन किनारी की धोती न पहने।
2. किसी भी हिन्दू के मर जाने पर उसके रिश्तेदारों को खबर दे, भले ही वह दूर क्यों न रहता हो।
3. हिन्दुओं के शादी-विवाह में बाजा बजावे।
4. अछूतों की औरतें सोने-चाँदी के गहने तथा फैन्सी लहँगा और जाकेट न पहनें।
5. हिन्दू औरतों के बच्चा पैदा होने के समय वे दाई का काम करें।
6. अछूतों को चाहिए कि वे बिना वेतन हिन्दुओं के यहाँ नौकरी करें, और जो उन्हें खुश होकर दिया जाय उसे स्वीकार कर लें।[1]

समाज में सवर्णों और शूद्रों के मानस के इन अलग-अलग धरातलों को हम प्रेमचन्द की कहानियों में देखें। 'ठाकुर का कुआँ' प्रेमचन्द की दलित-समस्या की सर्वोतम अभिव्यक्ति की कहानी है। इस कहानी का मूल स्वर यह है कि इन्सान होने की हैसियत से जीने के लिए हरिजन का प्रकृति-पदत्त वस्तुओं पर भी अधिकार नहीं है। स्वच्छ हवा और पानी जिस पर किसी भी व्यक्ति का निजी स्वामित्व नहीं होता उसे भी वह अपनी मर्जी से नहीं पा सकता है। समाज में अलग-अलग जातियों के अलग-अलग कुएँ बने हैं, किन्तु दलित को छोड़कर शेष सवर्णों के कुएँ से सभी पानी निकाल सकते हैं, चाहे वे किसी जाति के क्यों न हों। दलित मात्र दलितों के लिए बने कुएँ से ही पानी ले सकता है। 'ठाकुर का कुआँ' में जोखू बीमार है। दलितों के कुएँ में कोई जीव गिरकर मर गया है। पानी सड़ गया है। सड़ा पानी पीने से जोखू की जान जा सकती है। जोखू की पत्नी गंगी दूसरे कुएँ से पानी लाकर पिलाना चाहती है। किन्तु जोखू सवर्णों के रवैये को जानती है और गंगी को ऐसा करने से मना करता है। वह कहता है : हाथ-पाँव तुड़वा कर आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहूजी एक के चार लेंगे। गरीबों का दु:ख-दर्द कौन समझता है। हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई दुआर पर झाँकने नहीं आता, कन्धा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे?

## *सन्दर्भ*


1. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, ले. डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर।
2. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ. 141
3. उपर्युक्त, पृ. 94।
4. विविध प्रसंग खण्ड 2 पृ. 473।
5. वही पृ. 455।
6. विविध प्रसंग, खण्ड 3, पृ. 56
7. विविध प्रसंग, खण्ड 2, पृ. 471
8. उपर्यक्त पृ. 475।

# बिहार की कृषि : प्रगति, समस्याएँ एवं प्राथमिकता

**डॉ. सुरेश कुमार**

*तदर्थ व्याख्याता, अर्थशास्त्र विभाग, बी. एन. कॉलेज*
*पटना विश्वविद्यालय, पटना*

## परिचय

बिहार एक कृषि-प्रधान राज्य है। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी यहाँ अद्ध-सामांतवाद कृषि क्षेत्रों में फैला हुआ है, जिसके फलस्वरूप भूमि का अधिकांश भाग कुछ बड़े कृषकों के पास है, जो कृषकों एवं खेतिहर मजदूरों का भारी शोषण कर रहे हैं। खेतिहर मजदूर को भारी परिश्रम के बाद भी न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल पाती है। इस राज्य के कुल आय में कृषि क्षेत्र का योगदान अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से कृषि क्षेत्र के सापेक्षिक महत्व में धीरे-धीरे कमी हो रही हैं। ऐसा भारतीय अर्थव्यवस्था में भी पाया जा रहा है। बिहार में कृषि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूप में अधिकांश जनसंख्या के जीपन यापन का साधन रही हैं। यहाँ की कृषि प्रकृति पर निर्भर है जिसमें विशेष रूप से वर्षा निश्चित नहीं है। कभी अधिक व कभी न्यून हो जाती है। इसी कारण बिहार की कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता है।

***उद्धेश्य:***-प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्धेश्य यह दर्शाना है कि बिहार की कृषि व्यवस्था की समस्याएँ क्या है? तो प्रगति की क्या समस्याएँ है तो दूसरी ओर यह भी बताने का प्रयास किया गया है कि उसकी क्या प्राथमिकताएँ है। इस शोध-पत्र के माध्यम से यह भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि बिहार के विभाजन के बाद उसकी प्रगति कैसे सम्भव है। इस हेतु यथा सम्भव सुझाव भी दिए गए है।

## विश्लेषण

राज्य विभाजन के पश्चात कृषि की भूमिका राज्य की प्राकृतिक संपदा में भूमि और जल मुख्य हैं। वनों एवं खनिज अवयवों की उपस्थिति नगण्य है। परिणामत: बिहार की अर्थव्यवस्था में गैर कृषि क्षेत्रों के विकास की गति काफी धीमी हैं। उद्योग में अवसरों की कमी, शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में समन्वय का अभाव तथा कमजोर बुनियादी ढाँचे ने कृषि की महत्ता को बरकरार रखने में योगदान किया है। प्राकृतिक संपदाओं पर मनुष्य एवं जानवरों की संख्या का काफी दबाव है। इन सभी कारणों से राज्य में पिछड़ी खेती, प्रति व्यक्ति कम आय अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक गरीबी का बोलवाला है।

बिहार में कृषि छोटे कृषकों पर आधारित है, 84 प्रतिशत किसानों के पास एक

हेक्टयेर से भी कम जमीन है, अत: बिहार में कृषि-विकास की रणनीति लधु किसानों पर आधारित होनी चाहिए। कृषि के मुख्य घटक-फसल, पशुधन एवं मत्स्य का समीकृत विकास जरूरी है। सर्वप्रथम पिछले कुछ वर्षो में इन तीनों घटकों की प्रगति का संक्षिप्त अवलोकन करना अनिवार्य है। तत्पश्चात कृषि विकास की समस्याओं एवं कृषि के त्वरित विकास के लिए प्राथमिकताओं का उचित चयन भी महत्वपूर्ण है।

## कृषि की प्रगति

1. फसल क्षेत्र :- 90 के दशक में तीन प्रमुख फसलों धान, गेहूँ एवं मक्का के उत्पादन में वृद्धिदर बहुत ही अच्छी रही। धान एवं मक्का की उत्पादकता में वृद्धि मुख्य श्रोत रहा, जबकि गेहूँ में क्षेत्र-विस्तार का महत्वपूर्ण योगदान रहा। लेकिन शेष फसलों में उत्पाद वृद्धि संतोषजनक नहीं कही जा सकती है जबकि 80 के दशक में इन फसलों के अतिरिक्त ईख, मसूर, तिलहन के उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई थी।
2. फल व सब्जी:- मुख्य फलों एवं सब्जियों जैसे बैगन, टमाटर, आम, प्याज, गोभी, जीची आदि के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। बिहार के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि-दर बाकी दो क्षेत्रों में फलों एवं सब्जियों की खेती पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।
3. पशुधन एवं मत्स्य:- प्रमुख पशुधन पदार्थो में दूध-उत्पादन की वृद्धि सामान्य रही तथा अब भी हम दूसरे राज्यों से काफी पीछे है। लेकिन मत्सय उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। आज हम मत्सय उत्पादन में अन्य राज्यों से काफी अच्छे हालात में है। मगर आध्रप्रदेश केरल,पश्चिम बंगाल आदि राज्यों से हम काफी पिछड़े हुए है।

## कृषि क्षेत्र में नवीन संसाधनों का उपयोग

भारत में हरित क्रांति लाने में रासायनिक खाद, बीजों की नई किस्मों, तथा सिंचाई की महत्वपूर्ण भूमिका हैं। मशीनीकरण तथा कृषि रसायनों का उपयोग भी सहयोगी भूमिका निभा रही है। बिहार में खाद का उपयोग 1990 में महज 22 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से बढ़कर सदी के अंत में 90 कि. ग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गया है। साथ ही साथ विभिन्न क्षेत्रों में तथा जिलों में इनके उपयोग के स्तर में काफी असमानता है। बिहार में 1990 में कुल फसल क्षेत्र का 50 प्रतिशत भाग सिंचित था। यह प्रतिशत 2004-05 तक बढ़कर 58 प्रतिशत हो गया हैं। यहाँ यह बताना आवश्यक होगा कि कुल सिचित भूमि लगभग स्थिर है तथा सिंचाई के उपयोग की सधनता भी स्थिर है।

अधिक उपजाऊ किस्मों का प्रयोग बढ़ा है, धान, गेहूँ एवं मक्का में अधिक उपजाऊ बीजों का उपयोग लगभग 70 प्रतिशत भूमि पर हो रहा है। ट्रेक्टर तथा पंपसेट की उपलब्धता भी पिछले दो दशकों में दुगुनी हुई है। प्रति हजार शस्य भूमि में ट्रेक्टर की उपलब्धता भी 20 थी अब यह संख्या 50 के आसपास हैं। कीटनाशकों एवं खरपतवार नाशकों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

### *समस्याएँ*

राज्य में कृषि का विकास कुछ मूलभूत समस्याओं जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण संस्था एवं बुनियादी ढाँचे की जर्जर स्थिति से भी प्रभावित हुआ है। इन क्षेत्रों तथा ग्रामीण क्षेत्रों की प्राथमिकता कृषि के विकास को प्रभावित करने में मुख्य भूमिका निभाएगी। सीधे तौर पर कृषि के विकास में आ रही समस्याओं का विवरण निम्नलिखित प्रकरणों में दिया गया है।

**भूमि संसाधनः-** राज्य की 41 प्रतिशत से अधिक भूमि बाढ़ संभावित क्षेत्र है। जलग्रहण भी काफी अधिक क्षेत्रों को प्रभावित करता है। दियारा, चौर तथा टाल क्षेत्र में इन कारणों से खरीफ मौसम में परती रहते है। इन क्षेत्रों के समन्बित विकास के लिए एक उपयुक्त रणनीति बनानी चाहिए। इसी प्रकार करीब 40 प्रतिशत क्षेत्रों में सूखे की आशंका बनी रहती है। इस तरह की अनिश्चिता उत्पादन-क्षमता तथा उत्पादकता को ऋणात्मक ढंग से प्रभावित करती है। इन मूलभूत समस्याओं के निदान के लिए काफी पूँजी-व्यय की आवश्यकता होगी इसके अतिरिक्त कुछ और समस्याएँ है।

**जल संसाधनः-** बाढ़-सूखा तथा पानी एवं पानी के निकास का अकुशल एवं अपर्याप्त प्रबंधन पानी की बहुतायत के बावजूद एक समस्या के रूप में कृषि को प्रभावित कर रहा है। इसे ठीक करने के लिए सुचारू एवं समयबद्ध योजना की जरूरत है। सतही सिंचाई व्यवस्था की स्थिति काफी दयनीय है। भूमिगत जल संसाधनों के शोषण ने राज्य में सिंचाई के विकास में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य में भूमिगत जल संसाधन के विकास की काफी संभावनाएँ है। अतः भूमिगत जल संसाधनों के वैज्ञानिक आधार पर विकास को वरीयता दी जानी चाहिए।

**बीज व खाद का उपयोगः-** नई किस्मों का उपयोग काफी हो रहा है, लेकिन इनकी विस्थापन दर बहुत ही कम है। राज्य बीज निगम तथा दूसरी सार्वजनिक इकाईयां बीजों की मांग को पूरा करने में असमर्थ रही है। कृषि विस्तार पद्धति भी इन समस्याओं को दूर करने में असफल रही है। लेकिन कृषि विकास के लिए इस क्षेत्र का पूनर्जीवन आवश्यक है। राज्य में प्रति हेक्टेयर खाद का उपयोग बढ़ा है। लेकिन 90 के दशक में खाद का उपयोग काफी असंतुलित हुआ है, जो कि कृषि की सत्ता के लिए एक चुनौती है। बिहार में कृषि अन्य कृषि उन्नत राज्यों की तुलना में अस्थिर है।

**संस्थान तथा प्रशासनिक व्यवस्थाः-** कृषि एवं ग्रामीण विकास से संबंधित सभी संस्थान, चाहे सरकारी हों या स्वायन्त, व्यावहारिक रूप से ठप हो गए है। इन संस्थानों को सुचारू रूप से चलानेवाले नियम-कानून अपनी महत्ता खो चुके हैं। विशेषतया सिंचाई, सहकारिता कृषि विपणन, मत्स्य, मृदा-क्षरण, पशुधन, भूमि-राजस्व आदि विभागों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हैं। कानून व्यवस्था के अतिरिक्त सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वयता एवं समग्रता के अभाव तथा मंत्रालय कृषि एवं ग्रामीण विकास के कार्यो में संलग्न है। अपने अस्तित्व को बरकार रखने के लिए सभी को संसाधनों की आवश्यकता होती है।

## प्राथमिकताएँ : निवेश व नीतियाँ

बिहार के समग्र विकास के मूलभूत सामाजिक तथा भौतिक (सड़क,उर्जा,संचार) बुनियादी ढ़ाँचा का विकास सर्वोपरि है। दसवी योजना में शेष निवेश इन बुनियादी ढाँचे के मजबूत करने के पश्चात ही किया जाना है। हलाँकि यह सर्वथा तर्क संगत है, लेकिन लीक से हटकर है। इस तरह के कार्यान्वयन में कठिनाई आ सकती है अत: निम्नलिखित प्रकारणों में हम कुछ कृषि से संबंधित निवेश की प्राथमिकताओं को निर्दिष्ट कर सकते है:

- कृषि से संबंधित निवेश में बाजार के विकास को उच्च प्राथमिकता दिया जाना चाहिए। विशेषतया उच्च मूल्य वाले फलों सब्जियों, जलीय पदार्थो जूट आदि के विपणन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।
- कृषि अनुसंधान एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ संसाधनों की निंतात कमी है। कृषि अनुसंधान में निवेश कम-से-कम वर्त्तमान स्तर से दुगुनी करने की आवश्यकता है। संसाधनों की उपलब्धता के साथ-साथ कार्य-संस्कृति को बढ़ावा दने की भी समान आवश्यकता है।
- जैसा कि विदित है, राज्य में कृषि विस्तार सेवा की हालत चिंताजनक है। राज्य में कृषि के विस्तार को नई प्रेरणा नए कार्यक्रम नए चेहरे तथा नई व्यवस्था की जरूरत है।
- सिंचाई की प्राथमिकता सदैव उच्च रहेगी बड़े तथा मध्य सिंचाई के क्षेत्रों में पहले से उपलब्ध क्षमता का पुनर्जीवन तथा क्षमता के अनुसार समुचित उपयोग पर निवेश करना चाहिए। लधु सिंचाई के क्षेत्र में नई क्षमताओं का विकास तथा उसकी देखभाल पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।
- राज्य में कृषि की विविधता को प्रोत्साहित करने पर विशेष बदल दिया जाना चाहिए। कृषि के बहुमूल्य अवयवों-पशुधन, मत्स्य, फल व सबजी के उत्पादन एवं विपणन पर निवेश को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।
- विभिन्न फसलों एवं पदार्थो के विकास के लिए अनुकूल क्षेत्रों की पहचान कर इन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पशु के स्वास्थ्य पर भी निवेश की नितांत आवश्यकता है।
- राज्यों कृषि की सांख्यिकीय पद्धति व व्यवस्था बिलकुल ठप पड़ गई है। जिसके कारण उचित एवं तर्कसंगत निर्णय लेने मे असीम कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अत: इनका पुनर्विकास एवं पुनर्जीवन आवश्यक है।

## नीतियाँ :

भूमि एवं जल से संबंधित नीतियों व्यवहारीकरण आवश्यक है। भूमि की बटाई, भूमि तथा जल संसाधनों के दोहन तथा प्रयोग के लिए नियम पक्रिया, सामूहिक संसाधनों का प्रबंधन इत्यादि के लिए उचित मार्ग-दर्शिका जरूरी है।

- ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-ऋण की व्यवस्था भी लगभग क्रियाहीन ही है व्यवस्था के दोष सर्वज्ञात है, निराकरण को अमल में लाने की आवश्यकता है।
- कृषि-विपणन से संबंधित कानून भी पुराने एवं अप्रासंयिक हो गए है। बहुत सारे क्षेत्रों के लिए कोई नियम-प्रावधान अस्तित्व में है ही नहीं। वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य तथा क्षेत्रों में बदलाव को ध्यान में रखते हुए समुचित विपणन-प्रावधान बनाने की आवश्यकता है।
- गैर कृषि क्षेत्रों, कृषि परिसंस्करण तथा मूल्य संवर्द्धन की कोई समग्र नीति नहीं है, भविष्य में इन क्षेत्रों का विशेष महत्व है।
- कृषि तथा ग्रामीण विकास की योजनाएँ क्षेत्रीय आधार पर तैयार करने की आवश्यकता दिन प्रतिदिन बढ़ रही हैं। हमें अपनी पुरानी पद्धति सब कुछ सबके लिए की नीति का परित्याग करना होगा।

### *निष्कर्ष*

उपर्युक्त समस्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते है कि बिहार में कृषि उन्नति की अशीम सम्भावनाएँ है। हमें हरित क्रांति का क्षेत्र रहे इस बिहार के क्षेत्रों में क्रांति की स्वार्णिक स्थिति को बरकरार रखने की कोशिश करनी चाहिए। यहाँ मिट्टी को लवणीकरण, भूजल स्तर में गिरावठ, खर-पतवारों की अधिकता, कीटनाशकों का अतयधिक उपयोग जैसे समस्या व्यापक पैमाने पर है। हमें यहाँ पर्यावरणीय दशाओं के अनुकूल खेती को संरक्षण देना होगा। अनाज के नये किस्मों को आर्गेनिक खेती से जोड़ना होगा। हमारा प्रयास यह भी होना चाहिए कि हम खेती की तकनीको का प्रसार बिहार के हर क्षेत्रों में समानरूप से करें। बिहार के दर्जनों विभाग एवं मंत्रालय व्यर्थ में कृषि के विकास में संलग्न है इनके एकीकरण की आवश्यकता है ताकि सीमित साधनों का समुचित प्रयोग हो सके।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1) राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा एवं विरसा कृषि विश्वविधालय राँची द्वारा प्रकाशित सर्वेक्षण रिपोर्ट।
2) चेंजिंग एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन इंडिया-जी.एस. भल्ला
3) भारतीय अर्थव्यवस्था- रूद्रदन्त एवं के. पी. एम. सुन्दरम एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली।
4) बिहार की अर्थव्यवस्था-डॉ. पी.सी.वर्मा तिरूपति उर्मिला पल्लवी प्रकाशन पटना
5) बिहार का वृहत्त भूगोल-डॉ. ए. के. गौतम।
6) सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, बिहार सरकार की प्रमुख पत्रिकाएँ।
7) प्रतियोगिता दर्पण जून-2006 एवं जून-2008
8) योजना जनवरी-2007 तथा फरवरी-2008
9) कुरूक्षेत्र एवं भारत -2007
10) विभिन्न समाचार पत्र, जैसे-दैनिक हिन्दुस्तान, प्रभात खबर, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक जागरण आदि।

# समावेशी परिवेश में ग्रामीण विकास-नियोजन एवं क्रियान्वयन

डॉ. अंजू सिंह

*रीडर अर्थशास्त्र, फ.अ.अ. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महमूदाबाद (सीतापुर)*

समावेशी विकास एक ऐसी व्यूह रचना है जो शहरी एवं ग्रामीण निर्धन वर्ग के आर्थिक एवं सामुदायिक जीवन को उन्नत करने के लिए बनाई गई है। जिससे इंडिया (शहरी) एवं भारत (गाँव) के बीच खाई को पाटा जा सके व तीव्रतर विकास के साथ-साथ सभी वर्गों व सभी क्षेत्रों को बराबर की हिस्सेदारी दिलायी जा सके। समावेशी विकास के अन्तर्गत ग्रामीण विकास भारत के विकास व नियोजन का प्रमुख लक्ष्य एवं चुनौती है।

ग्रामीण विकास में नियोजन की अवधारणा वर्तमान शताब्दी के सातवें दशक की देन है। सर्वप्रथम 1920 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गाँवों के पुन: निर्माण के लिए "शान्ति निकेतनष के माध्यम से योजनाबद्ध कार्यक्रम आरम्भ किया इसके साथ ही (1920-1928) ई. में महात्मा गांधी ने ग्राम पुन: निर्माण के लिए "सेवाग्रामश के माध्यम से एक संरचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् 1927 में एल.एल. ब्रायने ने गुड़गाँव जिले के विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए एक विकास कार्यक्रम प्रस्तुत किया जो सहकारिता, शिक्षा, कृषि व सामाजिक सुधार इत्यादि से सम्बन्धित थी। इसका अनुसरण करते हुए स्पेन्ष्सर हेचने 1928 में मारथण्डम के 40 गांवों के लिए स्वावलम्बन, शिक्षा एवं कृषि विकास की एक योजना बनायी। मद्रास में 1946-47 में "फिरका" योजना प्रारम्भ हुयी, जो ग्रामीण उद्योग, खादी, संचार एवं कृषि के विकास से सम्बन्धित थी। इसी प्रकार 1948 में अल्वर्ट द्वारा उ.प्र. में स्वावलम्बन एवं जनसहयोग पर आधारित विकास परियोजना इटावा में प्रारम्भ की गयी। एस.के.डे. ने 1949 में शहरी एवं ग्रामीण विकास की गांधीवादी विचारधारा को स्वीकार किया। ग्रामीण क्षेत्रों के समन्वित विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। ग्रामीण विकास की गांधीवाद विचारधारा को स्वीकार करते हुए 02 अक्टूबर 1962 मे "सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाया गया किन्तु दुर्भाग्यवश इसके अन्तर्गत कृषि का आध ुनिकीकरण एवं अन्य विकास कार्यक्रमों से गांवों के मजदूरों, सीमांत तथा लघु कृषकों, दस्तकारों एवं अन्य निर्धन परिवारों को अपेक्षित लाभ नहीं मिल पाया इस योजना की अस्पष्ट नीति, विभिन्न ग्रामीण समुदायों के निहित स्वार्थ, विभिन्न वर्गों में प्रतिस्पर्धा एवं विरोध तथा स्थानीय लोगों में आपसी सहयोग का अभाव इत्यादि इसके मुख्य कारण थे। चन्द्रशेखर एवं रभन्ना ने 1978 में ग्रामीण विकास के क्षेत्रीय नियोजन की रूपरेखा तैयार की जिसमें मिट्टी, वर्षा, सिंचाई की सुविधा एवं जीवन

निर्वाहक कृषि हेतु समुचित प्राविधिकी सम्बन्धी शोध को वरीयता प्रदान की गयी थी। सिंह ने 1979 में गोरखपुर क्षेत्र के अध्ययन के माध्यम से पिछड़ी अर्थव्यवस्था में सेवा केन्द्रों से सम्बद्ध ग्रामीण नियोजन की रूपरेखा प्रस्तुत की।

चतुर्थ योजना (1969-74) के दौरान लघु कृषकों के विकास हेतु एक विशिष्ट कार्यक्रम आरम्भ किया गया जिसे "लघु कृषक विकास अभिकरणष (SFDA) का नाम प्रदान किया गया जिसका उद्देश्य लघु कृषकों की समस्याओं की जाँच पड़ताल करने हेतु योग्य अथवा उपयुक्त कृषकों का पता लगाना एवं विभिन्न कृषि सेवा की पूर्ति करना था। 1973 में "सूरवा ग्रस्त कार्यक्रम व कमाण्ड क्षेत्र विकासश कार्यक्रम जिसमें भूमि की चकबन्दी, भूमि को समतल करना, सिंचाई की नालियां व ट्यूबवेल का निर्माण करना था।

पांचवीं योजना (1974-79) के दौरान 1975 में गरीबी निवारण एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए "बीस सूत्रीय कार्यक्रमश शुरू किया गया। आदिवासी क्षेत्रों के लिए आदिवासी क्षेत्र कार्यक्रम जिसके अन्तर्गत विशिष्टि आदिवासी विकास निकाय आदिवासी लोगों के आर्थिक विकास, संचार, कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं आदि से सम्बन्धित समस्याओं का विस्तार सेअध्ययन करने के लिए बनायी गयी तथा निर्धारित समय सीमा के अधीन ग्रामीण जनसंख्या को पेयजल, शिक्षा, विद्युतीकरण, सड़क, आवास आदि सुविधाएँ उपलब्ध करवाने की दृष्टि से "न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम" प्रारम्भ किया गया।

लेकिन उद्देश्य, प्रयास, पूंजी निवेश के अनुरूप इन कार्यक्रमों को वांछित सफलता नहीं मिल सकी। वस्तुत: नियोजकों एवं सरकारी अधिकारियों को कार्यक्रमों में निध ारित सफलता प्राप्ति में बाधक कारकों का आभास हो गया था। यह स्वीकार किया गया कि विभिन्न विकास कार्यक्रम में एक दूसरे से बहुत अंशों तक सम्बद्ध है। अत: इन कार्यक्रमों में प्रशासनिक, कार्यिक एवं भूवैन्यासिक स्तर पर समन्वय की नितांत आवश्यकता है, साथ ही साथ ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती हयी गरीबी एवं बेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु एक विस्तृत एवं व्यापक योजना बनाना जिसका उद्देश्य एवं क्रियान्वयन उपागम स्पष्ट हो। उपरोक्त संदर्भ में छठवीं योजना (1980-85) में समस्त विकास कार्यक्रमों को समन्वित कर एक व्यापक विकास कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी जिसे अप्रैल 1980 में देश के सम्पूर्ण विकासखण्डों में प्रारम्भ किया गया। जिसे "समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमश के नाम से जाना जाता है। इसका केन्द्र बिन्दु ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के आधारभूत ढाँचे का सुदृढ़ीकरण, निध ंनता तथा क्षेत्रीय विषमता का उन्मूलन था। 1982-83 में ग्रामीण गरीब परिवारों की महिलाओं को स्वरोजगार तथा बच्चों को पोषोहार प्रदान करने के लिए "डवाकारा" तथा 15 अगस्त 1983 को "ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रमशुरू किया गया जिसमें एक वर्ष में कम से कम 100 दिन की मजदूरी की व्यवस्था की गयी।

परन्तु लाभार्थियों का दोषपूर्ण अभिनिधारण, कमजोर ढांचा, पर्याप्त वित प्रबन्ध न

होना, बैंकों द्वारा दी गयी साख को समय से वापस लेने की ठोस व्यवस्था का अभाव और ऐसी परिसंपत्तियों के निर्माण पर जोर नहीं देना जिससे लगातार आय का सृजन हो सके, के कारण उपयुक्त कार्यक्रम को आशातीत सफलता नहीं मिल सकी, इन दोषों के होते हुए भी यह कार्यक्रम गरीबी उन्मूलन की दृष्टि से बहुत लाभदायक रहा।

सातवीं योजना (1985-90) में यह महसूस किया गया कि ग्रामीण विकास के लक्ष्य की प्राप्ति गरीबी उन्मूलन के बिना नहीं की जा सकती। इसके लिये आधार स्तर पर पंचायत, पंचायत समिति, जिला पंचायत आदि के माध्यम से जन प्रतिनिधित्व को आश्वस्त किया गया। एक समन्वित प्रशासनिक संगठन के फ्रेमवर्क के साथ स्थानीय प्रशासनिक तंत्र को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी। परन्तु जिसके लिए कार्यक्रम बनाये गये उसी वर्ग द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों के प्रति तटस्थता व्यक्त करने से इस योजना में जो कार्यक्रम जैसे- "इन्दिरा आवास, जवाहर रोजगार एवं कुटीर ज्योति" को अधिक सफलता नहीं मिल सकी। ग्रामीण विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए प्रभावी प्रशासनिक तंत्र तथा सामाजिक, आर्थिक संस्थाओं के सृजन की आवश्यकता है जिससे ग्रामीण विकास कार्यक्रम में ग्रामीण लोगों की विस्तृत भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। ग्रामीण विकास के आर्थिक पहलू के अन्तर्गत कृषि उत्पादकता, भूमि सुधार, लघु सिंचाई, पशुपालन, मत्स्यपालन, एवं लघु वनोपज आदि विषयों को समाहित किया जाना चाहिये एवं सामाजिक पहलू के अन्तर्गत ग्रामीण आवास, पेयजल, ग्रामीण विद्युतीकरण, शिक्षा, तकनीकी एवं व्यवसायिक शिक्षा, और अनौपचारिक शिक्षा, परिवार कल्याण, महिला एवं बाल विकास, परिवहन एवं संचार आदि विषयों को शामिल कर किसी भी ग्रामीण क्षेत्र की विकास योजना का संतुलित एवं समुचित विकास किया जा सकता है।

इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-911 में "राजीव गांधी राष्ट्रीय पेयजल मिशनष, राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना षराष्ट्रीय परिवारलाभ योजनाश्श एवं राष्ट्रीय प्रसव लाभष योजना की शुरुआत की गयी तथा नौवीं योजना (1997-2002) में "स्वर्ण जयन्ती स्वरोजगार योजना, ष्प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना" कार्यक्रम की शुरुआत की गयी। इस योजना के अन्तर्गत उन कमजोरियों को दूर किया गया जो ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में बाध क सिद्ध हुई थीं। अभी हाल में हुई थीं सर्वेक्षण यह दर्शाते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता में हुई कमी ग्रामीण क्षेत्रों में सड़क जुड़ाव से अधिक प्रभावी हुई है।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) में ग्रामीण आधारभूत ढांचे के विकास को प्राथमिकता स्तर पर सशक्त बनाया गया क्योंकि इसके समुचित विकास से ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था और जीवन स्तर में सुधार आता है। इससे बेहतर उत्पादकता को बढ़ावा मिलता है, कृषि में वृद्धि होती है और पर्याप्त रोजगार के अवसर सुलभ होते हैं। इसी क्रम में ग्रामीण क्षेत्रों के विकास को त्वरित गति प्रदान करने के लिए 2005 में "भारत निर्माण कार्यक्रमश्श प्रारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत ग्रामीण सिंचाई

सड़क, आवास, जलापूर्ति एवं दूरसंचार सुविधाएं बढ़ाकर ग्रामीण क्षेत्रों का चहुंमुखी विकास करना था। इसकी सफलता को देखते हुए 2008-09 के बजट की तुलना में 2009-10 के बजट अनुमान में 59 प्रतिशत वृद्धि की है व इसे बड़ा कर 12000. 00 करोड़ रुपये किया गया है। इंदिरा आवास योजना के अन्तर्गत आवंटन 63 प्रतिशत बढ़ाकर 2009-10 में 8,800 करोड़ रु. किया गया है। देश के सभी ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण सुनिश्चित करने के लिए 2005 में गठित "राजीव गांधी ग्राम विद्युतीकरण योजना'' के अन्तर्गत 15 जुलाई 2009 तक 63040 गांवों में बिजली पहुंचायी जा चुकी है और 63.6 लाख बी.पी.एल. परिवारों को बिजली के मुक्त कनेक्शन दिए गए हैं। इसी सत्र में गठित "राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशनश के लिए 2009-10 के बजट में 2057 करोड़ की बढोत्तरी की जबकि अंतरिम बजट में इसके लिए 12,070 करोड़ रु. आवंटित किए गए थे।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक परिवार को न्यूनतम मजदूरी पर एक वर्ष में कम से कम 100 दिन का रोजगार उपलब्ध करवाने की दृष्टि से फरवरी 2006 में "राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम" (जिसमें अब महात्मा गांधी के नाम को शामिल कर दिया गया है) की शुरुआत की गयी। जिसके तहत 2009-10 के बजट में 39,100 करोड़ इस कार्यक्रम को दिया गया जो 2008-09 की बजट के तुलना में 144 प्रतिशत अधिक है। 26 अगस्त 2009 को नई दिल्ली में ग्रामीण विकास मंत्रालय में "नरेगा" पर एक अखिल पार्टी बैठक का आयोजन किया था जिसमें यह तथ्य सामने आया कि नरेगा ने ग्रामीण क्षेत्रों पर व्यापक प्रभाव डाला है, फिर भी विभिन्न स्तरों पर इसके क्रियान्वयन में सुधार करने की काफी गुंजाइश है। पंचायतों के जरिये नरेगा का कार्यान्वयन पारदर्शी, जवाबदेह तथा जिम्मेदारी पूर्ण होना चाहिए जिससे इसका लाभ ग्रामीण क्षेत्रों में जरूरतमंद और गरीब तक पहुंच सके। इसके अलावा सरकार ने राज्यों के 250 जिलों में सूखे से उत्पन्न संकट से निपटने के लिए पर्याप्त निधियां दी है।

इस प्रकार सरकार को यह एहसास हो गया है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था ने न केवल भारत को वैश्विक मंदी से उबारा है बल्कि अर्थव्यवस्था को मजबूती भी प्रदान की है। अत: सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों के बजट में बड़े पैमाने पर बढ़ोत्तरी करके बुनियादी ढांचे को मजबूती प्रदान की है। ग्रामीण विकास के अन्तर्गत विभिन्न योजनाओं में होने वाले परिव्यय को तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

| *योजना का नाम* | *अनुमोदित परिव्यय ( करोड रू0 में )* | | |
|---|---|---|---|
| | *2006-07* | *2007-08* | *2008-09* |
| सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना | 3000.00 | 2800.00 | -------- |
| राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना | 11300.00 | 12000.00 | 16000.00 |
| स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना | 1200.00 | 1800.00 | 2150.00 |
| डी.आर.डी.ए. प्रशासन | 220.00 | 212.00 | 250.00 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ग्रामीण आवास | 2920.00 | 4040.00 | 5400.00 |
| प्रधानमंत्री ग्राम सडक योजना | 5225.62 | 6500.00 | 7530.00 |
| राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान के लिए अनुदान | 12.00 | 10.00 | 15.00 |
| कपार्ट को सहायता | 70.00 | 60.00 | 50.00 |
| पुरा | 10.00 | 10.00 | 30.00 |
| ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के लिए प्रबन्ध और जिला आयोजन प्रक्रिया का सशक्तिकरण | 68.00 | 68.00 | 75.00 |
| **कुल योजनागत** | **24025.62** | **27500.00** | **31500.00** |

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) के तहत तीव्र और अधिक समावेशी विकास के दोहरे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विकास कार्यक्रमों पर आवंटित ध नराशि का पूर्ण सदुपयोग करना सीखना होगा। उनकी समय-समय पर मॉनीटरिंग करते हुए किसी भी वित्तीय अव्यवस्था के प्रकाश में आने पर उसके लिए जिम्मेदार लोगों की नकेल कसनी होगी। दूसरा, जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, वह यह कि मॉनीटरिंग की चाक चौबंद व्यवस्था के बावजूद हमें स्वयं के अंदर एक ऐसी स्वत: स्फूर्त नैतिक भावना को प्रश्रय देना होगा जिसमें किसी भी विकास कार्यक्रम को हमें अपने परिवार सदृश कल्याणकारी योजना मानते हुए उसे अमलीजामा पहनाने में कोई कसर नहीं छोड़नी होगी। इसके अलावा केन्द्र तथा राज्यों को भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में समन्वित प्रयासों पर जोर देना होगा। ग्रामीण विकास मंत्रालय को अपनी जिम्मेदारी में कोई कसर नहीं छोड़नी होगी।

त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था को ग्रामीण विकास की योजना भी कहा जा सकता है क्योंकि ग्रामीणों में जागृति, शिक्षा व बुनियादी सुविधा मुहैया कराने में इसकी भूमिका अहम है। ग्रामीण क्षेत्र में मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य शासन से लेकर केन्द्र सरकार तक ध्यान खींचने का काम पंचायत ही कर रही है, पर पंचायत में बढ़ रहे भ्रष्टाचार ने गांव विकास का सपना उचकनाचूर कर दिया है। अत: ग्राम पंचायतों में चुने जाने वाले प्रधानों के लिए योग्यता सम्बन्धी मानदण्ड तय करना, राजनीतिक दलबंदी को जड़ से खत्म करना एवं शासन के लोगों का सूचना तंत्र मजबूत करके ही ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त भय, अशिक्षा, अज्ञानता, गरीबी, भ्रष्टाचार आदि का उन्मूलन किया जा सकता है।

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने दैनिक जागरण के पत्रकार वार्ता में कहा कि ष्ग्रामीण क्षेत्रों में निवेश ही आर्थिक विकास असली इंजिन साबित होगा और यही इंजिन अर्थव्यवस्था को 9 से 10 फीसदी विकास दर के ऊँचे पथ पर ले जाएगी। ग्रामीण बुनियादी ढाँचा क्षेत्र पर अधिक निवेश के अलावा स्वास्थ्य व शिक्षा पर ज्यादा धन देना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। समावेशी विकास के लिए शहरी अर्थव्यवस्था में

उद्यमिता विकास के अनुकूल माहौल बनाने की जरूरत है वहीं ग्रामीण विकास के लिए सरकार को ज्यादा से ज्यादा हिस्सेदारी चाहिए।

जे.पी. मार्गन सी.ई.ओ. कल्पना जे. मोरपारिया ने इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ लखनऊ आयोजित एक सेमीनार में कहा कि- "भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय क्षेत्र का विकास समुचित नहीं हो पाया है, और यह फिलहाल किसी भी तरह संभव नहीं है कि देश के सभी छह लाख गाँवों में बैंकों की शाखाएं खोली जा सकें। हालांकि इसके लिए देश तकनीकी का इस्तेमाल कर सकता है ताकि ग्रामीण क्षेत्रों को वित्तीय गतिविधियों से जोड़ा जा सके। उदाहरण के लिए आवाज की पहचान कर सकने में सक्षम बायोमैट्रिक तकनीक से लैस उपकरण की मदद से नकदी का लेन देन किया जा सकता है।

केन्द्रीय सूचना प्रौद्योगिकी व संचार राज्य मंत्री सचिन पायलेट ने लखनऊ के गोमती नगर स्थित टाटा कंसलटेंसी सर्विसेज में आयोजित एक कार्यक्रम में कहा कि- "आने वाले तीन सालों में ग्राम पंचायतों में ब्राडबैंड कनेक्शन होंगे और कम से कम 40 प्रतिश ग्रामीणों को फोन की सुविधा मिल सकेगी जो फिलहाल 16 प्रतिशत के आसपास है। उन्होंने बताया कि मोबाइल की मांग गांव व शहर में बराबर है। अब तक पूरे देश में 43.5 करोड़ मोबाइल कनेक्शन लगाए जा चुके हैं जिसमें से आधे ग्रामीण क्षेत्र में लगे हैं। आई.टी. क्रान्ति तभी कामयाब होगी जब इससे ग्रामीण जनता का जीवन स्तर सुधर जाय और तहसील से कलेक्ट्रेट तक ग्रामीणों की दिक्कतें आई.टी. के प्रयोग से दूर हो जाए।

विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) भी ग्रामीण भारत की बेरोजगारी दूर करने में अहम भमिका अदा कर सकती है। इसके लिए सेज की स्थापना देश के उन हिस्सों में की जानी चाहिए जहां कृषि के अलावा अन्य कमाई के साधन बिल्कल माही है। पासवाटर हाउस कूपर्स और एसोचेम द्वारा कराये गए एक अध्ययन के मुताबिक 2010 तक सेज से 15 लाख लोगों को रोजगार उपलब्ध हो सकेगा। इस अध्ययन के अनुसार सेज रोजगार और आर्थिक गतिविधियों को बढ़ाने के अतिरिक्त सामाजिक विकास और उन्नति का हथियार भी बन सकता है।

प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कहा है कि "अब तक समाज के एक बहुत बड़े वर्ग की अनदेखी होती आई है जिसकी वजह से वह विकास की मुख्यधारा से वंचित रह गया है। इस वंचित वर्ग के समेंकित विकास के लिए प्रधानमंत्री ने। सिम्बर 2009 को देश के अनुसूचित जाति बहुल 1000 गाँवों में "प्रधानमंत्री आदर्श ग्राम योजना" शुरु की है। इस योजना का उद्देश्य विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं का इन गांवों में क्रियान्वयन करना है। इसके लिए बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रत्येक गांव को शुरु में 10 लाख रु. की अतिरिक्त राशि दी जाएगी।

इसके अलावा सप्रंग सरकार ने समावेशी विकास के क्रम में यह भी कहा है कि-

ष्हमें ग्रामीण क्षेत्रों में अपने कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए खासतौर पर अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को मजबूत बनाना होगा। जो लोग गांवों और कस्बो में रहते हैं उन्हें भी उसी तरह की सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए जो शहरी इलाकों में रहने वाले लोगों को मिलती है। अभी हाल ही में "यूनिक आईडेंटिफिकेशन अथारिटी ऑफ इण्डिया" की स्थापना के पूरे देश को अच्छी शासन व्यवस्था से जोड़ने व समावेशी विकास की दिशा में ऐतिहासिक कदम है।"

ग्रामीण इलाकों के विकास के लिए सरकार ने हाल ही में एक और महतवपूर्ण पहल की है। केन्द्र ने ग्रामीण इलाकों में बैंकिंग गतिविधियों को बढ़ावा देने और स्वरोजगार के अवसर विकसित करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को निर्देश दिया है कि वे ग्रामीण इलाकों में कम से कम 500 ग्रामीण विकास एवं स्वरोजगार प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करें। यह संस्थान अभी चल रहे 100 संस्थाओं के अलावा होंगे और देश के सभी जिलों को कवर करेंगे।

इस प्रकार सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों के बजट में बड़े पैमाने की बढ़ोत्तरी करके ग्रामीण अर्थव्यवस्था को तेजी से आगे बढ़ाकर उन्हें विकास की मुख्यधारा में शामिल कर बहुत सराहनीय कार्य किया है। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भी यह समझ में आ गया कि भारतीय ग्रामीण बाजारों की ओर संजीदगी से देखने का यही सही वक्त है। गांवों के विकास के लिए उपलब्ध योजनाओं के बेहतर समन्वय और क्रियान्वयन पर और ध्यान देकर विकास का लाभ समाज के सभी वर्गों व क्षेत्रों को देकर समावेशी विकास को हम मूर्त रूप प्रदान कर सकते हैं। वास्तव में ग्रामीण विकास की महत्वाकांक्षी योजना की सफलता पर भारत के गांवों का भविष्य निर्भर करता है एवं भारत में समावेशी विकास की जितनी भी चुनौतियां हैं, उससे निजात पाने में हम महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रों की सबसे बड़ी चुनौती समावेशी विकास के एजेन्डे को सुदृढ़ और व्यापक बनाना एवं साथ ही कृषि आधारित अर्थव्यवस्था को उद्योग आधारित अर्थव्यवस्था की ओर स्थानान्तरण है। एक तरफ बड़े पैमाने पर कृषि से हो रहे पलायन को राकना जरूरी है तो दूसरी और ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग के लिए भी काम करना है। सरकार के स्तर पर इस दिशा में पुरजोर प्रयास किए जा रहे हैं। एक तरफ सरकार ने ग्रामीण बजट में लगातार बढ़ोत्तरी करके बुनियादी ढाँचे को मजबूती प्रदान की है तो दूसरी तरफ संचार क्रान्ति ने ग्रामीण जनों को जागरूक करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

आज देश के ग्रामीण इलाकों में बसे गरीब लोग भी शत-प्रतिशत साक्षरता अर्जित करने, स्वास्थ्य और आवास सम्पन्नता एवं बेहतर गुणवत्ता वाली जिन्दगी जीने को बेचौन हैं। वे विकास की मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं और सरकार भी इस दिशा में कदम बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प है।

उम्मीद है कि समावेशी विकास के लिए उपयुक्त कार्यक्रम ग्रामीणों के जीवन में वास्तविक अर्थों में परिवर्तन लगाएंगे और ग्रामीण जीवन खुशहाल और समुन्नत होगा।

चूंकि गांव के संवरने पर ही भारत का समावेशी विकास सम्भव है। अगर यह कहा जाए कि आने वाले समय में विश्व मानचित्र पर भारतीय अर्थव्यवस्था के मजबूती से उभरने में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का ही हाथ होगा तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

## संदर्भः ग्रंथ


1. सिंह, शिवशंकर "भारत में समन्वित ग्रामीण विकास एवं नियोजन," राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली (IX-XIII)
2. माथुर, बी.एल. "पंचवर्षीय योजना का मूल्यांकन," भारतीय अर्थव्यवस्था, अर्जुन पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, (2009) पृ.188 ।
3. शर्मा, विवेक "ग्रामीण विकास कृषि प्रबन्ध," अर्जुन पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली (2009) पृ. 292-298।
4. सिंह सुदामा एवं सिंह, राजीव कृष्ण- भारत में ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रम "भारतीय अर्थव्यवस्था-" राधा पब्लिकेशन, इन दिल्ली (200) पृ. 242-355।
5. यादव, सुबह सिंह एवं मोहन लाल यादव- "कृषि ऋण" कृषि अर्थव्यवस्था का उदारीकरणः संभावनाएं एवं चुनौतियां- सवलाइम पब्लिकेशन, जयपुर (2007) पृ. 311-313।
6. गुप्ता के आर.- "रूरल डेव्लपमेण्टः एन ओव्हरव्यूह" रूरल डेव्लपमेण्ट इन इंडिया, अटलांटिक पब्लिशर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली (2004) पृ. 9।
7. मोदी, के.एस. "ग्रामीण विकास ने नाबार्ड की भूमिका" करूक्षेत्र 54 (9) जुलाई 2008, पृ. 33।
8. सिंह, जय "विशेष आर्थिक क्षेत्र ग्रामीण विकास में सहायक" कुरूक्षेत्र 55 (3) जनवरी 2007 पृ. 19।
9. बिजनेस स्टैंडर्ड, 26 अक्टूबर, 2009, वर्ष 2 अंक 206, पृ. 6।
10. कुरूक्षेत्र, अक्टूबर 2009 वर्ष 55 अंक , पृ. 33 एवं 40।
11. दैनिक जागरण- "अर्थजगत" वर्ष 31 अंक 12, 31 अक्टूबर 2009 पृ. 17
12. प्रतियोगिता दर्पण, अतिरिक्तांक 2008- "भारत में विकास एवं रोजगार कार्यक्रम" पृ. 158-162।

# लोक चित्रकारों की वृत्तियाँ एवं मानवीय दृष्टिकोण

## बिहार की लोक कला एक सांस्कृतिक संवाहक

**डॉ. निरंजन कुमार सिंह**

*व्याख्याता ( कला ), सेवा समिति विद्या मंदिर इंटर कॉलेज, इलाहाबाद*

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. बॉकर ने अपनी पुस्तक 'द स्टडी ऑफ ओरिएन्टल फोक लोर' में लिखा है कि आधुनिक सभ्यता से अलग रहने वाली संपूर्ण जाति या समाज ही लोक है। डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार ''लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है, जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है। वही लोक है।'' बिहार के मिथिलांचल क्षेत्र में सर्वाधिक समृद्ध लोक संस्कृति है। नेपाल की तराई वाले इस क्षेत्र में कभी भी कोई बड़ा युद्ध अथवा सामाजिक उथल-पुथल नहीं हुआ। यहाँ के लोगों का जीवन अत्यंत शांतिप्रिय और परंपरावादी रहा है। यही कारण है कि यह सांस्कृतिक रूप से काफी समृद्ध रहा है तथा लोक कलाओं को फलने-फूलने का भरपूर अवसर मिला।[1]

बिहार का मिथिलांचल क्षेत्र आर्थिक रूप से भी संपन्न माना जाता है। यहाँ की जमीन काफी उपजाऊ है तथा इसमें धान, मखाना और पान की खेती बहुतायत में होती है। यहाँ के लोग काफी कर्मठ और धर्मपरायण होते हैं। इसी कारण यहाँ कला और संस्कृति का समुचित विकास हुआ। पौराणिक काल में राजा जनक की राजधानी मिथिला थी। आर्य संस्कृति भी यहां पूर्ण विकसित थी। न्याय शास्त्र के विद्वान गौतम, कपिल मुनि, ऋषि श्रृंग्य, शतानन्द व मण्डन मिश्र आदि महापंडितों के साथ गार्गी, मैत्रेयी, लक्षिमा देवी, विश्वास देवी तथा वेदवती जैसी विदुषी स्त्रियों ने मिथिला के सामाजिक आध्यात्मिक जीवन तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिए कार्य किया।

यहाँ के लोक कलाकार वैसे तो अपनी जीविका के लिए मुख्य रूप से कृषि कार्य पर निर्भर रहे हैं, किन्तु लोक संस्कृति की समृद्धि के पीछे उनकी कलात्मक वृत्तियाँ भी एक महत्वपूर्ण कारक रही है। सिर्फ मिथिलांचल ही नहीं अपितु बिहार के मगध, अंग और भोजपुर क्षेत्र सहित झारखण्ड के वनांचल के लोक कलाकारों की वृत्तियों में लोक चित्रकला और लोक शिल्प शामिल है।[2]

बिहार एवं झारखण्ड के लोक चित्रकारों का जीवन यापन विभिन्न लोक शिल्पों के माध्यम से होता आया है। इनमें सिक्की शिल्प, गुड़िया शिल्प, बांस शिल्प, लाह शिल्प, मेंहदी शिल्प, पेपर-मेसी शिल्प, गोदना शिल्प, धातु शिल्प, मिट्टी का खिलौना, सीप शिल्प, टिकुली शिल्प, प्रस्तर शिल्प, एप्लिक शिल्प, मुखौटा शिल्प, कसीदाकारी शिल्प, चर्म शिल्प, काष्ठ शिल्प, पॉटरी शिल्प, जूट शिल्प व वाद्य यंत्र शिल्प आदि प्रमुख हैं। बिहार के ग्रामीण इलाके में पुरुष खेतों में कार्य करते हैं,

जबकि महिलायें घरेलू कार्यों के अलावा विभिन्न शिल्पों के जरिए पारिवारिक समृद्धि में हिस्सेदारी निभाती हैं। टिकुली, गुड़िया, गोदना, सिक्की शिल्प सहित अन्य शिल्प एवं लोक कलाओं की संवाहक अधिकांश महिला कलाकार ही हैं। मधुबनी कला को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाने में सीता देवी, गोदावरी देवी व सुन्दरी देवी जैसी महिला चित्रकारों की ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज मिथिलांचल क्षेत्र में मधुबनी कला लोक कलाकारों की प्रमुख वृत्ति बन चुकी है। खेतों में काम करने वाली महिलायें घरों में बैठकर कागज और कपड़ों पर पूरे दिन चित्रकारी करती हैं तथा देश-विदेश में आयोजित होने वाली कार्यशालाओं एवं प्रदर्शनियों में हिस्सा लेती हैं। इस क्षेत्र की महिलायें लोक संस्कृति भी सबसे बड़ा संवाहक सिद्ध हो रही है।[3]

झारखण्ड की वनांचल संस्कृति मुख्य रूप से रांची, हजारीबाग, संथाल परगना, सिंहभूम, दुमका, पलामू व गोड्डा आदि जिलों में फैली हुई है। यह आदिवासी संस्कृति के नाम से भी जानी जाती है। यह क्षेत्र खनिज संपदा के अकूत भण्डारों के लिए जानी जाती है। इमारती लकड़ी तेंदू पत्ता, फल-फूल व जड़ी बूटी के अलावा खेती योग्य जमीन तथा वन संपदा यहां के लोगों की जीविका के आधार है। इस क्षेत्र में मुण्डा, पहाड़िया, उरांव, कोरबा, असुर, बिरहोर, चेरा, संथाल तथा थारु आदि दो दर्जन से अधिक जातियां व उपजातियां पायी जाती हैं। शिक्षा के मामले में पिछड़े होने तथा आधुनिक विकास से वंचित इन जनजातियों की जीविका आज भी लगभग प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं पर ही निर्भर है। हस्त शिल्प भी इनकी जीविका के साधन हैं। इनके द्वारा निर्मित जादोपेटियां चित्र शैली आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुकी है। यहां के पुरुष व महिलायें जंगल से लकड़ियां काटकर व शहद निकालकर भी बेंचती हैं, जिससे उनका जीविकोपार्जन होता है। अपनी जीविका के लिए जंगली जानवरों का शिकार करने की प्रवृत्ति भी इनमें देखने को मिलती है। इसके बावजूद वनांचल के लोग हिंसक प्रवृत्ति के नहीं होते तथा उनके अंदर मानवीयता का दृष्टिकोण होता है। वे विभिन्न पर्व त्योहारों एवं तांत्रिक अनुष्ठानों के माध्यम से अपनी धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं।[4]

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बिहार की लोक संस्कृति को एक अलग पहचान मिली है, चाहे वह मिथिलांचल की संस्कृति हो या भोजपुर, अंग अथवा मगध की संस्कृति। इसके पीछे वहां की लोक चित्रकला और शिल्पों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसी तरह वनांचल की लोक संस्कृति की ख्याति दिलाने में वहां की जादोपेटिया जैसी लोक चित्र शैलियों एवं विभिन्न रूपों में मौजूद लोक शिल्प की महति भूमिका रही है।[5]

## संदर्भ


1. जय प्रकाश, राय एवं डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह, उत्तर मध्य क्षेत्र की लोक संस्कृति, पृष्ठ, सं.-9, 10
2. लक्ष्मी नाथ, झा, मिथिला की सांस्कृतिक लोक चित्रकला, पृष्ठ सं.- 17, 18 और 37, 38
3. अहमद, इनायत एवं कमर हसन, बिहार एक परिचय, पृष्ठ सं.- 18, 19
4. विन्ध्येश्वरी, प्रसाद सिंह, भारतीय कला को बिहार की देन, पृष्ठ सं.- 54, 55
5. महारथी उपेन्द्र, बिहार की चित्रकला (बिहार, सांस्कृतिक विरासत अंग पटना), पृष्ठ सं.- 16, 17।

# चिरांद के पुरातात्विक अवशेष

संजीव किशोर गौतम

*असि. प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय*
*काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी*

यद्यपि भारत में पुरावेशों की खोज का कार्य लगभग सौ वर्ष से अधिक से हो रहा है तथापि मृद्भाण्डों का व्यवस्थित अध्ययन पिछले दो दशकों में ही हुआ है। प्रत्येक काल में विशेष प्रकार के मृद्भाण्डों का चलन रहता है।

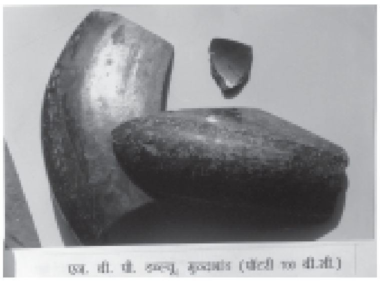

मिट्टी के बर्तन (मृदभाण्ड)

परम्परानुराग के कारण उनके प्रकारों में शीघ्र आमूल परिवर्तन नहीं होता, अत: पुरातत्व के अध्ययन में उनका उपयोग बहुत सहायक हुआ है।

मृद्भाण्ड (पॉटरी) के क्षेत्र में चिरांद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। यहां के पॉटरी के इतिहास को चार भागों में विभाजित कर सकते है, जिसका हर भाग अपनी व्यक्तित्व एवं समय का परिचय देता है।

1. सादा रंग मृदभाण्ड (PLAIN WARE)
2. नव पाषाण चमकीला एवं चमक विहिन रंग मृद्भाण्ड (NEOLITHIC BURNISHED/UNBURNISHED WARES)
3. काला एवं लाल रंग मृदभाण्ड (BLACK AND RED WARE)
4. उत्तर क्षेत्रीय काली पालिस वाले मृद्भाण्ड (NORTHERN BLACK POLISHED WARE)

सबसे पहले हाथ से एवं तत्पश्चात चाक द्वारा पॉटरी निर्माण हुआ। जो पुरातन नव पाषाण युग में हाथ से ज्यादातर (रेड वेयर) लाल रंग के रूप में बनाया जाता रहा था। उसके साथ कोरस-फेब्रिक (COARSE FABRIC) व्यवहार करते थे, उसके अलावा पॉटरी में गाढ़ा भुरा रंग (DEEP GREY WARE) काला भुरा रंग, गेरूआ रंग मिलता था। जो बहुत ही कम संख्या में पाया जाता था, बाद में लाल एवं काले रंग की मृदभाण्डों की काफी उन्नत रूप में विकसीत हुआ, जो काफी प्रचलित रूप में पाया जाता था।

इस पॉटरी के मूल तकनीक का यहां प्रस्तुतीकरण निम्नलिखित है :-

नये-नये औजारों के आविष्कार के बाद उन्होंने बर्तन बनाने का भी आविष्कार किया, इससे उनके आने वाले जीवन में सुविधा एवं नया जीवन का विकास हुआ,

उन्होंने गिली-मिट्टी से बर्तन का विकास किया, उन्होंने गिली-मिट्टी से अनाज तथा तरल पदार्थ की वस्तुओं को रखने के लिए विभिन्न प्रकार के छोटे, बड़े तथा अलग-अलग आकार के बर्तन बनाये, इस तरह समान रूप से अनेकों नई तकनीक का आविष्कार हुआ। धीरे-धीरे इसकी मांग बढ़ती गई फलस्वरूप बर्तन ज्यादा मात्रा में बनने लगा चाक द्वारा पॉटरी का निर्माण बहुत ही आसान हो गया, (मिट्टी के गोला को गोल चक्के (चाक) पर बीचों-बीच रखते है फिर उसे गोल-गोल घुमाया जाता है साथ ही दोनों हाथों के सहारे आकृति प्रदान की जाती है) बहुत से चमकीले एवं कुछ अन्य चमकीले बर्तन बहुत ही उंचे किस्म का हुआ करते थे सभी बर्तनों को एक प्रकार के पत्थर और हड्डी के चूरे से चमकाते थे। जिन बर्तनों में अंदर से दरार पड़ जाती थी उसे खुरच कर फिर से ठीक किया जाता था, कुछ पॉट्स बहुत ही चिकने होने के कारण उनको कुछ नही करना पड़ता था। कुछ पॉट्स में अंदर और बाहर छेद हुआ करता था। उसकी विशेष बात यह थी कि उस समय भी (नव पाषाण युग) हल्का पीले रंग से बर्तनों को रंगा जाता था, तथा पेटिंग रूप में डिजाइन कर रंग भरते थे। छोटे-छोटे बर्तनों को जैसे कप, कटोरा, प्लेट आदि को गाढ़ा भूरा रंग (DARK GREY) किया जाता था। बर्तनों पर प्राकृतिक चित्रण भी किया जाता था। उन्हें कोई भी रंग बनाने में असुविधा नहीं होती थी, क्योंकि रंग बनाने का सारा समान आसानी से प्राप्त हो जाता था। लोग उसी रंग का प्रयोग अधिक करते थे जो देखने में काफी अच्छा लगे, खासकर हल्का पीला और खून की तरह लाल रंग पानी में मिलाकर प्रयोग करते थे। यह रंग इतना कच्चा होता था कि हाथ से छूने से निकल भी जाता था इस प्रकार के बर्तन दक्षिण भारत (NEOLITHIC SITS) में देखा गया है। बर्तन बनाने में मिट्टी के साथ रेत एवं अभ्रक का प्रयोग किया जाता था, इस मिलावट से बर्तनों को बनाने में कठिनाई होती थी एवं आकृति देने में असुविधा होती थी और वह अधिक दिनों तक टिकते नहीं थे। इसे बचाने के लिये रंगों में चिपचिपे पदार्थ का प्रयोग किया जाता था, जिससे वह मजबूत हो जाते थे, घुमाते समय उसमें आडी लकीर खिची जाती थी।

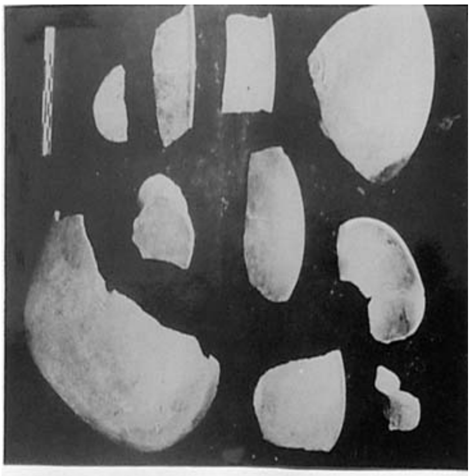

मृदमाण्ड (एन. बी. पी. डब्ल्यू.)

चिरांद के वासी (CERAMIC) का प्रयोग करते थे जिसमें गाढ़ा लाल, गहरा भूरा एवं काला आदि रंग प्रयोग करते थे। यहां हम चिरांद के नवपाषाण काल के

मृदभांड को दो काल खंडो में विभाजित कर देखते है तो (PERIOD IA AND PERIOD IB) पाते है कि PERIOD IA में लाल रंग के मृदभांड एवं PEROOD IB में लाल रंग के साथ-साथ भुरा एवं काला तथा सिर्फ काला रंग का मृदभांड भी मिला है। PERIOD IB के बर्तन ज्यादा उन्नत दिखायी देता है। PERIOD IB में जो मिट्‌टी का प्रयोग हुआ है। वह बहुत ही अच्छे किस्म का था एवं काफी ध्यानपूर्वक बर्तन बनाया गया था। इसे बनाते समय मिट्‌टी पर पानी छींटकर पीटते थे, एवं आकार देते थे। बहुत से बर्तनों में टेड़ी-मेंड़ी रेखाये दिये जाते थे इस तरह हम पाते हे कि IA के तुलना में IB की बर्तने काफी अच्छी थी।

इन बर्तनों को अंदर-बाहर से घिस कर साफ और चिकना किया जाता था, कुछ बर्तनों में मिट्‌टी का पतला घोल बनाकर पोता जाता था ये सब पकने के बाद लाल काला, गाढ़ा भूरा रंग के रूप में परिवर्तित हो जाते थे। बर्तन के ऊपरी भाग में चित्र या रंग किया जाता था। जिसमें गुणात्मक रेखिय अलंकरण आदि से बनी आकृतयों की चित्र कला भी काफी लोकप्रिय थी।

जरूरत के हिसाब से ये लोग अपने बर्तनों का आकार-प्रकार का निर्धारण करते थे। इनमें मुख्य रूप से बड़ा मुँह का कटोरा, छोटा कटोरा, लंबी मोटी, चौंडी सी घी आदि रखने का पात्र, अनेकों प्रकार के चम्मच कटोरी आदि। ये सभी बर्तन अनाज, खाने-पीने, पानी तथा दूध एवं अन्य तरल पदार्थ भी रखने के लिए बनाया गया था। इन बर्तनों में अनाज को रखकर जमीन में गाड़ दिया जाता था, जिससे वह खराब नहीं होते थे। माला और फूल आदि सजाने वाले बर्तनों के नीचे छोटा सा छेद किया जाता था, और वह त्रिकोण आकार धारण किये हुए रहता था इनमें से कुछ बर्तनों में अभ्रक का प्रयोग किया जाता था।

वहां के बर्तन देहात के शैलियों में बनी है। बर्तन का मुह बड़ा होता था क्योंकि तरल पदार्थ रखने में सुविधा हो। कुछ बर्तन सही प्रकार से नहीं बने थे। अधिकतर काला लाल-रंग के बर्तनों को चिरांद वासी पसंद करते थे। लाल-काला रंग जो अधिक प्रभावित करता था आंध्रप्रदेश के राम-पूरम गांव में भी पाया जाता था, वहां भी नवपाषाण एवं ताम्रपाषाण युग के बर्तनों में भूरा, लाल, काला आदि रंगों का प्रयोग किया गया था।

ताप के परिवर्तन से पॉलिश एवं रंग में भी परिवर्तन होता था। चिरांद की नवपाषाण युगीन परम्परागत सिरामिक, अपने आप में अकेला महत्व रखता है।

पुरातत्वेत्ताओं ने मृदभांडो का वर्गीकरण चार वर्गो में किया है।

**(अ) काले और लाल मृदभांड (BLACK AND RED WARE)**

ये भाण्ड अंदर से और बाहर के ऊपरी भाग में काले रंग के होते है। बाहर का निचला भाग लाल होता है। इस प्रकार के भांड लोथले, रंगपुर (गुजरात) और ताम्र पाषाण युग की सभ्यताओं की सतह से पश्चिमी और मध्य भारत के अनेक स्थान पर इस प्रकार के भांड बहुत निचली सतह में मिलते है जिले में सोनपूर नामक स्थान पर इस प्रकार के भांड बहुत निचले सतह में मिले है तथा लौह युग के सतह तक मिलते

है। इस प्रकार पुरातत्वेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस प्रकार भाण्डों का चलन पश्चिमी भारत से मगध तक था और उनका मुख्य केन्द्र मध्य भारत था इन भांडो का समय 2000 ई. पू. से ईसा के जन्म के समय तक माना गया है।

**( ब ) गेरूए रंग के मृदभाण्ड ( OCHRE COLOURED WARE )**

इन भांडो का रंग नारंगी या गहरा लाल होता है। ये बहुत ही जर्जर अवस्था में मिले है। यहाँ तक की हाथ लगाते ही रंग अंगुलियों में लग जाता है। ये अधिकतर गंगा की घाटी में मिले है। इन भांडो के बनाने के ढंग के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है क्योंकि पूरे भाण्ड नहीं, केवल टुकड़े मिले है। समय 1200 ई.पू. से पूर्व निश्चित किया जाता है।

**( स ) चित्रित भूरे रंग के मृदभांड ( PRINTED GREY WARE )**

यह कांसे के युग का भांड समझा जाता है। ये पतले भांड चाक पर बनाकर आवे में पकाये जाते थे। इनका रंग भूरा या कत्थई होता है। उन पर रेखा या बिन्दुओं में वृत्त आदि के नमुने बने होते है। ये काले रंग की चित्रकारी है। इस प्रकार की उत्तर-क्षेत्रीय काली पालिश वाले भांडो का उपयोग लोहे का प्रयोग करने वाले और चित्रित भूरे रंग के भांड तांबा या कांसे का प्रयोग करने वाले व्यक्ति करते थे। चित्रित भूरे रंग के भांडो का समय लगभग 1100 ई.पू. से 600 ई.पू. तक माना गया है। इन भांडों को अधिकतर विद्वान उन आर्यो से जोड़ते है, जो पहले सिंधु घाटी में रहकर पीछे मध्यप्रदेश (उत्तर-प्रदेश) में आकर बसे।

**( द ) उत्तर क्षेत्रिय काली पालिश वाले मृदभाण्ड**

**( NORTHERN BLACK PLICKEF WARE )**

ये भांड लोहे के युग से संबन्ध है। इन भांडो का रंग साधारणत: चमकदार गहरा काला होता हैं अच्छी कोटि के भांडो पर सुनहरी झलक दिखाई देती है। इन्हें बनाने के लिए अत्यन्त महीन मिट्टी काम में लाई जाती थी। इनमें अधिकतर प्याले व तश्तरियां है। कहीं-कहीं हॉड़ियां भी मिली है। इनका समय हस्तिनापुर की खुदाई के आधार पर 800 ई.पू. से 400 ई.पू. समझा जाता है।

## सहायक पुस्तकों की सूची एवं साक्षात्कार

**पुस्तको की सूची :-**


1. डा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह - भारतीय कला को बिहार की देन
2. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' - चेचर की प्राचीन मूर्तियाँ
3. B.P. Sinha - Archacology in Bihar
4. H.P. Sinha - Archacology of Norht Bihar


**साक्षात्कार :-**

1. श्री डी.पी. सिन्हा - निदेशन, पूरातत्व विभाग, भारत सरकार (पटना)
2. डॉ. व्ही0एस0वर्मा - अवकाश प्राप्त निदेशक, पुरातत्व विभाग, भारत सरकार (पटना)
3. श्री आर0पी0 सिंह - पुरातत्व विद्वान एवं पुरातत्व संग्रह कर्ता (चेचर ग्राम) वैशाली।

# शिक्षा मनोविज्ञान का शिक्षा को योगदान

**बसंत लाल शर्मा**

***शोध छात्र, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया***

डेविस (Davis) ने शिक्षा मनोविज्ञान के शिक्षा में योगदान को इस प्रकार दर्शाया है, "अनेक मनोविज्ञान परीक्षणों की सहायता से छात्रों की क्षमताओं तथा व्यक्तिगत भेदों की समीक्षा मे योगदान दिया है। शिक्षा मनोविज्ञान मे छात्रों के प्रारम्भिक विकास तथा परिपक्वता (Maturation) को समझने में योगदान दिया है।"

ड्रिवर (Drever) ने शिक्षा मनोविज्ञान को शिक्षा का आवश्यक तत्त्व बताया है। शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों निम्न प्रकार से योगदान दिया है।

*छात्रों का व्यवहार तथा शिक्षा मनोविज्ञान* (Educational Psychology and behaviour of the Students): शिक्षा को माटे अर्थो में वांछित परिवर्तन लाने होते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा मे लगें व्यक्तियों की सहायता करता हैं। कि किस प्रकार व्यवहार मे किस प्रकार के परिवर्तन लाए जा सकते हैं।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा के उद्देश्य (Educational Psychology and Aims of Education):* शिक्षा के उद्देश्य निर्माण करने में दर्शनशास्त्र की विशेष भूमिका रहती है। परन्तु इन उद्देश्यों को शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए कैसे निर्धारित किया जाए, इस कार्य मे शिक्षा मनोविज्ञान सहायक होता है। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति में भी सहायता प्रदान करता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा के व्यक्तिगत भेदों पर बल *(Educational Psychology and Emphasis on Individual Defferencces)* छात्रों में अनेक प्रकार की व्यक्तिगत विभिन्नताएँ होती हैं। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा प्रक्रिया में इन भेदों को जानने तथा इसके सन्दर्भ में उचित विधियाँ अपनाने में सहायता देना हैं।

*छात्र केन्द्रित शिक्षा (Child Centred Education):* शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षण विधियों को छात्र केन्द्रित करने का बल दिया है। आज शिक्षा में कार्यरत सभी वर्ग इस तथ्य की महत्ता पर ध्यान देते हैं।

*मनोविज्ञान तथा पाठ्यक्रम (Educational Psychology and Curriculum):* पाठ्यक्रम निमार्ण में शिक्षा दर्शन तथा समाजिक दर्शन का विशेष महत्त्व है परन्तु विभिन्न स्तरों पर अध्ययन सामग्री पर स्तर किस प्रकार का हो, इसमे शिक्षा मनोविज्ञान मार्गदर्शन करता है।

*शिक्षा मनोविज्ञान पाठ्यक्रम में पाठान्तर क्रियाएँ (Educational Psychology and Co-curricular Activities):* शिक्षा में पहले विषयों के अध्ययन पर जोर दिया

जाता था। परन्तु शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव से अनेक प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रमों की स्कूलो में व्यवस्था की जाती है।

*शिक्षा मनोविज्ञान, पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य शिक्षण-अधिगम सामग्री Educational Psychology, Textbooks and other Teaching Learning Material):* शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य सामग्री को रोचक तथा बोधगम्य बनाया जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा समय-सारणी *(Educational Psychology and time Tabel):* शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव के परिणामस्वरूप समय सारणी बनाते समय थकान तथा विविधता आदि पक्षों को ध्यान में रखा जाता है।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा अनुशासन (Educational Psychology and Discipline):* शिक्षा मनोविज्ञान दर्शाता है किस प्रकार अनुशासन को अत्मानुशासन तथा रचनात्मक बनाया जा सकता है। अनुशासन के विभिन्न पक्षों पर अलग से चर्चा की गई है।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा अन्य विधियाँ (Educational Psychology and Teaching Methods):* सम्भवतः शिक्षा मनोविज्ञान का शिक्षा प्रक्रिया में सबसे अधिक प्रभाव शिक्षण विधियों पर पड़ा है। अब अनेक प्रकार के शिक्षण विधियों को प्रयोग में लाया जा रहा है ताकि शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया रोचक तथा प्रभावशाली हो सके। छात्र इस प्रक्रिया को बोझ के रूप में न ले तथा छात्रों की अधिक से अधिक इसमे भागेदारी हो।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा श्रव्य-दृश्य साधन Educational Psychology and Audio-visual Aids):* परम्परागत शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में 'बोलने तथा चाक' *(Talk and Chalk)* प्रणाली का प्रभाव था। परन्तु अब सभी इन्द्रियों के प्रभावी प्रयोग पर बल दिया जाता है तथा अनेक प्रकार के श्रव्य-दृश्य सहायक साधनों का प्रयाग किया जाता है।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा स्कुल-व्यवस्था (Educational Psychology and School Management ):* शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा व्यवस्था में प्रभावी मानवीय सम्बन्धों पर बल देता है। स्कुल का मुख्य अध्यापक निरंकुश न होकर अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों को सहयोगी जानकर स्कुल व्यवस्था में उनको उचित स्थान देता है। 'डर' के स्थान पर 'मानवता' के मुल्य को प्राथमिकता दी जाती है।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा अनुसंधान (Educational Psychology and Research):* शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा किए जा रहे अनेक प्रकार के परिणामस्वरूप शिक्षा अधिगम प्रक्रिया तथा मुल्यांकन में प्रभावी सुधार लाए जा रहे हैं।

*शिक्षा मनोविज्ञान तथा अध्यापक Educational Psychology and the teacher):* इस प्रकरण पर अलग से प्रकाश डाला गया है।

## अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का महत्त्व

**अध्यापक के लिये शिक्षा मनोविज्ञान की अवश्यकता तथा महत्त्व पर विद्वानों के विचार:** शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान के द्वारा अध्यापक बालकों का उचित मार्गदर्शन करने तथा निर्देश देने में दक्षता प्राप्त करता है। शिक्षा मनोविज्ञान एक अध्यापक को सफल बनाने और शिक्षा सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्वों को भली-भाँति निभाने मे बहुत मद्द करता है। शिक्षा मनोविज्ञान एक ऐसा उपयोगी विषय है जो अध्यापक की पग-पग पर सहायता करता है। अध्यापक शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन से बालकों का अनेक प्रकार की परिस्थितियों में उचित सामंजस्य स्थपित करने में मार्गदर्शन कर सकता है। कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये जा रहे हैं:

*क्युनटिलीयन (Quintilian): क्युनटिलीयन–जो की प्रथम शताब्दी* (First Century A.D.) में इटली के प्रसिद्ध विचारक थे, ने लिखा है, "अच्छे वक्ता प्रशिक्षित करने के लिए अध्यापक को बच्चों की प्रकृति से परिचित होना चाहिए।

*थोमस फुलर (Thomas Fuller 1608-1661)* जो कि इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक पादरी थे, ने कहा है, "एक प्रभावी अध्यापक को बच्चों के स्वभाव का उतना ही अधिक अध्ययन करना चाहिए जितना की पुस्तकों का।

*पस्तालोजी, जे. एच. (Pestslozzi, J.H.-1746-1827)* ने कहा है "में शिक्षा को मनोवैज्ञानिक रूप देना चाहता हूँ।"

जॉन एडमस *(Johan Adams- 1857-1934)* जो की लन्दन विश्वविद्यालय में शिक्षा-विषय के प्रोफेसर थे-ने इस बात पर बल दिया है।"अध्यापक को जॉन (अर्थात छात्र) तथा लेटिन (Latin) भाषा दोनों को जानना चाहिए।"

*स्किनर (Skinner)* के अनुसार,"अध्यापकों के प्रशिक्षण में शिक्षा मनोविज्ञान आधारशिला है।"

ब्लेयर *(Blair)* ने लिखा है," आधुनिक अध्यापक यदि अपने कार्य मे सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसे ऐसा विशेषज्ञ होना चाहिए जो बालकों को समझें, वे कैसे विकसित होते हैं, सीखते है, तथा कैसे समायोजन करते हैं। मनोवैज्ञानिक विद्वानों (Diagnosis) में प्रशिक्षित व्यक्ति शायद ही अध्यापकों के दायित्वों तथा कार्यो को निभा सकें।"

*हेनरी पी. स्मिथ (Henry P. Smith)* ने शिक्षा मनोविज्ञान को अध्यापक के लिए आवश्यक निम्न कारणों से बताया है:

अध्यापक को अपने छात्र-छात्रों की प्रकृति, स्वाभाव तथा आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त होती है।

अध्यापक को छात्र-छात्राओं की अवस्थाओं, उनसे सम्बन्धित विभिन्न समस्याऔं एवं उपचार का ज्ञान होता है।

अध्यापक को शिक्षा के व्यापक अर्थो एवं उधार उद्देश्यों का बोध होता है।

अध्यापक को छात्रों के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने के लिए प्रत्येक स्तर पर छात्र की क्षमताओं तथा योग्यताओं आदि का बोध होता है।

अध्यापक की व्यावसायिक क्षमताओं का कुशलता मे वृद्धि करने में कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी शिक्षा मनोविज्ञान मे होती है।

स्वामी विवेकान्नद ने इस प्रकार कहा है, "सच्चा अध्यापक अपने छात्र के मन की वास्तविक्ता जान लेता है।

श्री अरिविन्द ने इस बात पर बल दिया, "बालक की शिक्षा उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार हो।

मुख्य तौर पर अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का महत्त्व नीचे दिया जा रहा है:

*शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा अध्यापक का आधिगमकर्त्ताओं अथवा छात्रों को ठीक प्रकार से समझने मे सहायता प्रदान करता (Assisting the teacher to understand his students properly):* बालकों की रूचियों, अभिरुचियों, दृष्टिकोणों तथा क्षमताओं को समझने में शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा अध्यापक को पर्याप्त मात्रा में मिलती है। छात्रों की जन्मजात योग्यताओं और अर्जित क्षमताओं के स्तर के ज्ञान से अध्यापक परिचित होकर छात्रों के सम्पूर्ण विकास के लिए कार्य करने में समर्थ होते हैं। *सर जॉन एडम* ने लिखा है। कि पढ़ाने की क्रिया के दो क्रम होते हैं,एक 'छात्र' और दूसरा पढ़ाए जाने वाला 'विषय'। जैसे-"अध्यापक राम को इतिहास पढ़ाता है।" इसलिये यदि अध्यापक ने राम को सफलता से पड़ाया है तो उसे इस क्रिया के दोनों क्रम को आच्छी तरह समझाना होगा 'इतिहास' को भी और 'राम' को भी। इन दोनों का ज्ञान होना अध्यापक के लिए बहुत जरूरी है।

*उचित शिक्षण विधियों एंव तकनीकों के अपनाने में सहायक होना (Assisting the teacher to use Proper Teaching Aids):* शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन से अध्यापक यह जान सकता है कि किस प्रकार के शिक्षण विधि किस परिस्थिति में उपयुक्त रहती है। छात्रों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को देख कर किस प्रकार से उन्हें कौन-कौन सी पद्धति से पढ़ाना ठीक रहता है।

*सारांश: आधिगमकर्त्ता-मनोविज्ञान अथवा शिक्षा मनोविज्ञान निम्नलिखित कार्यो में शिक्षक को विशेष सहायता देता है:*

1. अधिगमकर्त्ता को पहचान-उसकी क्षमताओं का जानना।

2. कक्षा में विभिन्न अधिगमकर्त्ताओं की विभिन्नताओं को जानना तथा तद्नुसार उपयुक्त शैक्षिक वातावरण निर्माण करना।

3. शिक्षण विधियों की उचित जानकारी प्राप्त करना तथा उसका उपयोग करना।

4. अधिगमकर्त्ता का सर्वागीण विकास करना।

# बागमती नदी बेसिन में जलप्रबंधन (बागमती परियोजना के संदर्भ में)

**संजय कुमार**

***शोध-छात्र (नेट), भूगोल विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर।***

बिहार एक कृषि प्रधान राज्य है। कृषि प्रधान राज्य होने के कारण यहाँ नदियों का आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्व है क्योंकि यहाँ की नदियों में प्रवाहित होने वाले जल में सिंचाई एवं जल विद्युत उत्पादन दोनों की पर्याप्त क्षमता है। राजनैतिक स्वतंत्रता के पश्चात् हमारा लक्ष्य आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना रहा है। हम अपनी उर्वरा भूमि को बाढ़ की अस्तव्यस्तता, जल जमाव की विपदा, वर्षा की अनिश्चितता से बचाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं और हमारी यह आकांक्षा रही है कि कृषि योग्य एवं उपजाऊ भूमि में, जो इन अनिश्चितताओं के कारण पूर्णत: फलदायिनी नहीं रही है, हरित-क्रांति लायी जाये। इन्हीं अवधारणाओं के फलस्वरूप देश के विकास के दौर में बागमती परियोजना की परिकल्पना की गयी है। सीतामढ़ी, शिवहर, पूर्वी चम्पारण, मुजफ्फरपुर एवं दरभंगा जिलों में फैला यह विशाल भूखण्ड बागमती नदी की, जिसे इसके बदलते तेवर के कारण व्याध्रमति भी कहा जाता है, क्रीड़ा स्थल रहा है। मुख्य रूप से सीतामढ़ी और शिवहर जिले में नदी की धारा परिवर्तन के कारण ज्ञात इतिहास में यह निश्चित नहीं रहा है कि कौन सा गांव कब इसकी चपेट में आ जाए अथवा कौन सा टोला इसके अन्तस्थल से उर्वर भूमि भी अपने बाढ़ की विभीषिका से उर्वर भूमि भी अपने पौधों को अक्षुण्ण नहीं रख पाती। इसके द्वारा लाया गया सील्ट (कदई) जहाँ लहलहाते पौधों को जन्म देती है और एक सुनहले भविष्य की सृष्टि करती है, वही इसको अनियंत्रित बाढ़ जन-जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है। अतएव एक ऐसी योजना की नितान्त आवश्यकता महसूस की गई, जिसके द्वारा जहाँ एक ओर बाढ़ को नियंत्रित किया जाये वहीं दूसरी ओर एक ऐसी सिंचाई प्रणाली विकसित की जाये, जिसमें बागमती के सील्ट को अंशत: छोड़कर भी एक उन्नत कृषि प्रणाली सृजित की जा सके तथा ऐसी सुख दायिनी स्थिति में विकास के अन्य चरणों, यथा-यातायात, संचार, विद्यालय की स्थापना आदि के लिए अवसंरचना उपलब्ध करायी जा सके। बहुद्देशीय बागमती परियोजना इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रस्तावित है। इस परियोजना की शुरूआत 24 मार्च 1954 को बागमती के शिलान्यास समारोह से साथ प्रारंभ हुआ।

उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने के कारण ही इन परियोजनाओं को बहु-उद्देशीय परियोजना की संज्ञा दी गयी है। स्वर्गीय पं. नेहरू के शब्दों में, ''ये परियोजनाएँ मेरे लिए आधुनिक भारत के मन्दिर और मस्जिद, गिरजाघर व तीर्थस्थान है।''

## अध्ययन क्षेत्र

बागमती नदी बेसिन में बाढ़ से सबसे अधिक प्रभावित सीतामढ़ी और शिवहर जिले होते हैं। अत: अध्ययन क्षेत्र में मुख्य रूप से सीतामढ़ी और शिवहर जिले को ही सीमांकित करके अध्ययन किया गया है। यह जिले, बिहार एवं नेपाल सीमा से सटे दक्षिण 26°12'51' उ0 अक्षांश से 26°49'17'' उ. अक्षांश तक तथा 85°21'30'' पूर्वी देशान्तर से 85°42'48'' पूर्वी देशान्तर तक फैला है। इसका कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 2643 वर्ग किलोमीटर है। इसका उत्तर दक्षिण विस्तार 48 किलोमीटर तथा पूर्व से पश्चिम विस्तार 55 किलोमीटर है। यह क्षेत्र चारो ओर से स्थल भाग से घिरा हुआ है। इसके उत्तर तथा उ. पू. में नेपाल, पूर्व में दरभंगा तथा मधुबनी जिले, पश्चिम में पूर्वी चम्पारण तथा दक्षिण में मुजफ्फरपुर जिले स्थित है। इसके अन्तर्गत बागमती, लखनदेई एवं अधवारा समूह की नदियों का क्षेत्र आता है।

River Map of Sitamarhi & Sheohar District

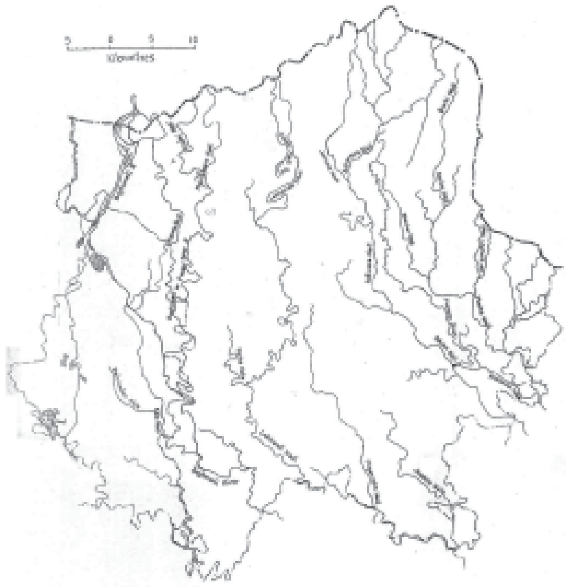

Source : Survey of India (District Planning Map Series)

## उपागम एवं विधितंत्र

प्रस्तुत अध्ययन में क्रमबद्ध उपागम का उपयोग किया गया है। इसमें अनुभवात्मक, सांख्यिकीय एवं अनुभवात्मक-सह-सांख्यिकीय विधियों का उपयोग किया गया है। आवश्यकता अनुसार फोटोचित्र द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है। आवश्यक आकड़ो का एकत्रीकरण करके सांख्यिकीय विधियों द्वारा तालिका बनाए गए है,

तत्पश्चात विवरणात्मक विधि से लाभ, हानि तथा होने वाले परिवर्तन का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

## बागमती योजना का संक्षिप्त विवरण

बागमती एक अन्तर्राष्ट्रीय नदी है। नेपाल में काठमाण्डू के समीप हिमालय की चोटियों से निकलकर यह नदी बिहार के सीतामढ़ी जिले में आदमबान्ध गाँव में प्रवेश करती है, और ढेंग (बैरगनियां), पिपराही, शिवहर, बेलसण्ड, रून्नीसैदपुर (कटौझा), कटरा इत्यादि स्थानों से गुजरती हुई, मुजफ्फरपुर-दरभंगा सड़क को बेनीबाद के पास पार करती है और हायाघाट के नजदीक अधवारा नदी समूह के सम्मिलित जल स्रोत से मिलकर करेह नाम धारण करती है। नदी का बढ़ता हुआ प्रभाव कमला और कोशी से मिलकर गंगा में समाहित हो जाता है। सीतामढ़ी तथा शिवहर जिले की समतल भूमि में जब यह नदी प्रवेश करती है तो अपने साथ लाये हुए सिल्ट (कदई) के भार को ढ़ो नहीं पाती तथा सिल्ट त्यागती जाती है। इस प्रक्रिया में कुछ ही वर्षो में नदी अपना मार्ग स्वयं अवरूद्ध कर लेती है तथा अपेक्षाकृत नीची जमीन होकर, जो आस-पास उपलब्ध रहती है, रास्ता बना लेती है। धारा परिवर्तन की इस प्रक्रिया के कारण सीतामढ़ी तथा शिवहर जिले में स्थान-स्थान पर बागमती की पुरानी धारे कहलाती है। नदी की बाढ़ को नियंत्रित करने तथा बागमती क्षेत्र को बाढ़ मुक्त करने के लिए तटबन्धों का निर्माण अनिवार्य समझा गया।

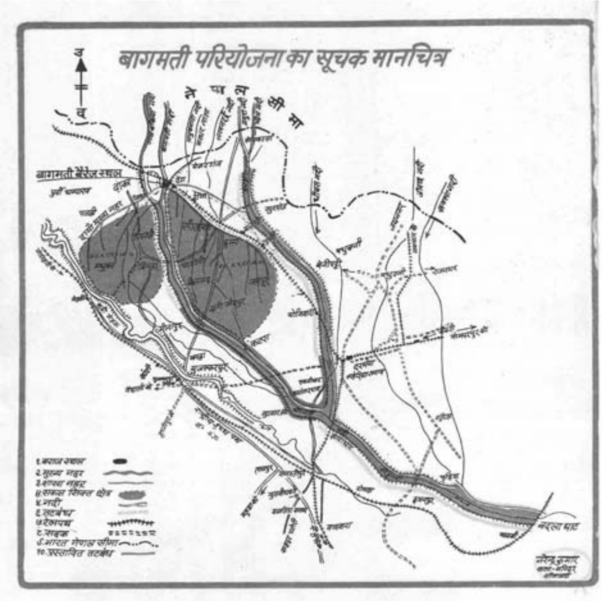

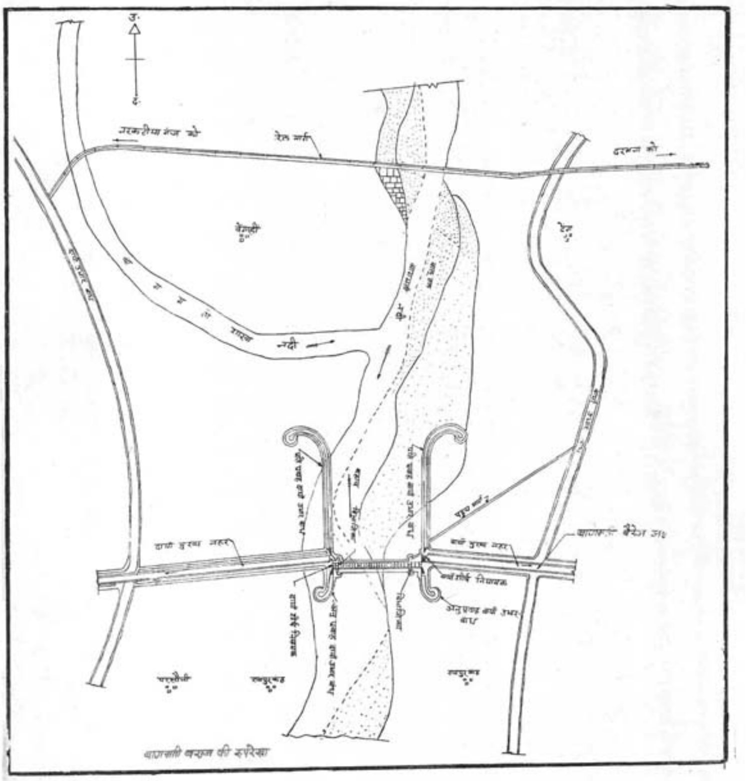


***बराज की रूपरेखा***

बाढ़ मुक्त स्थिति में ही किसी क्षेत्र में सिंचाई की व्यवस्था की जा सकती है। अतएव तटबंधों के निर्माण की प्राथमिकता दी गयी। इस योजना में भारत-नेपाल सीमा से लेकर दरभंगा जिले के कलंजरघाट तक नदी की दोनों ओर तटबंधों का निर्माण किया जा रहा है।

पूर्व निर्मित करेह तटबंधों को उंचा तथा सुदृढ़ बनाने का कार्य एवं लालबकेया नदी के दोआब तटबंध का कार्य भी इसमें सम्मिलित है। तटबंधों के बीच की दूरी तथा ऊंचाई इतनी रखी गयी है कि नदी द्वारा लायी गयी सिल्ट की राशि इसमें युगों तक जमा हो सके और फिर भी तटबंधों के नियंत्रण के कारण धारा परिवर्तन तटबंधों के बीच ही सीमित रहे। तटबंधों के निर्माण के फलस्वरूप नदी के बाहर की ओर हुए जल-जमाव को हटाने के लिए तथा अनावृष्टि के वर्षो में यदि आवश्यक हुआ तो नदी से जल की आपूर्ति के लिए स्लूइसो का निर्माण प्रस्तावित है। इस क्रम में तटबंधों के बीच के विस्थापित परिवारों को यथासध्य अनुकूल जगहो पर पुनर्वासित

करने का लक्ष्य है तथा पुनर्वासित किया भी जा रहा है। वर्तमान में तटबंध निर्माण का दूसरे चरण का कार्य पूरा हो चुका है, जिसमें बायां तटबंध 65 किलोमीटर एवं दायां तटबंध 70.02 किलोमीटर तक निर्माण कार्य पुरा हो चुका है।

**दांया तटबंध**

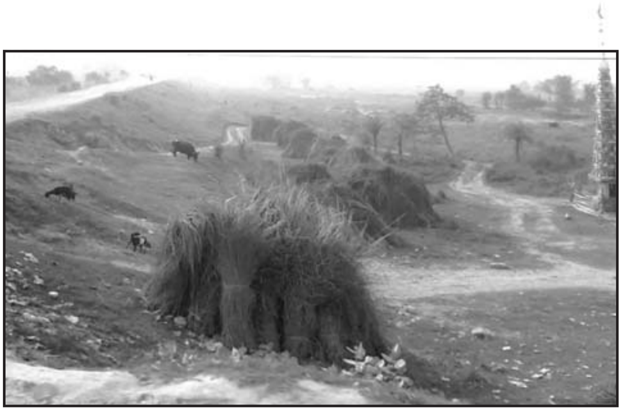

**बायां तटबंध**

तटबंध निर्माण की प्रक्रिया में बागमती नदी पर सीतामढ़ी-मुजफ्फरपुर मार्ग पर बड़े पुल का निर्माण कार्य पूरा हो चुका है, यह पुल कटौझा में बनाए गये है।

**कटौझा में पुल निर्माण**

तटबंधों के निर्माण द्वारा बाढ़ मुक्त इस उर्वरा क्षेत्र को एक सुगठित नहर-प्रणालियों द्वारा सिंचित करने का प्रावधान है। इसके हेतु ढ़ेंग रेलवे पुल से तीन किलोमीटर दक्षिण एक बराज रामनगर गांव में प्रस्तावित है, जहां से दो मुख्य नहरें निकाली जायेंगी। बांयी ओर निकलने वाली मुख्य पूर्वी नहर सीतामढ़ी होते हुए पुपरी तक जायेगी तथा अपनी विभिन्न शाखा नहरो द्वारा बैरगनिया, मेजरगंज, रीगा, पिपराढ़ी, बेलसण्ड, रून्नीसैदपुर, डुमरा, बाजपट्टी, पुपरी, नानपुर प्रखण्डों तथा अंशतः मुजफ्फरपुर जिले के औराई एवं कटरा प्रखंडों एवं दरभंगा जिले के सीमावर्ती क्षेत्रों की कृषि योग्य भूमि को सिंचित करेगी।

दांयी ओर निकलने वाली पश्चिमी मुख्य नहर बैरगनिया प्रखण्ड एवं शिवहर जिले के अतिरिक्त पूर्वी चम्पारण जिले के ढ़ांका तथा पताही के चिर प्रतीक्षित सिंचाई की आवश्यकता पूरी करेगी। बागमती नदी में विभिन्न ऋतुओं में उपलब्ध जल राशि को ध्यान में रखते हुए, प्रस्तावित सिंचाई क्षेत्र को सीमित रखा गया है। यों तो रब्बी के मौसम में भूगर्भ जल स्रोत से अतिरिक्त आवश्यकता पूरा करने के लिए नलकूपों का भी प्रावधान रखा गया है, किन्तु उनकी आवश्यकता कदाचित हो पड़े (क्योंकि इस मौसम में बराज के बेहतर नियमन द्वारा उपलब्ध जलस्रोत का बृहत्तर उपयोग किया जा सकता है। इस बीच सम्भावित आंशिक कमी (विषम परिस्थिति में, यदि कोई हो) को पूरा करने के लिए भूगर्भ जल स्रोत भी बागमती क्षेत्र में उपलब्ध हो सकते है।

इस तरह बागमती नदी के बड़े जलस्रोत के रहते भी सिंचाई सुविधाओं से लगभग पूर्णतः वंचित इस क्षेत्र की बहुत बड़ी कमी की पूर्ति हो जायेगी।

बागमती क्षेत्र के मुख्यतः समतल होने के कारण यद्यपि नहर सिंचाई प्रणाली द्वारा जल-जमाव की समस्या अन्य नहर प्रणालियों की तुलना में अत्यन्त ही कम रहेगी, फिर भी ऐसी किसी संभावित समस्या को हल करने के लिए इस योजना में जल-निस्सरण का भी प्रावधान है।

## बागमती परियोजना से संबंधित आंकड़े

(1) बागमती बराज निर्माण स्थल - ढ़ेंग रेलवे पुल से 3 कि.मी. दक्षिण रामनगर ग्राम में अवस्थित।

(2) बराज स्थल पर नदी का जल ग्रहण क्षेत्र - 1463 वर्ग मील (3745 वर्ग कि. मी.)

(3) हिमालय पर्वतमाला की दक्षिणी ढ़लान पर औसत वार्षिक वर्षा - 3550 मी. मी.

(4) बराज स्थल पर नदी की चौड़ाई - 1700 फीट
बराज स्थल पर नदी की लम्बाई - 1960 फीट

(5) बायीं मुख्य नहर - 35 कि.मी.
दायीं मुख्य नहर - 27 कि.मी.
शाखा नहरों की लम्बाई - 195 कि.मी.

(6) बागमती बायां तटबंध - 79.30 कि.मी.
बागमती दायां तटबंध - 77.5 कि.मी.

(7) बागमती के दोआब एवं लालबकेया तटबंध - 21 कि.मी.

(8) योजना की कुल प्राक्कलित राशि - 1 अरब 85 करोड़ 70 लाख

***स्रोत*** :- सिंचाई विभाग, बिहार द्वारा प्रकाशित - 1954

## बागमती परियोजना की विशेषताएँ

प्रस्तावित बागमती परियोजना सौभाग्यवश ऐसी योजना है, जिसका समादेश क्षेत्र समतल एवं उर्वर है तथा प्रस्तावित नहरों की जल धारा में बागमती की वह सिल्ट होगी, जो अपनी उर्वराशक्ति के लिए यहां के कृषक वर्ग में बहुप्रशंसित एवं कृषि के लिए मूल्यवान होने के कारण गृहणीय है। बागमती की पुरानी धारों के रहने के कारण एवं जमीन के उबड़-खाबड़ नहीं रहने के कारण इस सिंचाई प्रणाली में जल-जमाव की समस्या नगण्य होगी, जो किसी भी बड़ी नहरी सिंचाई योजना की महत्वपूर्ण

विशेषता कही जा सकती है। बागमती सिंचाई योजना से वार्षिक 121214 हेक्टेयर (299520 एकड़) में होगी, जिससे 418118 टन उपज में सालाना वृद्धि होगी। सिंचाई प्रति हेक्टेयर की लागत 10330 रुपया आती है।

यद्यपि धारा परिवर्तन करने में यह नदी बहुचर्चित रही है, किन्तु धारा परिवर्तन करने वाली इस कोटि की नदियों में नियंत्रण के दृष्टिकोण से यह नदी सौम्य कही जायेगी। क्योंकि इसके तटबंधों की सुरक्षा का कार्य अपेक्षाकृत कम खर्चीला है। बागमती बाढ़ नियंत्रण योजना से 2100 वर्ग किलोमीटर में बाढ़ से सुरक्षा होगी। इस योजना के अनुसार इन्सीडेन्ट लागत 2309 प्रति हेक्टेयर (935 प्रति एकड़) आती है।

इस योजना के क्रियान्वयन से बाढ़ नियंत्रण एवं सिंचाई के उद्देश्यों की पूर्ति तो होगी ही, साथ ही विकास के अन्य कार्यो के लिए व्यापक आधार तैयार हो जायेगा और फलत: उसके दूरगामी सुपरिणाम होंगे। स्पष्ट उदाहरण के लिए बराज-मार्ग बैरगनिया सीतामढ़ी जिला मुख्यालय से सड़क द्वारा जुट जायेगा। नहर मार्ग द्वारा लालबकेया नदी के आर-पार जाना संभव हो सकेगा तथा बेलवा नियामक के द्वारा शिवहर तथा ढ़ांका प्रखंडों के बीच आवागमन सुगम हो जायेगा। इस क्षेत्र में प्रधानमंत्री के बीस सूत्री कार्यक्रमों के त्वरित सम्पादन में, इस योजना की आधारभूत भूमिका होगी। इस तरह निश्चित रूप से यह योजना इस क्षेत्र के लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठायेगी।

## बागमती परियोजना के क्रियान्वयन में शीघ्रता की आवश्यकता

बागमती योजना एक बहुद्देशीय तथा समन्वित विकास योजना है। इसके तटबंध उतने ही अनिवार्य है, जितनी इसकी नहर प्रणाली। विशेषकर जैसी इन बड़ी और समन्वित योजनाओं की प्रकृति होती है, इसके एक अंग के क्रियान्वयन के साथ ही और उसी निरन्तरता में दूसरे अंग का क्रियान्वयन भी अनिवार्य होता है।

### *बागमती नहर प्रणाली द्वारा सिंचाई व्यवस्था होगी।*

इस क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या बाढ़ है जिससे प्रत्येक वर्ष बाढ़ के कारण जान-माल, मकान, फसल एवं सार्वजनिक परिसम्पतियों की भारी क्षति होती है। बाढ़ आ जाने के बाद अफरा-तफरी का माहौल हो जाती है। जिस कारण समुचा तंत्र मात्र सार्वजनिक वितरण तथा जान की बचाव पर ही ध्यान दे पाता है।

आपदा प्रबंधन विभाग, सीतामढ़ी के अनुसार वर्ष 2007 में इस क्षेत्र में 2839486 मनुष्य, 323939 पशु प्रभावित हुए तथा कृषि योग्य 149669.37 (एकड़), गैर कृषि योग्य 49875.39 (एकड़), कुल प्रभावित क्षेत्र 199544.76 (एकड़) एवं फसल क्षेत्र

80463.83 (एकड़) प्रभावित हुए। अतः अनाच्छादन की क्षति सहित अनुमानित क्षति 3995.653 लाख रूपये थी।

दूसरे चरण का कार्य पूरा होने तक दायां तटबंध 70.02 किलोमीटर और बायां तटबंध 65 किलोमीटर तक तटबंध निर्माण पुरा हो गया है, जिससे उस क्षेत्र में बाढ़ पर कुछ हद तक नियंत्रण पाया जा सका है, परन्तु अगस्त 2009 में कुछ लोगों द्वारा तटबंध के काटे जाने से फिर बाढ़ का प्रकोप रून्नीसैदपुर के क्षेत्र में देखने को मिला।

## बागमती नदी-बेसिन की समस्या तथा निदान

इस क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या बाढ़ रही है जिसके लिए बागमती परियोजना प्रस्तावित है तथा इसके दूसरे चरण का कार्य भी पूरा हो चुका है। लेकिन कार्य बहुत धीमी गति से चल रही है, इसके कई कारण हैं।

- हिन्दुस्तान दैनिक, दिनांक 02 जनवरी 2010 के अनुसार, एक वर्ष तक भू-अर्जन नहीं होने से बागमती परियोजना के तीसरे चरण का तटबंध निर्माण कार्य अटका हुआ है। भू-अर्जन अधिकारी ने 366.29 एकड़ के बदले 48. 78 एकड़ भू-अर्जन पूर्ण किये जाने की जानकारी जल संसाधन विभाग को दी है।
- उधर बागमती तटबंध निर्माण कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अबतक विभाग से आदेश व निधि नहीं उपलब्ध कराया गया है।
- इसके साथ तटबंध निर्माण में एजेंसी भी रूचि नहीं ले रहा है। पुराने तटबंध की मरम्मत तथा सोलिंग कार्य के लिए राशि उपलब्ध रहने के बाद भी तटबंध की मरम्मती नहीं की जा रही है।
- हिन्दुस्तान, दैनिक, 04 जनवरी 2010 के अनुसार विस्थापितों और तटबंध निर्माण के लिए भू-अर्जन करने को 10.69 करोड़ रूपए दिये गये। लेकिन इन गांवों के लोगों को डर है कहीं उनका भी हश्र पूर्व में विस्थापित गांवों की तरह न हो जाए। अर्थात् विस्थापित का कार्य ठीक से नहीं किया जा रहा है। अतः इस ओर सरकार का ध्यान दिया जाना चाहिए।
- हाल ही में रून्नीसैदपुर से शिवहर तक तटबंध पर सड़क मार्ग बनाने का प्रस्ताव को मंजूरी मिली है। जिससे यातायात के साथ तटबंध भी मजबुत होगा।
- तटबंध के किनारो पर पेड़ लगवाये गये थे जिससे तटबंध को मजबूति आति परन्तु कुछ स्थानों पर ही पेड़ विकसित हो सके है। अतः जिन स्थानों पर पेड़ विकसित नहीं हुए वहां पुनः वृक्ष लगवाने का प्रबंध करना चाहिए।

- अगस्त 2009 में कुछ लोगों द्वारा तटबंध के काटे जाने से फिर बाढ़ का प्रकोप रून्नीसैदपुर के क्षेत्र में देखने को मिला। अत: सरकार को इस प्रकार की घटना को रोकने के कड़े उपाये व निगरानी करने के व्यवस्था करनी चाहिए।
- बाढ़ से निजात पाने के लिए परसौनी में मनुषमारा नदी से पाईलट चाइनल खोदा जा रहा है जो गिसारा गांव में लखनदेई नदी में मिलाया जा रहा है, लेकिन इससे बाढ़ का हल नहीं निकल पाएगा, क्योंकि गिसारा गांव से जो लखनदेई नदी गुजरती है वह कटरा में जा कर बागमती से मिलती है। अत: सरकार को इस समस्या के समाधान के लिए मुख्युदपुर में बागमती नदी पर साईफन बना कर मनुषमारा नदी को बूढ़ी गंढ़क में मिला देना चाहिए।
- जमूड़ा नदी एवं झीम नदी, दोनों नेपाल से निकलती है और सोनबरसा होते हुए अधवारा नदी में मिलती है और इन क्षेत्रों में भी बाढ़ आ जाती है। अत: यहाँ भी बराज बनाने की आवश्यकता है।
- बागमती नदी की तली को समय-समय पर डीसिल्टंग (ड्रेजिंग) करते रहने की आवश्यकता है।

### *निष्कर्ष*

उपरयुक्त विवरणों से स्पष्ट है कि बागमती परियोजना के पूरा होने से बाढ़ नियंत्रण एवं सिंचाई के साथ-साथ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति होगी और इस क्षेत्र के आर्थिक विकास में तेजी आ सकेगी। यह परियोजना बहुत धीमी गति से चल रही है, इसके लिए राशि का आवंटन देर से होना, भू-अर्जन का कार्य का धीमा होना तथा तटबंध निर्माण में एजेंसी का रूचि नहीं लेना रहा है। इसके अलावा कुछ लोगों द्वारा तटबंध को काटा जाना व सहयोग की कमी रहा है।

अत: सरकार को इन सब समस्याओं को ध्यान देते हुए एक ठोस कदम उठाने की जरूरत है। जिससे यह परियोजना जल्द पूरा हो सके और विकास का नया अध्याय प्रारंभ हो सके।

## संदर्भ सूची

(1) बागमती परियोजना (सिंचाई विभाग, बिहार द्वारा प्रकाशित)
(2) आपदा प्रबंधन विभाग, सीतामढ़ी (बाढ़ से हुई क्षति का विवरण - वर्ष 2007)
(3) बिहार की भौगोलिक समीक्षा - डॉ. नन्देश्वर शर्मा
(4) बिहार का भौगोलिक अध्ययन - डॉ. बाढ़ू पण्डित एवं डॉ. अनिल कुमार गुप्ता
(5) प्राथमिक जनगणना सार, बिहार - 2001
(6) भारत का भूगोल - डॉ. चतुर्भुज मामोरिया।

# Origin and Development of Tibetan Buddhism

**Anuradha Jaiswal**
*Associate Professor, P.G. Dept. of History*
*R.N.College, Hajipur (Vaishali )*

Tibetan Buddhism (sometimes called Lamaism) is the form of Mahayana Buddhism that developed in Tibet and the surrounding Himalayan region beginning in the 7th century CE. Tibetan Buddhism incorporates Madhyamika and Yogacara philosophy, Tantric symbolic rituals, Theravadin monastic discipline and the shamanistic features of the indigenous religion, Bön.[1] Among its most unique characteristics are its system of reincarnating lamas and the vast number of deities in its pantheon. Tibetan Buddhism is most well-known to the world through the office of the Dalai Lama, the exiled spiritual and political leader of Tibet and the winner of the Nobel Peace Prize in 1989. It was adopted as an official state religion by the Mongol Yuan dynasty and the Manchu Qing dynasty of China. Tibetan Buddhism spread to the West in the second half of the 20th century as many Tibetan leaders were exiled from their homeland. Today, Tibetan religious communities in the West consist both of refugees from Tibet and westerners drawn to the Tibetan religious tradition. Between the 11th and 14th centuries, the Tibetans translated every available Buddhist text into Tibetan. Today, many Buddhist works that have been lost in their original Sanskrit survive only in Tibetan translation.[2]

## History of Tibetian Buddhism

Historically, "Tibet" refers to a mountainous region in central Asia covering 2.5 million sq km. Today, "Tibet" officially refers to the Tibetan Autonomous Region within China, which is about half the size of historical Tibet. Tibet remained independent until the early 1900s, when it was occupied first by Britain and then China. The Tibetans reasserted their independence from China in 1912 and retained it until 1951, when it was "liberated" by China. Today, Tibet is still occupied by China. The Dalai Lama, the spiritual and political leader of the Tibetan people, lives in exile in India, and Chinese officials outnumber Tibetans in their own homeland. Certain Buddhist scriptures arrived in southern Tibet from India as early as 173 AD during the reign of Thothori Nyantsen, the 28th king of Tibet. During the third century the scriptures were disseminated to northern Tibet. The influence of Buddhism was not great in Tibet, however, and was not yet in its characteristic

Tantric form, for the earliest Tantras had just begun to be written in India.[3]

The first significant event in the history of Tibetan Buddhism occurred in 641, when King Songtsen Gampo (c.609-650) unified Tibet and took two Buddhist wives (Princess Wencheng from China and Princess Bhrikuti Devi from Nepal). Before long, King Gampo made Buddhism the state religion and established a network of 108 Buddhist temples across the region, including the Jokhang and Ramoché temples to house the Bon religion, as also Buddha statues his wives had brought as their dowries. Conflict with the former national religion, Bön, however, would continue for centuries.[5]

The most important event in Tibetan Buddhist history was the arrival of the great tantric mystic Padmasambhava in Tibet in 774 at the invitation of King Trisong Detsen. It was Padmasambhava (more commonly known in the region as Guru Rinpoche) who merged tantric Buddhism with the local to form what we now recognize as Tibetan Buddhism. In addition to writing a number of important scriptures (some of which Tibetan Buddhists believe he hid for future monks to find at the right time), Padmasambhava established the Nyingma school from which all schools of Tibetan Buddhism are derived.[6]

Tibetan Buddhism exerted a strong influence from the 11th century AD among the peoples of Central Asia, especially in Mongolia and Manchuria. It was adopted as an official state religion by the Mongol Yuan dynasty and the Manchu Qing dynasty of China. Tibetan Buddhism spread to the West in the second half of the 20th century as many Tibetan leaders were exiled from their homeland.[7] Today, Tibetan religious communities in the West consist both of refugees from Tibet and westerners drawn to the Tibetan religious tradition.

## Tibetan Buddhist Sacred Texts

Between the 11th and 14th centuries, the Tibetans translated every available Buddhist text into Tibetan. Today, many Buddhist works that have been lost in their original Sanskrit survive only in Tibetan translation. In addition to earlier foundational Buddhist texts from early Buddhist schools, mostly the Sarvastivada, and mahayana texts, the Tibetan canon includes Tantric texts.[8] The Tibetan Canon underwent a final compilation in 14th Century by Bu-ston (1290-1364). It is divided into two parts:

The *Bka'-'gyur* or Kanjyur ("Translated Word"), consists of canonical texts. The Kanjyur is made up of 98 volumes containing some 600 texts. The first printing of the Kanjur occurred not in Tibet, but in China (Beijing), and was completed in 1411. The first Tibetan edition of the Kanjur was at sNar-tang in 1731.

The *stan-'gyur* or Tenjyur ("Transmitted Word"), consists of semi-canonical commentaries and treatises by Buddhist masters. The Tenjyur contains 3626 texts in 224 volumes, divided as follows:

Sutras: 1 volume; 64 texts.

Commentaries on the Tantras: 86 volumes; 3055 texts.

Commentaries on Sutras; 137 volumes; 567 texts.

The most famous Tibetan Buddhist text is the Bardo Thodol ("liberation through hearing in the intermediate state"), popularly known as the Tibetan Book of the Dead. The Bardo Thodol is a funerary text that describes the experiences of the soul during the interval between death and rebirth called *bardo*. It is recited by lamas over a dying or recently deceased person, or sometimes over an effigy of the deceased. It has been suggested that it is a sign of the influence of shamanism on Tibetan Buddhism.[9]

The Bardo Thodol actually differentiates the intermediate states between lives into three bardos (themselves further subdivided). The chikhai bardo ("bardo of the moment of death") features the experience of the "clear light of reality," or at least the nearest approximation to it of which one is spiritually capable. The chonyid bardo ("bardo of the experiencing of reality") features the experience of visions of various Buddha forms (or, again, the nearest approximations of which one is capable). The sidpa bardo ("bardo of rebirth") features karmically impelled hallucinations which eventually result in rebirth.

## Distinctive Beliefs of Tibetan Buddhism

In common with Mahayana schools, Tibetan Buddhism includes a pantheon of Buddhas, bodhisattvas, and Dharma protectors. Arya-bodhisattvas are able to escape the cycle of death and rebirth but compassionately choose to remain in this world to assist others in reaching nirvana or buddhahood.[10] Dharma protectors are mythic figures incorporated into Tibetan Buddhism from various sources (including the native Bön religion, and Hinduism) who are pledged to protecting and upholding the Dharma. Many of the specific figures are unique to Tibet.[11]

## Distinctive Practices of Tibetan Buddhism

Non-initiates in Tibetan Buddhism may gain merit by performing rituals such as food and flower offerings, water offerings (performed with a set of bowls), religious pilgrimages, or chanting prayers). They may also light butter lamps at the local temple or fund monks to do so on their behalf.In Bhutan, villagers may be blessed by attending an annual religious festival, known as a tsechu, held in their district. In watching the festival dances performed by monks, the villagers are reminded of Buddhist

principles such as non-harm to other living beings.[12] At certain festivals a large painting known as a thongdrol is also briefly unfurled — the mere glimpsing of the thongdrol is believed to carry such merit as to free the observer from all present sin. Tantric practitioners make use of rituals and objects. Meditation is an important function which may be aided by the use of special hand gestures such as the famous mantra of Avalokiteshwara: "om mani padme hum".[13]

A number of esoteric meditation techniques are employed by different traditions, including mahamudra, dzogchen, and the Six yogas of Naropa. [14]Qualified practitioners may study or construct special cosmic diagrams known as mandalas which assist in inner spiritual development. A lama may make use of a variety of ritual objects, each of which has rich symbolism and a ritual function. Another important ritual is the Cham, a dance featuring sacred masked dances, sacred music, healing chants, and spectacular richly ornamented multi-colored costumes. Mudras are used by the monks to revitalize spiritual energies which generate wisdom, compassion and the healing powers of Enlightened Beings. With accompanying narration and a monastic debate demonstration, the program provides a fascinating glimpse into ancient and current Tibetan culture. However, due to China's occupation of Tibet, this ritual is now forbidden.

### Schools of Tibetan Buddhism

There are four principal schools within modern Tibetan Buddhism:

Nyingmapa ("School of the Ancients") is the oldest of the Tibetan Buddhist schools and the second largest after Geluk. The Nyingma school is based primarily on the teachings of Padmasambhava, who is revered by the Nyingma school as the "second Buddha." Padmascambhava's system of Vajrayana or Tantric Buddhism was synthesized by Longchenpa in the 14th century. The distinctive doctrine of the Nyingma school is Dzogchen ("great perfection"), also known as ati-yoga (extraordinary yoga). It also makes wide use of shamanistic practices and local divinities borrowed from the indigenous, pre-Buddhist Bon religion.

Kagyüpa ("Oral Transmission School"; also spelled Bka'-brgyud-pa) is the third largest school of Tibetan Buddhism. Its teachings were brought to Tibet by Marpa the Translator, an 11th century Tibetan householder who traveled to India to study under the master yogin Naropa and gather Buddhist scriptures. Marpa's most important student was Milarepa, to whom Marpa passed on his teachings only after subjecting him to trials of the utmost difficulty. In the 12th century, the physician Gampopa synthesized the teachings of Marpa and Milarepa into an independent school.

The central teaching is the "great seal" (*mahamudra*), which is a realization of emptiness, freedom from samsara and the inspearability of these two. The basic practice of mahamudra is "dwelling in peace," and it has thus been called the "Tibetan Zen."[15]

Sakyapa is today the smallest of the four schools of Tibetan Buddhism. It is named for the Sakya ("Gray Earth") monastery in sourthern Tibet. The Sakya monastery was founded in 1073 by abbots from the Khön family. The Sakyapa school had great political influence in the 13th and 14th centuries.

Gelugpa (or Dge-lugs-pa or Gelukpa, "School of the Virtuous"), also called the Yellow Hats, is the youngest of the Tibetan schools, but is today the largest and the most important. It was founded in the late 14th century by Tsongkhapa, who "enforced strict monastic discipline, restored celibacy and the prohibition of alcohol and meat, established a higher standard of learning for monks, and, while continuing to respect the Vajrayana tradition of esotericism that was prevalent in Tibet, allowed Tantric and magical rites only in moderation." practices are centred on achieving concentration through meditation and arousing the bodhisattva within.

### *The Dalai Lama*

The Dalai Lama is the head of the dominant school of Tibetan Buddhism, the Gelugpa (or Yellow Hats).[16] From 1642 to 1959, the Dalai Lama was the spiritual and temporal leader of Tibet. Until the Chinese takeover in 1959, the Dalai Lamas resided in Potala Palace in Lhasa in the winter and in the Norbulingka residence during summer. The current Dalai Lama, Tenzin Gyatso, is the 14th in a line of succession that began with Gendün Drub (1391–1475), founder and abbot of Tashilhunpo monastery (central Tibet). The second head of the Gelugpa order, Gendün Gyatso (1475–1542), was the head abbot of the Drepung monastery on the outskirts of Lhasa, which became the principal seat of the Dalai Lama. The 13th Dalai Lama, Tubten Gyatso (1875–1933), ruled with great personal authority. The successful revolt within China against its ruling Manchu dynasty in 1912 gave the Tibetans the opportunity to dispel the disunited Chinese troops, and the Dalai Lama reigned as head of a sovereign state.

The 14th in the line of Dalai Lamas, Tenzin Gyatso, was born Lhamo Thondup in 1935 in China of Tibetan parentage. He was recognized as the incarnation of the 13th Dalai Lama in 1937, enthroned in 1940, and vested with full powers as head of state in 1950. He fled to exile in India in 1959, the year of the Tibetan people's unsuccessful revolt against communist Chinese forces that had occupied the country since 1950. The Dalai Lama set up a government-in-exile in Dharmsala, India (known as "Little Lhasa"), in the Himalayan Mountains.[17] In 1989 he was awarded the Nobel

Prize for Peace in recognition of his nonviolent campaign to end Chinese domination of Tibet.

### *Panchen Lama*

The Panchen Lama is the second highest ranking figure in the Gelugpa school of Tibetan Buddhism after the Dalai Lama. The Panchen Lama bears part of the responsibility for finding the incarnation of the Dalai Lama and vice versa. The current Dalai Lama identified Gedhun Choekyi Nyima as the 11th reincarnation of the Panchen Lama on May 14, 1995. The People's Republic of China did not recognize this choice.

## Tibetian Buddhism in the Contemporary World

Today Tibetian Buddhism is adhered to widely in the Tibet Plateau, Nepal, Bhutan, Mongolia, Kalmkia (on the northwest shore of the Caspian), Siberia (central Russia, specifically Bhuryatia and Chita Oblast), and the Russian, specifically Buryatia and Chita Oblast), and Russian Far East (concentrated in Tyva).[18] The Indian regions of Sikkim and Ladakh, both formerly independent kingdoms, are also home to significant Tibetan Buddhist populations. In the wake of the Tibetian diaspora, Tibetan Buddhism has gained adherents in the West and throughout the world, there are estimated to be tens of thousands of practioners in Europe and the Americas. Celebrity Tibetian Buddhism practioners include Richard Gere, Adam Yauch, Jet Li, Sharon Stone, Allen Ginsberg, Philip Glass, and Steven Seagal (who has been proclaimed the reincarnation of tulku Chungdrag, dorge.

## End Notes and References


1. Archarya Roy, "Indestructible Truth:-The Living Spirituality of Tibetan Buddhism".
2. Archarya Roy, " Secret of the Vajra World: The Tantic Buddhism of Tibet".
3. Padma Sambhava, Robert A.Thurman, " The Tibetan Book of the Dead".
4. Sogyal Rinpoche, " Tibetan Book of Living and Dying".
5. Robert Beer, " The Encyclopedia of Tibetan Symbols and Motifs".
6. Dalai Lama, "How to Practice:-The Way to a Meaningful life".
7. Shambhala, Tibetan Buddhism " Kagyupa Nyinggmapa The Encyclopedia of Eastern Philosophy and Religion".
8. S.R.Goyal, " Buddhism in Indian History and Culture".
9. N.Dutt, " The Buddhist Sects: A Survey.p.283.
10. N.Dutt, " Mahayana Buddhism", p.256.
11. Narain (ed), " Studies in the History of Buddhism", Delhi, 1983.
12. Waddell, L.A, "The Buddhism of Tibet or Lamaism", London, 1895.
13. Roerich G., Biography of Dharamsvamin: A Tibet Monk Pilgrim.
14. Saha, S., Buddhism in Central Asia.
15. Venkataraman, "The Central Philosophy of Buddhism," 1954.
16. Wayman, Alex, "The Buddhist Tantras".
17. Bardo Thodol, " Wikipedia", Jan 15, 2005
18. Tibetan Buddhism", " Wikipedia, Jan 15, 2005

# Central Sati Act-
# An Analysis

**Dr. Shrikant Bharti**

*M.A., Ph.D., Dept. of History, Magadh University, Bodh Gaya*

Maja Daruwala traces the history of sati legislation in India and analyses the Central Sati Prevention Act in this context Four months after the Roop Kanwar incident at Deorala, the focus of attention shifted to the need for central legislation to stamp out the oppressive practice of Sati. Two rallies in Delhi, Rajasthan women activists, MP's in the State and at the Centre all called for stringent legislation against Sati. By 1 October, the Rajasthan Legislature had already promulgated an ordinance against Sati which is now a State Act passed by assembly and upheld by the Rajasthan High Court. By the new year, the Commission of Sati (Prevention), Act had passed through both houses with a minimum of debate or amendment.

The particular barbarism of consigning a vibrant life to the flames of a funeral pyre has always provoked the rulers of India to prevent this horror, despite the spurious sanctity that has come to be attached to the practice.

Historically, efforts to prevent Sati by formal means were extent even before the Mughal rulers came to power. Under the Delhi Sultanates (circa 1325) permission had to be sought prior to any Sati. In time this check against compulsion became a mere formality. In any case Hindu women from royal families continued to burn unchecked. Humayun tried, but withdrew a royal fiat against Sati. Akbar insisted that no woman could commit Sati without the specific permission of his Kotwals. They were instructed to delay the woman's decision for as long as possible. Pensions, gifts and rehabilitative help was offered to the potential Sati to wean her away from committing the Act. Children were strictly forbidden from the practice. The later Moghuls continued to put obstacles in the way but the practice carried on in the areas outside Agra. In their own sphere of influence the Portuguese, Dutch and French banned Sati but efforts to stamp out Sati were formalised only under Lord William Bentinck after 1829.

### *British Regulation*

The British were by no means certain of their approach to the custom no matter how abhorrent they found it. Following Mughal example, for a while they tried to regulate it by requiring that it be

carried out in the presence of their officials and strictly according to custom.

Perhaps Bentinck was spurred on to Legislation by the unacceptable rise in Satis in his province, Bengal. In the 10 years between 1815 and 1825, the figure had doubled to 639 deaths by burning. He was certainly egged on by the constant entreaties of the missionaries and encouraged to action by the sea change being wrought amongst an influential section of Hindus led by Raja Ram Mohan Roy's Brahmo Samaj.

Despite this, Bentinck approached the question with caution. He sent circulars to 58 of his administrators to discover whether the army would revolt, whether legislation was advisable and whether Hindu resistance could be contained. The consensus of opinion was that the army would pose no problem.

Finally, within 18 months of having assumed the governorship of Bengal, Lord William Bentinck passed the Sati Regulation, XVII of 1827 on 4 December. The regulation was clear, concise and unequivocal in its condemnation of Sati, declaring it illegal and punishable by the criminal courts. It made zamindars, petty land owners, local agents and officers in charge of revenue collection especially accountable for immediate communication to the officers of their nearest police station of any intended sacrifice of the nature described. In case of wilful neglect the responsible officer was liable to a fine of Rs.200 or 6 months in jail for default.

Immediately on receiving intelligence that a sacrifice was to take place, the police daroga accompanied by others was to go to the spot and declare the gathering illegal, prevail upon the crowd to disperse, explain that any persistence was likely to make them all liable to a crime and if necessary prevent the Sati from taking place or go and inform the nearest magistrate of the names and addresses of all those present. If the sacrifice was over, a full and immediate inquiry had to be undertaken in the same way as for any unnatural death.

Most significantly the regulation eschewed any debate about voluntariness which has so much in the forefront of the Sati debate in 1987. Aiding and abetting a sacrifice whether voluntary or not was to deemed culpable homicide. Punishment was at the discretion of the court according to the nature and circumstances of the case. No justification was to be made that the victim desired to sacrificed. The death penalty was specially spelled out for any violence or compulsion or helping or assisting in burning of a widow while she laboured under a state of intoxication or stupefaction or because any other cause impeded her free will. In such cases the court was instructed to show no mercy.

### *Fundamental Opposition*

Even before the regulation was out, some three hundred orthodox Hindus petitioned Lord Bentinck to stop the abolition. They pleaded that the practise of "self immolation", was not merely a sacred duty but a "privilege" of believers. Bentinck however would not relent.

The sequence of events that followed are and eerie precursor to the events after Roop Kanwars Sati in 1987. Orthodox Bengali Brahmins formed themselves into the Dharma Sabha, just as today we have the Dharam Raksha Samiti in Rajasthan. In all they collected more than Rs.30,000/-a huge sum in those days, to fight the Regulation all the way upto the highest court. By contrast Raja Ram Mohan Roy was given Rs.5000/-to assist the Government in their representations before the Privy Council in England. Both sides gathered petitions and pamphleteered extensively.

In 1832 the appeal was heard by the Privy Council. The petitioners argued that it went against the basic assurance given in George III Statute 37 whereby the Hindus were assured complete noninterference with their religion. The abolitionists argued that there was really no freedom of religion that could go beyond what was "compatible with the paramount claims of humanity and justice." Of 7 privy councillors, three finally voted against Bentinck's regulation but finally it was it was upheld.

With the last hurdle cleared, Madras and then Bombay followed suit with their own legislation banning Sati. Slowly local rulers who came under the yoke of the British also conceded legislation against Sati in conformity with the British regulations. The rulers of Jaipur banned it in 1846.

### *Indian Penal Code*

The 1833 Charter to the East India Company empowered the government to make laws for British India with due respect for native custom and usage. T.B. Macaulay, brilliant academician and lawyer was given the brief of formulating a comprehensive criminal code of universal application through the entire subcontinent. He had no doubt in his mind that Sati was a barbarous practice which could brook no justification. But the administration of 1860 and the Law Commissioners who revised the first draft, were unnecessarily alive to the sensitivities of high caste brahmanical feeling and watered down the murder provisions in their relation to Sati by enacting exception 5 of section 300. Under this, a mitigation was provided for murder when "the person whose death is caused, being above the age of 18 years, suffers death or takes the risk of death with his own consent." Despite this concession under the IPC, taking of life is absolutely prohibited to everyone in

every circumstance. But Punishment varies depending on the nature and circumstances of the offence.

If on the facts, the ritualistic public burning or burying alive of a woman is shown to be involuntary, it is murder plain and simple (Section 300 IPC 1860). In the unlikely even that the woman was a willing participant, her death still amounts to culpable homicide (Section 299 or via exception 5 of Section 300) or at the very least to abetment to suicide (Section 306). Even where a Sati is deemed to be a suicide i.e. voluntary self-killing, the presence of any intoxicant or anything which in fact inhibits free will makes the abettor as culpable as if he had helped murder the victim (section 305 IPC). The punishment for this is exactly the same as for murder.

Where the Sati is incomplete, a person helping to achieve it is caught by the attempt sections of the IPC. Depending again on the circumstances, the crime may be attempt to murder (section 307); attempt to culpable homicide not amounting to murder (Section 308); or abetment to suicide punishable with one year's imprisonment and attempt to commit suicide which is an offence for the woman as well.

Under the present IPC no one who abets a Sati should escape the consequences of his acts. Abetment can take the form of instigation, conspiracy to do an act or make an illegal omission, intentional aiding, or wilful misrepresentation or wilful concealment (Section 107). Again depending on the facts, the aider could be abeting murder, culpable homicide. Form all the above it is clear that there are enough and more laws on the statute books to punish those guilty of making any human sacrifice including widow burning.

## References


- Abbe J.A.: *Hindu Manners, Customs and Cerimonies,* Oxford, 1985
- Adeney: *Coalition Politics and Hindu Nationalism*, Cambridge Univ Press, Delhi, 2002.
- Ainapur, L. S.: *Dynamics of Caste Relations in Rural India*, Jaipur, Rawat Publications, 1986.
- Ambedkar, B. R.: *Annihilation of Caste: An Undelivered Speech,* Arnold Publishers, New Delhi, 1990.
- Apte, V. M.: *Social and Religious Life in the Grihya Sutras*, Bombay, 1954.
- Ashton, S.R. : *British Policy Towards the Indian States, 1905-1939*, London, Curzon, 1982.
- Augustine, P.A.: *Social Equality in Indian Society*, New Delhi, Concept, 1991
- Aurobindo, Sri: *Bande Mataram: Early Political Writings*. Pondicherry, 1972.
- Bamfield, J.A.M.: *Thoughts on Dr. Ambedkar*, Bheem Patrika Publications, Jaladhar, 1972.
- Barill, C.: *Social and Political Ideas of B.R. Ambedkar*, Aalekh Publishers, Jaipur, 1977.

# The Swadeshi Movement of 1905

**Dr. Sudha Prasad**
*Lecturer, Dept. of History, GBM College, Gaya*

The Swadeshi Movement of 1905 started as an Anti-Partition agitation against the British Government's decision to partition Bengal, to break up the unity and solidarity of the Bengali people standing at the vanguard of India's national resurgence. In spite of vehement protests from the press and the platform all over Bengal, the bureaucratic government of Lord Curzon paid no heed to it and despisingly boycotted the united Bengali public opinion. 'A boycott of one kind was therefore sought to be met by a boycott of another', as Satis Chandra Mukherjee put it, as the last legitimate weapon of a disarmed people. As facts stand at present, the idea of Boycott of British goods was not the work of a particular man nor was it devised in the country first in 1905. It was an organized expression of the national will and 'the mind of the whole community' made its contributions to its final emergence.

## The Boycott Technique

From the I.B. Records of the Government of West Bengal we learn that on the eve of the Swadeshi Movement a powerful protagonist of the idea of boycotting British goods was Tahal Ram Ganga Ram (an inhabitant of North Western India and belonging to the Arya Samaj) who visited Calcutta during February-March, 1905, delivering inflammatory speeches every evening before the students in the College Square, and asking them to go in for Boycott of British goods in favour of indigenous products. His lectures made a deep impression on many young men of Calcutta at that time. This is corroborated by the Bengali Autobiography of Krishna Kumar Mitra, one of the great stalwarts of the Swadeshi Movement. In the exciting times of the Anti-Partition agitation Krishna Kumar Mitra's call for Boycott through his weekly organ, the Sanjivani (July 13, 1905) found a ready response in the country. 'When she (Bengal) declared the Boycott', wrote Aurobindo in 1908, 'she did so without calculation, without reckoning chances, without planning how the Boycott could succeed. She declared it. Was the intellect at work when she declared it? Was it her leaders who planned it as a means of bringing the British to their knees? Everybody knows that it was Kishoregunj, it was Magura, the

obscure villages and towns of East Bengal which first declared the Boycott. What brain planned it, what voice first uttered it, history will never be able to discover. None planned it, but it was in the heart of the nation and God revealed it.'

The Boycott scheme which was first applied to the economic field extended before long to other departments involving a totalitarian scheme of Boycott-the Boycott of British goods, British schools, British courts and British bureaucratic administration. Even the idea of social Boycott of persons purchasing foreign articles was insisted upon. But for practical reasons the idea of 'no tax to the government' was temporarily held in abeyance.

### The Idea of Swadeshi

Boycott was after all a negative concept. Its positive counterpart was the Swadeshi, first applied to the economic field involving the use of Swadeshi or indigenous goods 'even at a sacrifice'. Like Boycott, Swadeshi also soon became an all-comprehensive category. The idea of economic Swadeshi was advocated, among other things, in Bengal as early as the days of the Hindu Mela (functioning since 1867). In the seventies of the 19th century a Swadeshi movement was initiated in Gujarat and the Deccan. Almost about the same time, thanks to the enthusiasm of the Arya Samaj, a similar movement came into existence in the Punjab also.

So far as Bengal is concerned, it should be clearly borne in mind that the spirit of industrial Swadeshi was abroad for a long time past, particularly since the early nineties of the 19th century. Barrister Jogesh Chandra Chaudhury was 'one of the earliest pioneers' in the field of industrial revival. It was he who 'first started an industrial exhibition of Swadeshi articles as an annex to the Indian National Congress in December 1901.'

Early in the 20th century Satis Chandra Mukherjee founded the Dawn Society (July, 1902) in the premises of the present Vidyasagar College and organized a Swadeshi Stores under its auspices for the promotion of indigenous manufactures. The efforts of the Dawn Society to popularize the cause of Swadeshi goods by lectures and exhibitions, organized sale and propaganda through its journal, the Dawn, were remarkable and together served as a prelude to the Swadeshi Movement of 1905. Rabindra Nath Tagore was deeply impressed by Satischandra's selfless and total dedication to nationbuilding activities.

The Swadeshi Movement, observed Satis Mukherjee in 1906, 'is patriotic in the first instance and only economic or industrial in the second. A purely economic movement would not have proved

itself to be a whole people's or a nation's business, but its activities would have been confined amongst a comparatively limited class of people with industrial instincts and business capacities. The Swadeshi Movement, it must therefore be understood, is not an industrial movement, in its essence, but is essentially a moral movement, in the larger sense of the word, concerning itself with rousing the moral sense of a whole people in its relations with a bureaucratic power.'

Bipin Chandra Pal, the foremost architect of the Swadeshi Movement of 1905, also characterized the national upsurge as a 'spiritual movement'. In his article on 'The Bed-Rock of Indian Nationalism', he wrote thus in 1908: 'The strength of the new movement in India lies in its supreme idealism. It is not a mere economic movement, though it openly strives for the economic resurrection of the country. It is not a mere political movement, though it has boldly declared itself for absolute political independence. It is an intensely spiritual movement having for its object not simply the development of economic life or the attainment of political freedom but really the emancipation, in every sense of the term, of the Indian manhood and womanhood.'

### The Demand for Swaraj

The fourth idea closely associated with the Swadeshi Movement of 1905 was the aspiration after complete political independence or the separation of India from the British Empire. In the 19th century or even at the dawn of the 20th, the Indian politicians in general continued to believe in the paramountcy and justice of the British rule in this country and considered it an 'irrevocable necessity' for the furtherance of their national interests. In the pre-Swadeshi days (1903-04) even Bipin Chandra Pal and Upadhyay Brahmabandhab cherished the same complacent belief. But with the outbreak of the Swadeshi Movement, the old idea of mendicant politics was rapidly losing its hold on the imagination of the younger generation A larger and more ennobling ideal for political endeavour was found increasingly intoxicating. The overhauling of the entire Congress, both its ideal and its line of action, was deemed imperative by the more advanced political party, called the New Party or the Nationalist Party, in contradistinction to the old guards of the Congress or the Moderates.

The New Party in Bengal counted among its foremost protagonists men like Upadhyaya Brahmabandhab, Bipin Chandra Pal and Aurobindo Ghose. It was mainly organized and set in motion in Bengal by Aurobindo. Before the appearance of

Aurobindo in Bengal politics, there were certainly many kindred spirits (like his) in the country, but there was no New Party. It was Aurobindo who, more than anybody else, was instrumental in organizing the men with Extremist leanings in the country into the New Party and animating it along with Bipin Pal with the intoxicating ideal of Purna Swaraj or complete Independence for India. And this marked a veritable revolution in the realm of our political thought. The New Party sketched and developed this invigorating ideal with the greatest fidelity to the people's will. It had its organs in journals like the Kesari, the New India, the Sandhya, the Yugantar and the Bande Mataram, which played a very remarkable role in those days in directing the national mind along the lines of complete political emancipation from foreign thraldom. Instead of trusting the alien bureaucracy, the New Party sought its strength in the revived manhood of the nation. It declared in no uncertain voice that 'political freedom is the life-breath of a nation; to attempt social reform, educational reform, industrial expansion, the moral improvement of the race without aiming first and foremost at political freedom is the very height of ignorance and futility' (Aurobindo). And this ideal was officially accepted by the Congress in its memorable session held at Calcutta in December,1906.

It was at the Calcutta session that the political goal of India was defined as 'Self-Government or Swaraj like that of the United Kingdom or the Colonies' by the President himself, Dadabhai Naoroji, that old, veteran politician who, only a year ago in 1905, in a series of letters addressed to the Congressmen, could not envisage any ideal beyond 'Self-Government under British paramountcy' as goal for India's political struggle.

## References


- A. Wolpert: *Tilak and Gokhale: Revolution and Reform in the Making of Modern India,* Berkeley, 1962.
- Adeney, K.: *Coalition Politics and Hindu Nationalism*, Cambridge Univ Press, Delhi, 2002.
- Ahmad, Razi: *Indian Peasant Movement and Mahatma Gandhi*, Shabd Prakashan, Delhi, 1987.
- Ajay Shanker : *Gandhian Satyagraha : An Analytical and Critical Approach*, New Delhi, 2000.
- Anthony, J. Parel : *Gandhi, Freedom, and Self-Rule*, New Delhi, Vistaar, 2002.
- Asha, K. : *Globalization, Democracy and Culture : Situating Gandhian Alternatives,* Jaipur, Pointer, 2002.
- Azad, Maulana Abul Kalam: *India Wins Freedom*, New Delhi, Orient Longman, 1959.

# Role of Street-Level Bureaucracy and Project Implementation Process in India

**Manoranjan Kumar Singh**
*Research Scholar, VKSU, Arrah*

In this study, we apply the concept of street-level bureaucracy from public management to analyse the issues relating to the implementation of a mini hydel project in rural India, and draw important lessons for entrepreneurs as well as policy planners for the promotion of entrepreneurship in emerging markets in general. India's energy policy promotes "green energy" as a renewable and eco-friendly alternative to the fast depleting conventional energy sources with a variety of fiscal and other incentives to encourage private investment in mini hydel projects (India's 11th five-year Plan, 2002-07: Energy sector). In this paper, based on first-hand observation of one such power sector start-up in India over a three-year period, we carefully analyse the issues confronting entrepreneurs in dealing with street-level bureaucracy, and draw important lessons for entrepreneurs as well as policy planners for the promotion of entrepreneurship in emerging markets in general.

India is the 7th largest producer and the 5th largest consumer of energy in the world. However, a majority of India's 1 billion population does not have access to electricity (India's 11th five-year Plan, 2002-07: Energy sector). The Indian government is therefore making herculean efforts both in public and private sectors to increase its power supply and distribution. Success of this effort is critical to improving the quality of life of the rural poor and empowerment of the "bottom of the pyramid" (Prahalad and Lieberthal 2003). Considering the adverse environmental impacts of generating electricity through conventional energy sources such as coal, hydro-electric power (Hydel) is clearly an attractive alternative to meet the energy needs of a rapidly growing economy. Small wonder, the Indian government in recent years has been encouraging private investment, both domestic and foreign, to harness Hydel power.

Various tax benefits and preferential terms of institutional credit are being offered to entrepreneurs and small and medium-sized enterprises (SMEs) to invest in mini Hydel projects with a capacity

of 25 MW or less. Bureaucratic procedures are being simplified and rates of tariff for Hydel-power rationalized (Energy India, April 2006, page 21-22). While the reforms in policy are laudable, their implementation remains questionable. The key to understanding this gap between policy and implementation is the role of street-level bureaucracy.

Street-level bureaucracy, a term coined by Lipsky (1980), refers to "public service workers who interact directly with citizens in the course of their jobs, and who have substantial discretion in the execution of their work". Since they account for a substantial proportion of the personnel in any bureaucracy and enjoy wide discretion in the execution of public policy, street-level bureaucracy determines how a policy isimplemented in practice. The concept of street level bureaucracy and its role in policy implementation has evoked considerable interest among scholars of public administration and public policy over the years. Extant empirical research in this area offers significant insights into how private entrepreneurs could manage for successful implementation of their projects.

Based on a study of 11,544 cases to investigate the impact of street-level decision making and service rationing on the treatment of senior citizens managed by the Alabama Department of Human Resources, it was found that supply and demand for resources affected both compliance and substantive decisions. When the manner of decision making was adjusted for administrative constraints, the underclass hypothesis, wherein older African Americans had lower compliance rates and higher intervention rates, was confirmed. It was also found that this social service agency practiced cue taking, and more dependence cues were used in substantive situations than in compliance situations. This study confirms Lipsky's theoretical prediction about the service-rationing model being applicable to social service agencies.

Ellis and Rummery (1999) conducted a study on three types of social work teams that handled needs assessment practices where a newly implemented system allowed decision-making from the "bottom-up": generic teams responsible for elderly people and younger disabled people, specialist teams which handled with individuals who had physical and sensory impairments and hospital teams dealt with patients within a hospital. The methodology involved observing the assessment practice by the social workers and recording the analyses from the feedback sessions. The social workers of all the teams felt that the new assessment procedures threatened their professional identities, resulted in greater formalization, and increased the workload of frontline practitioners. The study also showed that while generic

teams made their assessments in a criteria-driven manner that followed official guidance, hospital teams accomplished the same off-line due to the significant portion of the workload that screenings assumed. Even though the generic teams complained about de-professionalization, they complied with the system procedures that were designed to regulate labour time, resources, and even work flow. Along with the hospital team, they also understood and gained satisfaction from meeting the managerial objectives of the new system. Despite the rational thrust from authoritative guidelines, there was no common approach to the manner of determining the accessibility of the assessments that existed amongst the studied teams. The specialist teams, protected from the barrage of rates that the generic and hospital teams had to handle, enjoyed a greater range of external resources. Because of these reasons, the specialist teams had the greatest level of professional autonomy and identity with their work.

A study that investigated referrals made by child welfare agencies to non-psychiatric mental health services revealed that the conduct of case managers, judges, and psychologists was consistent with Lipsky's formulation of street-level bureaucracy. The major force that drove child welfare to mental health providers was the court system wherein judges used their discretion to order the assessments and treatments. Although well intentioned, the judges lacked the necessary professional knowledge to make decisions regarding mental health. Court-appointed psychological evaluations were ordered mainly because of their perceived efficiency. This created a conflict when the opinion of child welfare professional differed from the evaluation results Case mangers sought high-quality therapists but the courts allegedly pushed their clients to unfocused therapy and unqualified therapists, presumably because of their need to adhere to unrealistic deadlines. The case managers' discretion was also hindered by the judges' referrals, which were mainly influenced by their own case agendas and beliefs.

A study on the implementation of Social Security Disability (SSD) program in all the fifty states explored how state and local level economic, political, and other environmental factors could impact the discretion of street-level bureaucrats. The discretion of street-level bureaucrats was affected by the task environment, or the level of need, of each state. More SSD recipients were found in the states that had higher rates of manufacturing employment, more people between the ages of 54 and 64, and more families with lower income. Street-level bureaucrats had also to consider political factors while making decisions. Disability claims were more prevalent in Democrat ruled states than states with Republican governments. The study also found that an open systems view of

bureaucracies was supported because the determination of disability was influenced by the prevailing environment. Contrary to Lipsky prediction that "discretion will disentitle claimants", street-level bureaucrats factored in the level of need of the claimants and exercised their discretion as a tool to achieve equity. The study however did not suggest that their professional values were compromised (Keiser, 1999).

A similar finding was reached by Scott (1997) in a study that assessed the determinants of bureaucratic discretion in street-level decision making in a simulated public assistance agency. Three categories of factors influenced bureaucratic discretion-characteristics of the organization (organizational control), client characteristics, and individual decision-maker's characteristics. The data collected from the experimental study were coded for organizational treatment level, client compassion, professional field, and gender of the subjects.

The high-compassion clients received more in benefits than the low-compassion clients. The clients handled by a high treatment level organization received lower benefits than those handled by a low treatment level one. The subjects with backgrounds in social work recommended more benefits than the public administration-type subjects. As regards client gender, decisions for the female clients were evenly influenced by organization and client characteristics, and they were three times as influential as the subjects' professional fields. With male clients, the organizational control was twice as influential as the client compassion and nearly three times as influential as the subjects' professional fields. The study showed that, while subjects were greatly influenced by high-level organizational control, there was not greater consistency between the clients of different compassion. This was surprising because the main purpose of organizational control was to use similar discretion with clients that had comparable needs.

## References


- Basu, Prahlad K.: *Governance and Public Administration for Poverty Reduction*, Salvador, Brazil, 1997.
- Benjamin, Joseph: *Scheduled Castes in Indian Politics and Society*, New Delhi, Ess Ess Publications, 1989.
- Bhuyan, B. C.: *Political Development of the North East,* New Delhi, Omsons Publications, 1989.
- Blau, M.: *Bureaucracy in Modern Society,* New York, Random House, 1956.
- Brierly, L.: *The Law of Nations,* New York, Oxford University Press, 1955.
- Carl J. Friedrich: *Constitutional Government and Democracy,* Boston, Ginn, 1950.
- Conway, Margaret : *Political Analysis: An Introduction*, Boston, Allyn and Bacon, 1972.

# Human Rights Instruments against Discrimination of Women

**Awdhesh Kumar**
*Research Scholar, JPU, Chapra*

In 1993, 45 years after the Universal Declaration of Human Rights was adopted, and eight years after CEDAW entered into force, the UN World Conference on Human Rights in Vienna confirmed that women's rights were human rights. That this statement was even necessary is striking – women's status as human beings entitled to rights should have never been in doubt. And yet this was a step forward in recognizing the rightful claims of one half of humanity, in identifying neglect of women's rights as a human rights violation and in drawing attention to the relationship between gender and human rights violations.

The Convention on the Elimination of All Forms of Discrimination Against Women defines the right of women to be free from discrimination and sets the core principles to protect this right. It establishes an agenda for national action to end discrimination, and provides the basis for achieving equality between men and women through ensuring women's equal access to, and equal opportunities in, political and public life as well as education, health and employment. CEDAW is the only human rights treaty that affirms the reproductive rights of women. The Convention has been ratified by 180 states, making it one of the most ratified international treaties. State parties to the Convention must submit periodic reports on women's status in their respective countries. CEDAW's Optional Protocol establishes procedures for individual complaints on alleged violations of the Convention by State parties, as well as an inquiry procedure that allows the Committee to conduct inquiries into serious and systematic abuses of women's human rights in countries. So far the Protocol has been ratified by 71 States.

In 1994, the International Conference on Population and Development in Cairo (ICPD) articulated and affirmed the relationship between advancement and fulfilment of rights and gender equality and equity. It also clarified the concepts of women's empowerment, gender equity, and reproductive health and rights.

The Programme of Action of ICPD asserted that the

empowerment and autonomy of women and the improvement of their political, social, economic and health status was a highly important end in itself as well as essential for the achievement of sustainable development. In 1995, the Fourth World Conference on Women in Beijing generated global commitments to advance a wider range of women's rights. The inclusion of gender equality and women's empowerment as one of the eight Millennium Development Goals was a reminder that many of those promises have yet to be kept. It also represents a critical opportunity to implement those promises. In spite of these international agreements, the denial of women's basic human rights is persistent and widespread. For instance:

- Over half a million women continue to die each year from pregnancy and childbirth-related causes.
- Rates of HIV infection among women are rapidly increasing. Among those 15-24 years of age, young women now constitute the majority of those newly infected, in part because of their economic and social vulnerability.
- Gender-based violence kills and disables as many women between the ages of 15 and 44 as cancer. More often than not, perpetrators go unpunished.
- Worldwide, women are twice as likely as men to be illiterate.
- As a consequence of their working conditions and characteristics, a disproportionate number of women are impoverished in both developing and developed countries. Despite some progress in women's wages in the 1990s, women still earn less than men, even for similar kinds of work.
- Many of the countries that have ratified CEDAW still have discriminatory laws governing marriage, land, property and inheritance.

While progress has been made in some areas, many of the challenges and obstacles identified in 1995 still remain. In addition, the new challenges for women's empowerment and gender equality that have emerged over the past decade, such as the feminization of the AIDS epidemic, feminization of migration, and increasing of trafficking on women need to be more effectively addressed.

Any individual, non-governmental organization, group or network may submit communications (complaints/appeals/ petitions) to the Commission on the Status of Women containing information relating to alleged violations of human rights that affect the status of women in any country in the world. The Commission on the Status of Women considers such communications as part of its annual programme of work in order to identify emerging trends

and patterns of injustice and discriminatory practices against women for purposes of policy formulation and development of strategies for the promotion of gender equality. Noting that the Charter of the United Nations reaffirms faith in fundamental human rights, in the dignity and worth of the human person and in the equal rights of men and women.

Noting that the Universal Declaration of Human Rights affirms the principle of the inadmissibility of discrimination and proclaims that all human beings are born free and equal in dignity and rights and that everyone is entitled to all the rights and freedoms set forth therein, without distinction of any kind, including distinction based on sex. Noting that the States Parties to the International Covenants on Human Rights have the obligation to ensure the equal rights of men and women to enjoy all economic, social, cultural, civil and political rights.

Considering the international conventions concluded under the auspices of the United Nations and the specialized agencies promoting equality of rights of men and women, Noting also the resolutions, declarations and recommendations adopted by the United Nations and the specialized agencies promoting equality of rights of men and women.

Concerned, however, that despite these various instruments extensive discrimination against women continues to exist. Recalling that discrimination against women violates the principles of equality of rights and respect for human dignity, is an obstacle to the participation of women, on equal terms with men, in the political, social, economic and cultural life of their countries, hampers the growth of the prosperity of society and the family and makes more difficult the full development of the potentialities of women in the service of their countries and of humanity. Concerned that in situations of poverty women have the least access to food, health, education, training and opportunities for employment and other needs. Convinced that the establishment of the new international economic order based on equity and justice will contribute significantly towards the promotion of equality between men and women, Emphasizing that the eradication of apartheid, all forms of racism, racial discrimination, colonialism, neo-colonialism, aggression, foreign occupation and domination and interference in the internal affairs of States is essential to the full enjoyment of the rights of men and women. Affirming that the strengthening of international peace and security, the relaxation of international tension, mutual co-operation among all States irrespective of their social and economic systems, general and complete disarmament, in particular nuclear disarmament under

strict and effective international control, the affirmation of the principles of justice, equality and mutual benefit in relations among countries and the realization of the right of peoples under alien and colonial domination and foreign occupation to self-determination and independence, as well as respect for national sovereignty and territorial integrity, will promote social progress and development and as a consequence will contribute to the attainment of full equality between men and women.

Convinced that the full and complete development of a country, the welfare of the world and the cause of peace require the maximum participation of women on equal terms with men in all fields. Bearing in mind the great contribution of women to the welfare of the family and to the development of society, so far not fully recognized, the social significance of maternity and the role of both parents in the family and in the upbringing of children, and aware that the role of women in procreation should not be a basis for discrimination but that the upbringing of children requires a sharing of responsibility between men and women and society as a whole.

Aware that a change in the traditional role of men as well as the role of women in society and in the family is needed to achieve full equality between men and women, Determined to implement the principles set forth in the Declaration on the Elimination of Discrimination against Women and, for that purpose, to adopt the measures required for the elimination of such discrimination in all its forms and manifestations.

## References


- Arat, Zehra F.: *Democracy and Human Rights in Developing Countries*. Boulder, Colorado: Lynne Rienner Publishers, 1991.
- Bell, Daniel A.: *East meets West. Human rights and democracy in East Asia,* Princeton, Princeton University Press, 2000.
- Cassese, Antonio: *Human Rights in a Changing World*. Philadelphia: Temple University Press, 1991.
- Davis, Michael C.: *Chinese Values and Human Rights,* Hong Kong: Oxford University Press, 1995.
- Forsythe, David P.: *Human Rights and World Politics*. Second Edition. Lincoln: University of Nebraska Press, 1989.
- Hannum, Hurst: *Autonomy, Sovereignty, and Self-Determination: The Accommodation of Conflicting Rights*. Philadelphia: University of Pennsylvania Press, 1990.
- Jacobson, David : *Rights Across Borders: Immigration and the Decline of Citizenship*. Baltimore and London: The Johns Hopkins University Press, 1997.
- Kimlycka, Will: *The Rights of Minority Cultures*. Oxford and New York: Oxford University Press, 1995.

# Cropping Pattern in Riverine Area (Char) A Case Study of Lower Assam

**Sahabuddin Ahmed**

*Associate Professor, M.K. College, Subha*

## Introduction

The chars are spread over the entire course of the mighty river Brahmaputra and a number of its tributaries flow from Sadiya in the East to Dhubri in the west ; covering 14 districts of Assam. According to the Char Area Development authority there are 2251 char villages in Assam where 24,9037 people reside (9.35 percent of the total population of the state).

It appears that overall number of char villages have decreased in Nalbari, Barpeta, Goalpara, Bongaigaon, Morigaon, Lakhimpur and Tinisukia districts where as there has been increase in number in Kamrup, Dhubri, Darrong, Nagaon, Jorhat, Sonitpur and Dhemaji districts during 1992-93 and 2003-04 respectively. Barpeta district had the maximum number (351) of char villages in 1992-1993 but 2003-04 Dhubri, has the maximum number of char villages (480) in Assam.

According to the Ground Water Board (CGWB) for the Brahmaputra valley; the total ground water recharges is 9148 million cubic meters (MCM). Further the valley has considerable amount of surface discharge during the monsoon. The rainfall and the river water keep the valley saturated with about 5000 MCM. In catchment of Brahmaputra and its tributaries a number of riverine land forms are available. The 'Char' and 'Chapri' that are periodically formed and eroded due to meandering, braiding and course changing of the rivers.

These are flat lands surrounded by river waters on one or more sides are subected to frequent flash flooding for varying length of time as well as to varying depth. The chars are mainly characterized by flood prone plain areas with sandy loam and silty loam soil textures which is under water is available at shallow depth. Inundation of cultivated fields during monsoon season has been the regular phenomenon. The riverine topography consists of three types of cultivable land situations viz upland char, medium land char, and low land char. For operational convenience the riverine

situation can be divided into three seasonal rhythms viz– active monsoon (or flood season) June to September. Post monsoon (or last flood season) October to February and pre-flood season—March to May.

The post flood season is utilized for rabi cultivation and pre-flood season is used for cultivation of summer crops including short duration ahu rice. Ahu paddy is the main food crop while jute is the major cash crop. Wheat is replaced by Iri paddy, has gained prominence in char areas in rabi season. The post monsoon period, the cultivable plots are endowed with variety of crops i.e. wheat, lentil, lineseeds, seasum, coriander, mustard, chilli, variety of spices and vegetables are common crops grown in char areas. Wheat is being replaced by 'Iri' paddy in these areas.

Cropping pattern is largely dependent upon the timing and intensity of floods. While a low flood is always a welcome phenomenon, and early flood inevitably spells disaster for the char cultivators. Low flood, which brings in silt, increases the productivity of soil. But high flood render the land unproductive due to the problem of sand casting. Similarly, early flood causes extensive damages to the standing Ahu paddy and jute crops, which results in loss of income and food security during post flood season.

The agricultural technologies are mostly intensive as well as location specific in nature. The term 'technology adoption' means selecting and applying a particular technology or a set of technology in production process over a period of time. Both socio-economic and environmental factors influence the adoption of technology in agricultural production process.

Most of the char areas have been suffering from baggardness as far as adoption and spread of new technology are concerned. Not many references are available regarding adoption of tecnologies and problems and prospects of char area farmers. The present study therefore tries to analyse these aspects with the expectations that the findings would help the policy makers formulate policy for the upliftment of economic condition of the char farmers.

## The Study Area

Lower Assam is selected as the study area. Specially Kamrup, Nalbari, Barpeta, Goalpara, and Dhubri district. The average rainfall of the area is about 2741 mm. The annual temperature range from 7 to 9 degree centigrade. Soils are formed on the riverine alluviam deposits brought down from the adjacent Assam Himalaya by the river Brahmaputra and its tributaries. Majority of the char lands of

these areas are scattered in the riverine flood of the Brahmaputra and along the courses of terminees of a number of tributaries viz– Pagladia, Beki, Saulkhowa, Puthimari etc. The lower Assam consists of 5 districts.

In total five char areas/villages are presenting one from each district were randomly selected for the study. The selected char villages are Garur char, Tiladia char, Khutabori, Badhua char and Guruya char. In total 200 numbers of farmers (40 from each selected char villages) were randomly selected for detail investigation.

## Objectives and Methodology

The pattern of resources used has been studied in terms of land, labour (human labour and bullock labour) and working capital used per hectare for different crops. Data collected from 5 Community Development Blocks (C.D. Block). Data were collected through questionnaire. From each block two kayam villages (char villages) were selected for field study.

The selection of villages was done on two consideration. First— the selected village should be fairly representative of the whole block i.e. it should contain the basic characteristic feature of the block. Secondly, the necessary infrastructure for the use of new agriculturak technology at least in some households of selected villages.

A multistage random sample method was used. In the first stage selection from each community development block two char villages were selected at random. In the second stage 10 (ten) households from each selected village were selected at random study. Therefore in all 120 households from 12 villages were selected for study as ultimate units of observation.

Data relating to the adoption of agricultural technology by each farm household in the sample have been collected by interviewing, a senior member, usually head of the household of the family. For carrying out these interviews and for recording the information a schedule of questionnaire finalized after a number of tests and checks in the field.

## Results and Discussion

As per estimates of the char area development authority during 2003-04 char villages increased than 1992-93 and the population also increased in 2003-04. It is to be noted that the literacy rate 8% increased in 2003-04 in comparison to 1992-93. The relevant information is shown below in table – 1.

It is found that over all number of char villages have decreased in Nalbari, Bapeta, Goalpara.

There has been increase in their number in Dhubri 1992-93 and 2003-04 respectively. Barpeta district had the maximum number 351 of char villages in 1992-93 but 2000 (2003-04) Dhubri has the maximum number of char villages (480) and cultivable land than other district of lower Assam.

***Table-1 : Number of Char Village in Lower Assam***

| | *1992-93* | | | *2003-04* | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| *District* | *Char villages* | *Dist.wise population* | *Rate of literacy of char* villages | *Char villages (in p.c.)* | *Dist.wise population* | *Rate of literacy of char* villages | *Educational Institutions (in p.c)* |
| Kamrup | 145 | 1,05,687 | 28% | 175 | 1,54,508 | 36% | LP/ME/H.S |
| Nalbari | 58 | 62,687 | 20% | 32 | 83,602 | 35% | LP/ME/H.S |
| Barpeta | 351 | 2,75,525 | 29% | 277 | 2,68,344 | 31% | LP/ME/H.S |
| Goalpara | 187 | 1,30,007 | 24% | 179 | 1,86,826 | 39% | LP/ME/H.S |
| Dhubri | 313 | 2,33,206 | 24% | 480 | 6,89,909 | 29% | LP/ME/H.S |
| | **Total** | **1057** | **9,07317** | **25%** | **1143** | **13,83,189** | **34%** |

It is observed that the all char villages the average area (of suitable land for cultivation) per family 1.02 hectare. Because of periodic errosion by rivers, the farmers in the unstable char areas have to keep on shifting their farming sits by setting on newly developed areas.

In these areas the farmers cultivate the land with periodic patta (ownership). It is more heartening to note that average 66 percent of the familiar are below the poverty line. The medical facilities in terms of Primary Heath Centre/Dispensaries/Medical Sub-Centre exist.

### *Cropping Pattern*

History bears testimony that immigrants have changed the agricultural secnareo of Assam by dint of this hard work and skill. They have not only brought new areas (waste lands) under cultivation but have also commercialised and diversified agriculture by introducing various new crops/varities which were in tune with micro-environment prevailing in these areas.

Flood play an important role in determining the cropping pattern in the char areas.

### *Table-2 : Number of Cultivable Land in Selected Char Villages of Different Districts*

| *Name of District* | *Name Char villages* | *Name Dev. block under which vill. is situated* | *Dist. wise suitable char land for cultivation (hec)* | *Total land of the char village (hec)* | *Suitable land for cultiva -tion (hec)* | *Un Suitable land (hec)* | *Total No. of Population house-* | *Male* | *Total No. of Female* | *BPL* | *P.C. of BPL facility* | *Medi-cal* |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 | 7 | 8 | 9 | 10 | 11 | 12 | 13 |
| Kamrup | Garur Char | Samoria Dev. block | 11,654 | 218.6 | 196.64 | 220 | 1001 | 874 | 275 | 108 | 50% | PHC |
| Nalbari | Tiladia Char | Barkhetri Dev. block | 18,966 | 419.75 | 239.90 | 179.1 | 1070 | 857 | 210 | 89 | 42.8% | Sub-centre |
| Barpeta | Khutabori Char | Chenga Dev. block | 24731 | 198.29 | 108.29 | 98 | 570 | 342 | 108 | 74 | 68.5% | PHC |
| Goalpara | Badhua Char | Matia Dev. block | 13728 | 166 | 136.69 | 29.31 | 700 | 614 | 131 | 89 | 679 | Sub-centre |
| Dhubri | Guruya | Birsingh Dev. block | 67124 | 221.04 | 179.84 | 41.2 | 975 | 846 | 175 | 131 | 75% | PHC |
| | | | | 861.36 | | | | 839 | | | | |

***Source :*** Socio-Economic Survey Report of Char Areas of Assam. Published by the Directorate of Char Areas Development (2003-04)

A flood of low magnitude is a welcome phenomenon as it makes the soil fertile with deposit of silt, while a flood of higher magnitude accompanied with erosion often wreck the sowing and harvesting of crops are maintained in such way that flood damages are less. The peak period of flood from July to October is an agricultural lean season as majority of the chars are inundated under flood water. Nevertheless, whenever possible sali paddy is cultivated during the year.

During pre-monsoon and monsoon season, paddy (direct so an Ahu and Amon, and hans planed sali) Jute, Mesta, Foxtail millet, Buckwheat etc. are common kharif crops. Among the kharif crops, the cultivation of Ahu paddy starts during March and is usually harvested during June. Amon paddy also continues simultanously. Jute occupies a longer period between April to early August during which washing and drying of fibers are also completed.

Sali paddy cultivation starts during June and harvested in December. During post monsoon season variety of crops namely wheat, cheena (prosmillet), boro paddy, barly, sweet potato, mustard, seasum, linseed, niger, sunflower, peas, gran, black gran, soybean, coriander, kaljira, onion, chilli are grown.

Wheat is generally soon during November and harvested during March. The char dwellers introduced large scale 'jute' cultivation which till date is one of the major crops of Assam. They diversified and commercialised agriculture in the state by bringing in large tracts of unihabited, uncultivated and remote area under cultivation including the char areas. By dint of hard work and gifted with superior agricultural skill. These char dweller reaped gold from the barren land. This process continues till today. However despsite their toil, they are among the most poorest, illiterate and neglected population group of Assam.

It is observed that Ahu rice based on cropping system are more prevallent in riverine areas. The cropping system is identified in the riverine villages are shown in table-3.

Pre-flood Ahu– Post flood sali rice us widely adopted cropping systems followed by the farmers of the surveyed villages (34 – 38%). Among other notable cropping system Ahu rice fallow– rapeseed/ niger (12–20%) and ahu rice fallow rabi vegetables (14–22%) are mostly adopted by the farmers. In Garur char, Tiladia char, Khutabori char, Badhua char and Guruya char, deep water rice as mono-cropping are also observed. Deep water rice + Ahu rice as mixed cropping are seen in Garur char, Badhua char and Guruya

char (4 – 10%). Summer vegetables– Oilseeds crops– rabi vegetables is another cropping system observed in all the surveyed villages.

### *Table-3: Cropping system followed in char area (percent)*

| *Cropping system* | *Garur Char* | *Tiladia* | *Khutabari* | *Badhua* | *Guruya* |
|---|---|---|---|---|---|
| Pre flood Ahu rice, post flood Sali rice (late transplanted beyond mid sept.) | 36.00 | 34.00 | 34.00 | 38.00 | 34.00 |
| Ahu rice fallow ropseeds/niger | 20.00 | 12.00 | 20.00 | 18.00 | 18.00 |
| Ahu rice-fallow rabi vegetables | 18.00 | 18.00 | 22.00 | 14.00 | 14.00 |
| Ahu rice-Seasamum Deep water rice (broad cast) as mono cropping | 04.00 | — | — | 14.00 | 08.00 |
| Deep water rice + Ahu rice as mixed cropping (with 1.1 & 1.2 seed proportion) | — | 06.00 | — | — | 08.00 |
| Summer vegetables– ground nut/niger rabi vegetable/potato/maize | 06.00 | 04.00 | 10.00 | 08.00 | 08.00 |
| Kharif maize– rabi vegetables | 04.00 | — | — | — | 06.00 |
| Fallow– pea/blackgram/greengram | — | 02.00 | 02.00 | — | — |
| Green manuring crops pea/potato | 04.00 | — | 06.00 | — | — |

***Source :*** Field Survey

In survey villages have been undertaken in the lower Assam district that farmers adopted new trends in agricultural practices were observed and shown in table 4.

### *Table-4: Changes of cropping pattern*

| *Total Nos. of Household* | *Less progressive* | *Uses of Modern Technology* | *Progressive* |
|---|---|---|---|
| 200 | 175<br>(87.5) | 20<br>(10) | 05<br>(2.5) |

***Source :*** Figures within parentheses indicate percentage of total sample drawn from survey village of 200 household

From the above table it is appeared that the 10 percent adopted modern technology where as 87.5 percent farmers are not adopted any new technology and 2.5 percent at the position of progressive. It is found that at the half of the 19 century the char dwellers introduced crops 'IRI' in place jute. 'IRI' is most popular crops for the char dwellers.

From the later half of the 90's new variety of paddy as 'Iri' has been introduced in the char areas. The cultivation got with the availability of shallow water pumps either as a part of the

Government scheme or personal purchase. It starts from Magh, Phagun and is harvested after 3 months. During this period there is negligible rainfall which acessitates the use of shallow water pumps.

The paddy is undertaken with HYV seeds, high doses of chemical fertilisers, employing large number of agriculture labour and substantial amount of water. As the yield is higher, the availability of food grains has, therefore, increased. This has reduced their economic vulnerability to great extent.

Another important trend noticeable has been large scale leasing of land in 'Kayam' (settled) areas by char dwellers for 'iri' cultivation in place of 'Jute' & 'Ahu Rice.'

### Area under Iri Cultivation

This pattern of cultivation is practiced both in char and kayam area. Cultivators of the char areas, either lease land, or purchase land for cultivation in kayam areas. During 2003, cultivators from these char villages involved 62 bighas of land under Iri cultivation out of which about 60 percent were in kayam areas and the rest in char areas.

Moreover, 40 percent of the cultivators leased land for Iri cultivation. Although the exact amount of land under Iri cultivation during previous years could not be ascertained yet it was cleared during the course of survey that it is increasingly becoming populer among char dwellers and its production is more than 'paddy rice'/ 'jute' in terms of profit. As a result it is more profitable than other crops.

### Problems and Constraints

Selected household were personally interviewed to assess the problems they faced with. On the basis of their opinion the problems and constraints were identified, prioritized and mentioned as follows :

(i) The riverine farmers were subjected to even the barest minimum need of infrastructures in the form of road and communication network.

(ii) Irrigation facilities about 8 to 16 percent of farmers apply irrigation in their crops.

(iii) Distribution network and sale markets in most char villages even primary wholesale market was not available. The farmers had to travel about 10 to 18 k.m. to purchase their

inputs and also sell their product and that too at the minimum prices. The farmers travel about 75 km of distance via-kacha road to reach the near by market.

(iv) Due to high prices of fertilizers, and HYV seeds many sample farmers could not afford to purchase recommended dozes of fertilizers & seeds.

(v) The FMC and NGO's involvement in the development activities are only occasional and very minimum can play very important role on this front. Strengthening of the Govt. machinery through establishment of proper infrastructure of agricultural development offices. Storage structures, input distribution centres, school, primary health centres, village market centres and construction of irrigation canals are very much need of the hour.

***Conclusion***

The study attempt to address one very much neglected area of Assam's Agriculture on which not much references are available. The study analysed the problems and constraints faced by char area farmers.

Percentage of progressive farmers were negligible. The char dewellers of the these areas have lower socio-economic indices compared to the average of the state.

Despite their hard working nature, traditional expertise in cultivation of large varities of crops (including HYV) and unique adaptability with the adverse local micro-environment in the char areas, majority of the char dwellers in lower Assam live below the poverty line. The policy makers, planners formulate better policies for the improvement of the socio-economic condition of the char dwellers.

## References

1. Government of Assam (2004) Socio-Economic Survey Report of Char Areas of Assam (2003-04) Directorate of Char Areas Development of Assam
2. Goswami, Atul Chandra 'Char Ancholor Eti Anthonaitik Samikhya' in Hussain, Ismail (Sr.), Hussain Anowar (eds) Char-Chaporir Jibon Charyya (Gauhati Natun Sahitya Parishad-2000)
3. Goswami H. Population Trends in Brrahmaputra Valley 1881–1931 (New Delhi : Mitali Publicatons, 1985)
4. Mukhopadhyeya. A and S. Paul (1990) Extent of adoption and its variation in Nadia disrict of West Bengal, Economic Affairs 35(4), 234–241.
5. Dutta, Arup Kumar, The Brahmaputra (New Delhi National Book Trust, 2001)

# Emerging Market Economics

**Dr. Ravi Kumar Chaudhary**
*M.A., Ph.D., Dept. of Economics, Magadh University, Bodh Gaya*

Emerging markets are nations with social or business activity in the process of rapid growth and industrialization. based on data from 2006 there are around 28 emerging markets (according to 2010 data there are more than 40 emerging markets) in the world, with the economies of China and India considered to be the largest. According to *The Economist* many people find the term outdated, but no new term has yet to gain much traction. Emerging market hedge fund capital reached a record new level in the first quarter of 2011 of $121 billion. The ASEAN–China Free Trade Area, launched on January 1, 2010, is the largest regional emerging market in the world.

## Terminology

In the 1970s, "less economically developed countries" (LEDCs) was the common term for markets that were less "developed" (by objective or subjective measures) than the developed countries such as the United States, Western Europe, and Japan. These markets were supposed to provide greater potential for profit, but also more risk from various factors. This term was felt by some to be not positive enough so the *emerging market* label was born. This term is misleading in that there is no guarantee that a country will move from "less developed" to "more developed"; although that is the general trend in the world, countries can also move from "more developed" to "less developed". Originally brought into fashion in the 1980s by then World Bank economist Antoine van Agtmael, the term is sometimes loosely used as a replacement for *emerging economies*, but really signifies a business phenomenon that is not fully described by or constrained to geography or economic strength; such countries are considered to be in a transitional phase between developing and developed status. Examples of emerging markets include Indonesia, Iran, some countries of Latin America, some countries in Southeast Asia, most countries in Eastern Europe, Russia, some countries in the Middle East, and parts of Africa. Emphasizing the fluid nature of the category, political scientist Ian Bremmer defines an emerging market as "a country where politics matters at least as much as economics to the markets".

The research on emerging markets is diffused within management literature. While researchers including C. K. Prahalad,

George Haley, Hernando de Soto, Usha Haley, and several professors from Harvard Business School and Yale School of Management have described activity in countries such as India and China, how a market emerges is little understood. In the 2008 Emerging Economy Report, the Centre for Knowledge Societies defines Emerging Economies as those "regions of the world that are experiencing rapid informationalization under conditions of limited or partial industrialization." It appears that emerging markets lie at the intersection of non-traditional user behaviour, the rise of new user groups and community adoption of products and services, and innovations in product technologies and platforms. The term "rapidly developing economies" is being used to denote emerging markets such as The United Arab Emirates, Chile and Malaysia that are undergoing rapid growth.

In recent years, new terms have emerged to describe the largest developing countries such as BRIC that stands for Brazil, Russia, India, and China, along with *BRICET* (BRIC + Eastern Europe and Turkey), *BRICS* (BRIC + South Africa), *BRICM* (BRIC + Mexico), *BRICK* (BRIC + South Korea), Next Eleven (Bangladesh, Egypt, Indonesia, Iran, Mexico, Nigeria, Pakistan, Philippines, South Korea, Turkey, and Vietnam) and CIVETS (Colombia, Indonesia, Vietnam, Egypt, Turkey and South Africa). These countries do not share any common agenda, but some experts believe that they are enjoying an increasing role in the world economy and on political platforms. It is difficult to make an exact list of emerging (or developed) markets; the best guides tend to be investment information sources like ISI Emerging Markets and *The Economist* or market index makers (such as Morgan Stanley Capital International). These sources are well-informed, but the nature of investment information sources leads to two potential problems. One is an element of historicity; markets may be maintained in an index for continuity, even if the countries have since developed past the emerging market phase. Possible examples of this are South Korea and Taiwan. A second is the simplification inherent in making an index; small countries, or countries with limited market liquidity are often not considered, with their larger neighbours considered an appropriate stand-in.

In an Opalesque. TV video, hedge fund manager Jonathan Binder discusses the current and future relevance of the term "emerging markets" in the financial world. Binder says that in the future investors will not necessarily think of the traditional classifications of "G10" (or G7) versus "emerging markets". Instead, people should look at the world as countries that are fiscally responsible and countries that are not. Whether that country is in Europe or in South America should make no difference, making

the traditional "blocs" of categorization irrelevant. The *Big Emerging Market* (BEM) economies are (alphabetically ordered): Brazil, China, Egypt, India, Indonesia, Mexico, Philippines, Poland, Russia, South Africa, South Korea and Turkey. Newly industrialized countries are emerging markets whose economies have not yet reached first world status but have, in a macroeconomic sense, outpaced their developing counterparts.

Individual investors can invest in emerging markets either through ADRs (American depositor Receipts-stocks of foreign companies that trade on US stock exchanges) or through exchange traded funds (exchange traded funds or ETFs hold basket of stocks). The exchange traded funds can be focused on a particular country (e.g., China, India) or region (e.g., Asia-Pacific, Latin America).

The FTSE Group distinguishes between Advanced and Secondary Emerging markets on the basis of their national income and the development of their market infrastructure. The Advanced Emerging markets are classified as such because they are upper middle income GNI countries with advanced market infrastructures or high income GNI countries with lesser developed market infrastructures.

## References


- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Hayek, F. A. *Individualism and Economic Order*, The University of Chicago Press, Chicago, 1948.
- Larry J.: *Business Valuations, Advanced Topics*, Westport, CT, Quorum Books, 1997.
- Lindblom, C. E.: *A Strategy of Decision: Policy Evaluation as a Social Process*, New York, The Free Press, 1970.
- Loomes, G.: *Current Issues in Microeconomics*, New York: St. Martin's Press, 1989.
- Magnussen, L., *Evolutionary and Neo-Schumpeterian Approaches to Economics*, Kluwer, Boston, 1994.
- Mann, L.: *Decision Making, A Psychological Analysis of Conflict, Choice and Commitment*. New York, Free Press, 1977.
- Marris, R. L., and Wood, A.: *The Corporate Economy*, London: Macmillan, 1971.
- Meyer, M. W.: *Theory of Organizational Structure*, Indianapolis, 1977.
- Nelson, Judy A.: *Feminism, Objectivity and Economics,* London and New York, Routledge, 1996.
- Pennings, J. M.: *Decision Making, An Organizational Behaviour Approach,* New York, Markus Wiener Publishing, 1983.
- Pesendorfer, W.: *The Foundations of Positive and Normative Economics*, New York, Oxford University Press 2008.
- Rappaport, A.: *Creating Shareholder Value, The New Standard for Business Performance*, New York, Free Press, 1986.

# Ethics in Psychological Research

**Dr. Kamta Prasad Yadav**

*Reader in Psychology, R.L.S.Y.College, Bettiah, B.R.A.Bihar University, Muzaffarpur*

The concern for ethics in psychological research may be seen as part of the historical trend in civil and human rights. Before World War II, research ethics were considered a matter for the individual researcher to worry about. However, the Nuremberg trials of Nazi war criminals led to a consciousness of the need for ethical controls in scientific research.

In addition, the growth of all types of research, fuelled by increasing government funding, prompted concern with research ethics. As a result, research ethics are in a state of rapid evolution. Some practices that were considered acceptable and routine a few years ago are considered unethical today. For this reason, we must present out discussion of research ethics as tentative, rather than chiselled in stone. What will be acceptable practice 10 or 20 years from now cannot be predicted.

## The APA Ethics Code

The American Psychological Association (APA) has developed an extensive document known as the "Ethical principles of Psychologists and Code of Conduct" (2002). This is a substantial revision of an earlier document in the effort to keep pace with the changing challenges of scientific ethics. The ethical principles addressed by the APA cover all the professional activities that psychologists engage in. A number of them, such as those on sexual harassment, nondiscrimination, and the like, concern all professional activities, not just research. Discussion of all the statements that could bear on research would take us too far afield. Instead, we quote those sections that are most directly relevant to ethical concerns in the conduct of research, and then follow the quotes with commentary on each ethical concern.

The APA ethics code represents the consensus of the psychology profession about what is considered acceptable practice. The federal government and certain other jurisdictions, however, have passed laws governing the conduct of research. In addition, the federal government requires institutions that receive federal funds to

establish an institutional review board (IRB) to approve virtually all research on human participants. IRB committees must have a minimum of five members, at least one of whom is not a scientist, and one member must be unaffiliated with the institution (Swerdlow, 2000). The IRB committee is charged with ensuring that the studies present as little risk to subjects as possible and have scientific merit (Puglisi, 2001). It is also possible to seek an expedited review from the IRB. The expected review does not require approval from the full IRB committee and is thus completed more quickly than a full review. Research that represents minimal risk to the participants and falls into one of nine specified categories is eligible for expedited review. At least three of the categories are of interest to psychologists. Expedited category 5 involves data collected for solely non-research purposes (e.g. demographic data that was collected as part of an incarceration procedure), whereas category 6 concerns the collection of data from recordings made for research purposes. Category 7 entitles research employing surveys and a wide range of other low-risk research activities to an expedited review (Puglisi, 2001).

It is possible to create a research project that is exempt from the regulations governing research, and thus does not require IRB approval. As a student, you should consult your instructor, department chairperson, or school's IRB before you initiate any research to familiarize yourself with the applicable regulations on research. William Langston (2002) discusses the IRB in his lab manual, Appendix A : Getting Approval From Institutional Review Boards.

APA Code Section 2.01 : Boundaries of Competence;

(a) Psychologists provide services, teach, and conduct research only within the boundaries of their competence, based on their education, training, supervised experience, or appropriate professional experience.

(b) Psychologists planning to provide services, teach, or conduct research involving populations, areas, techniques or technologies new to them undertake relevant education, training, supervised experience, consultation, or study.

(c) In those emerging areas in which generally recognized standards for preparatory training do not yet exist, psychologists nevertheless take reasonable steps to ensure the competence of their work and to protect clients/patients, students, supervisees, research participants, organizational clients and other from harm.

### APA Code Section 2.03 : Maintaining Competence

Psychologists undertake ongoing efforts to develop and maintain their competence.

#### *Commentary on Responsibility*

The decision to conduct research often presents a conflict between two sets of values. In general, the conflict is between (1) the commitment of the psychologist to expanding our knowledge of behaviour and the potential benefit the research may have for society and (2) the cost of the research to the participants. It is not possible to resolve this conflict in terms of moral absolutes or by a set of prescriptions that will cover all cases.

The conflict is faced continually by researchers, who must consider themselves responsible for deciding to conduct their research. Researchers who do not review ethical problems carefully are negligent toward society. From another viewpoint, a researcher who refrains from doing an important study because of an excessively tender conscience is also failing to keep a commitment to the same society that supports behavioural research with the hope that it will provide important social benefits.

The investigator-the person who is in overall charge of the research-has the greatest responsibility to see that ethical principles are followed. In most cases, students work in the capacity of experimenters or assistants under the supervision of the investigator. All people working on a research project, however, should consider themselves bound by the APA ethics code, even if they are not professional psychologists or members of the APA.

Investigators should discuss their research with colleagues and seek advice about the ethics of the research procedures. This helps to curb the bias we all have of thinking that our research is more important than it really is and that we are morally superior and therefore will act ethically. Most institutions have committees that review all research on human participants. Before investigators being any research, they should be certain that they are complying with institutional procedures. Students should initiate research only under the sponsorship of a faculty member, who is, in turn, subject to professional sanctions.

#### *Commentary on Protection from Harm*

It is impossible to avoid risk of harm entirely in behavioural research because any new situation by definition is stressful and conceivably could be harmful. Some experiments, though, have

subjected people to the threat of shock, to being told that they have latent homosexual tendencies, or to being locked in a room that appears to be on fire. Today, these situations are considered unduly stressful. Stress in an experiment may be either physical or psychological. In judging the acceptability of stress, the researcher must assess how stressful the situation is likely to be compared with activities of everyday life.

Would people willingly put themselves into this situation ? What special groups must be considered, such as heart patients, epileptics, or borderline schizophrenics ? Researchers must also consider the idea that participants may resent being treated merely as objects, even if there is not other direct harm to the person. Informed consent the thorough debriefing can help with this concern.

***APA Code Section 3.10 : Informed Consent***

(a) When psychologists conduct research of provide assessment, therapy, counselling, or consulting services in person or via electronic transmission or other forms of communication, they obtain the informed consent of the individual or individuals using language that is reasonably understandable to that person or persons except when conducting such activities without consent is mandated or prescribed by law or governmental regulation or as otherwise provided in this Ethics Code.

(b) For persons who are legally incapable of giving informed consent, psychologists nevertheless (1) provide an appropriate explanation, (2) seek the individual's assent, (3) consider such persons' preferences and best interests, and (4) obtain appropriate permission from a legally authorized person, if such substitute consent is permitted or required by law. When consent by a legally authorized person is not permitted or required by law, psychologists take reasonable steps to protect the individual's rights and welfare.

(c) Psychologists appropriately document written or oral consent, permission, and assent.

***APA Code Section 8.01 : Institutional Approval***

When institutional approval is required psychologists provide accurate information about their research proposals and obtain approval from host institutions or organizations appropriate approved prior to conducting research. They conduct the research in accordance with the approved research protocol.

***APA Code Section 8.02 : Informed Consent to Research***

(a) When obtaining informed consent as required in Standard 3.10, Informed Consent, psychologists inform participants about (1) the purpose of the research, expected duration, and procedures ; (2)their right to decline to participate and to withdraw from the research once participation has begun ; (3) the foreseable consequences of declining or withdrawing; (4) reasonably foreseeable factors that may be expected to influence their willingness to participate such as potential risks, discomfort, or adverse effects; (5) any prospective research benefits ; (6) limits of confidentiality; (7) incentives for participation; and (8) whom to contact for questions about the research and research participant's rights. They provide opportunity for the prospective participants to ask questions and receive answers.

***APA Code Section 8.03 : Informed Consent for Recording Voices and Images in Research***

Psychologists obtain informed consent from research participants prior to recording their voices or images for data collection unless (1) the research consists solely of naturalistic observations in public places, and it is not anticipated that the recording will be used in a manner that could cause personal identification or harm or (2) the research design includes deception and consent for the use of the recording is obtained during debriefing.

***APA Code Section 8.04 : Client/Patient, Student, and Subordinate Research Participants***

(a) When psychologists conduct research with client/patients, students, or subordinates as participants, psychologists take steps to protect the prospective participants from adverse consequences of declining or withdrawing from participation.

(b) When research participation is a course requirement or opportunity for extra credit, the prospective participant is given the choice of equitable alternative activities.

(c) Psychologists ensure that all individuals under their supervision who are using animals have received instruction in research methods and in the care, maintenance, and handling of the species being used, to the extent appropriate to their role.

(d) psychologists make reasonable efforts to minimize the discomfort, infection, illness, and pain of animal subjects.

(e) Psychologists use a procedure subjecting animals to pain, stress, or privation only when an alternative procedure is unavailable and the goal is justified by its prospective scientific, educational, or applied value.

(f) Psychologists perform surgical procedures under appropriate anesthesia and follow techniques to avoid infection and minimize pain during and after surgery.

(g) When it is appropriate that the animal's life be terminated, psychologists proceed rapidly, with an effort to minimize pain, and in accordance with accepted procedures.

Research involving animal participation should not be taken lightly. As with experiments involving human subjects, psychologists should have a reasonable expectation that the results of an experiment involving animals will yield results that increase scientific knowledge of people or the species involved in the research. Psychologists should assume that stimuli that are painful to people are also painful to animals, so care should be taken to minimize the number of animals involved in the research or to consider non-animal research alternatives. Psychological research on animals should be carried out by trained personnel under the supervision of an institutional animal care and use committee. Animals involved in experimentation should be treated with humane consideration of their well-being in conjunction with research goals.

Despite the considerations given to the care of animals in research, there is a vigorous animal rights movement that would ban or severely restrict the use of animals in research. Although many people find the message of the animal rights movement appealing, it actually has serious implications for human welfare, as well as for the conduct of psychological research.

### *Animal Rights and Animal Welfare*

Because the term animal rights has become so widely used in connection with the use of animals in research, it is necessary at this point to make a distinction between "animal rights" and "animal welfare". Some authors have claimed that animals should have the same sort of rights as people, including legal rights. According to this view, it is unethical to use animals for research, food, pets, recreation, work, or any other human-serving purpose. Ethicists, however, generally ascribe rights to members of a community that share moral standards and can be held to moral responsibilities. An individual who has right has a moral claim on

other members of the community to accept certain responsibilities with respect to that individual, who, in turn, takes on responsibilities. If an individual has the right of free speech, both the individual and other members of the community have the responsibility not to endanger (as by shouting 'Fire!' in a crowded theatre), defame, or unduly annoy one another (disturbing the peace). Animals do not belong to a moral community. You cannot take a dog to court for barking at night ; a cat is not guilty of murder when it kills a bird.

If animals had the same sort of rights as people, we would be involved in murder by eating a hamburger, we would be guilty of slavery by keeping a dog as a pet, and we would be stealing when we collect eggs from a chicken. Although it is not impossible that some society might decide to give animals legal rights, ours does not.

The generally accepted term to use in discussing the appropriate use of animals in research in animal welfare, or humane treatment of animals. As members of a moral community, humans are responsible for the welfare of animals that are under their care. Because mistreatment of animals reflects on the person who does the mistreating, it is called inhumane treatment. Although only a minority of those who would limit research on animals hold to the position that animals have the same legal rights as people, the term animal rights has become so widely used that it is necessary to make this distinction clear. The research community clearly supports humane treatment of animals but rejects the notion of animal rights.

Some people raise an objection to this position on animals rights by pointing out that infants and individuals who are severely retarded, senile, or brain damaged are not capable of being held to the same moral standards as normal adult humans and thus would not have rights according to that argument. First, it should be noted that not all humans have the same rights. Infants may not be elected president of the United States, and prisoners cannot vote. But, more important, we do make ethical distinctions on the basis of a larger class to which an individual belongs. No person under 35 years of age may be elected president, no matter how mature, and no nonhuman animal has legal rights, no matter how intelligent.

***Speciesism ?***

Another claim that needs to be discussed is hat use of animals in research is a manifestation of speciesism, a term that was chosen to parallel racism and sexism. The claim is that researchers, as well

as those who eat meat, wear animal products, and so forth, are guilty of discriminating against animals simply on the basis of their species membership. Although the concept has a certain plausibility, especially with those who eschew racism and sexism, it leads to a logical and ethical thicket. We can agree that it is wrong to discriminate against women or minorities on the basis of their gender or race because all humans share their essential humanity with us. But nonhuman animals are manifestly not like outselves in certain important characteristics. To our knowledge, no monkey can contemplate its own mortality, and no cat has ever expressed moral ambivalence over killing a mouse.

Further, practical considerations require everyone to draw the line somewhere in applying the doctrine of speciesism. Higher animals are like us in some respects, especially primates, dogs, and cats. But it is hard to consider a lobster just like us. For example, if we believe that doing research on a chimpanzee constitutes speciesism, what about ridding a house of termites or inadvertently stepping on an ant while walking in the yard ?

Finally, the concept of speciesism explicitly invokes the common evolutionary ancestry of all animals, including humans, and rejects any special moral status for humans. If that is taken seriously, then either a cat is guilty of speciesism when it kills a bird, or neither the cat not the human is guilty whenever each does what it has evolved to do. There is no reason based on logic whereby the concept of speciesism can be used to support including animals in our moral system instead of permitting humans to act like other animals.

Although animal rights activists devote most of their concern and activities to the use of animals in research, it should be noted that research and teaching are responsible for less than 1% of animals killed annually by humans. And more than 90% of those used in research are rats and mice (Miller, 1984). By contrast, more than 96% of animals killed by humans are used for food (Nicholl & Russell, 1990).

The animal rights activists also try to convey the idea that most animals used in research suffer pain. The fact is that about 94% of animal research involves no use of pain. Most of us have seen the gruesome pictures of research animals being operated on. What the pictures do not convey is that the animals have been anesthetized and so feel no pain. The small number of animals that do experience pain in research are contributing to knowledge of human diseases such as arthritis that cause pain to millions of

humans every day. The opposition to the use of animal in research cannot be justified by the amount of suffering that is being experienced by animals. The regulations on housing of research animals are more stringent than those for human habitation, and there is far more pain, abuse, and cruelty caused to animals by pet owners and farmers than by researchers (Miller, 1984).

There are compelling reasons to use animals in research. First, it should be noted that much animal research has led to an improvement in the welfare of animals themselves, from vaccines against feline leukemia, rabies, and distemper to nonlethal methods of pest control. Second, although younger people find it difficult to appreciate the fact, there has been tremendous improvement in health care in the past century, much of it in the past few years. About a hundred years ago, around 25% of the U.S. population died by age 25, and half were dead by 50.

Today, only 3% fail to live to 25, and only 10% die by age 50 (Committee on the Use of Animals in Research, 1991). Research on animals has been essential to this progress. Some have suggested that we should substitute computer models, tissue cultures, bacteria, or even humans for animals in research and teaching. The simple fact is, however, that computers depend on the information and programs put into them. We often don't know enough about a process to be able to model it on the computer. Bacteria cannot be used to test systems that are found only in animals. Behavioural research in particular must be done on whole animals. And to test procedures on humans before testing them on animals would place many volunteers at grave risk. There simply is no substitute for live, intact animals in much research.

To eliminate or restrict use of animals in research would mean little or no progress against AIDS, Alzheimer's, cancer, arthritis, birth defects, traumatic injury, mental illness and many other diseases and conditions that cause pain and suffering to millions of people each year. Whenever you see a picture of a lab animal that appears to be suffering, think of the millions of people who would continue to suffer dreadfully if there were no more medical progress.

Neal Miller (1985) has demonstrated how important behavioural research has been in this medical progress. To mention only two applications, behavioural techniques have made it possible to cure infants who suffer from a life-threatening condition that prevents them from keeping food down and to cure anorexia nervosa, another life threatening eating disorder. Restricting the

use of animals in research would bring this progress to a crawl. Those who object that we should not use animals for research should consider that animals volunteers for these services. It may be useful to consider the research animals as draftees in a cause that helps society as a whole, much as men have historically been drafted for military service.

Finally, although the viewpoint presented here is the view of most scientists, we must acknowledge that ethics in general, and the ethics of animal experimentation in do not want to restrict it altogether. The general position of researchers, like that of most people, is that it is permissible to cause a certain amount of suffering to a few animals to reduce the suffering of many millions of people. However, researchers have developed alternatives to the use of animals where possible and have been more careful in the use of their animals as a result of the increasing concern about animal welfare in our society.

## References


- Craik, K. H. (1973) Environmental psychology, In P. H. Mussen and M. R. Rosenzweig (Eds.). *Annual review of psychology, 1973.* Palo Alto, Armual Reviews, Inc. Pp. 403-422.
- Haney, C., Banks, C., and Zimbardo, P. G. (1973) Interpersonal dynamics in a simulated prison. *Intern. J. Criminol. Penal.,*1,69-97.
- Helmreich, R., Bakeman, R., and Scherwitz, L.(1974) The study of small groups. In P. H. Mussen and M. R. Rosenzweig (Eds.) *Annual review of psychology, 1974.* Palo Alto, Annual Reviews, Inc. Pp. 337-354.
- Milgram, S. (1974) *Obedience to authority. New* York, Harper & Row.
- Orlando, N. J. (1973) The mock ward: A study in simulation. In 0. Milton and R. G. Wahler (Eds.), *Behavior disorders: Perspectives and trends.* Philadelphia, J. B. Lippincott.
- Savin, H. B. (1973) Professors and psychological researchers: Conflicting values in conflicting roles, Cog. 2 (I), 147-149.
- Seligman, M. E. P. (1973) Fall into Helplessness. *Psychology Today, 7,43-48.*
- Sommer, R. (1969) *Personal space: The behavioural basis of design.* Englewood Cliffs, N.J., Prentice-Hall.
- Toffler, A. (1970) *Future shock. New* York, Random House.
- Zimbardo, P. G., Haney, C., Banks, W. C., and JatIe, D. (1973) The mind is a formidable jailer : A Pirandellian prison. The New *York Times Magazine,* April 8, Section 6, 38-60.
- Hoy, D. (2005), Critical resistance from poststructuralism to postcritique, Massachusetts Institute of Technology, Massachusetts.
- Lyon, D. (1999), Postmodernity, 2nd ed, Open University Press, Buckingham.
- Singer, P. (2000), Writings on an ethical life, Harper Collins Publishers, London.

# General Outline of the Psychology of Management

Dr. Asha Kumari

The Psychology of Management, as here used, means, — the effect of the mind that is directing work upon that work which is directed, and the effect of this undirected and directed work upon the mind of the worker.

Before defining the terms that will be used more in detail, and outlining the method of treatment to be followed, it is well to consider the importance of the subject matter of this book, for upon the reader's interest in the subject, and his desire, from the outset, to follow what is said, and to respond to it, rests a large part of the value of this book.

First of all, then, what is there in the subject of psychology to demand the attention of the manager? Psychology, in the popular phrase, is "the study of the mind."

It has for years been included in the training of all teachers, and has been one of the first steps for the student of philosophy; but it has not, usually, been included among the studies of the young scientific or engineering student, or of any students in other lines than Philosophy and Education. This, not because its value as a "culture subject" was not understood, but because the course of the average student is so crowded with technical preparation necessary to his life work, and because the practical value of psychology has not been recognized.

It is well recognized that the teacher must understand the working of the mind in order best to impart his information in that way that will enable the student to grasp it most readily.

It was not recognized that every man going out into the world needs all the knowledge that he can get as to the working of the human mind in order not only to give but to receive information with the least waste and expenditure of energy, nor was it recognized that in the industrial, as well as the academic world, almost every man is a teacher.

The second question demanding attention is; — Of what value is the study of management? The study of management has been omitted from the student's training until comparatively recently, for a very different reason than was psychology. It was never doubted that a knowledge of management would be of great value to anyone and everyone, and many were the queer schemes for obtaining that knowledge after graduation. It was doubted that management could be studied otherwise than by observation and practice.

Few teachers, if any, believed in the existence, or possibility, of a teaching science of management. Management was assumed by many to be an art, by even more it was thought to be a divinely bestowed gift or talent, rather than an acquired accomplishment. It was common belief that one could learn to manage only by going out on the work and watching other managers, or by trying to manage, and not by studying about management in a class room or in a text book; that watching a good manager might help one, but no one could hope really to succeed who had not "the knack born in him."

With the advent of "Scientific Management," and its demonstration that the best management is founded on laws that have been determined, and can be taught, the study of management in the class room as well as on the work became possible and actual.

Third, we must consider the value of the study of the psychology of management. This question, like the one that precedes it, is answered by Scientific Management. It has demonstrated that the emphasis in successful management lies on the *man*, not on the *work*; that efficiency is best secured by placing the emphasis on the man, and modifying the equipment, materials and methods to make the most of the man.

It has, further, recognized that the man's mind is a controlling factor in his efficiency, and has, by teaching, enabled the man to make the most of his powers. In order to understand this teaching element that is such a large part of management, a knowledge of psychology is imperative; and this study of psychology, as it applies to the work of the manager or the managed, is exactly what the "psychology of management" is.

In order to realize the importance of the psychology of management it is necessary to consider the following five points:—

1. Management is a life study of every man who works with other men. He must either manage, or be managed, or both; in any case, he can never work to best advantage until he understands both the psychological and managerial laws by which he governs or is governed.
2. A knowledge of the underlying laws of management is the most important asset that one can carry with him into his life work, even though he will never manage any but himself. It is useful, practical, commercially valuable.
3. This knowledge is to be had *now*. The men who have it are ready and glad to impart it to all who are interested and who will pass it on. The text books are at hand now. The opportunities for practical experience in Scientific Management will meet all demands as fast as they are made.
4. The psychology of, that is, the mind's place in management is only one part, element or variable of management; one of numerous, almost numberless, variables.
5. It is a division well fitted to occupy the attention of the beginner, as well as the more experienced, because it is a most excellent place to start the study of management. A careful study of the relations of psychology to management should develop in the student a method of attack in learning his selected life work that should help him to grasp quickly the orderly array of facts that the other variables, as treated by the great managers, bring to him.

It is scarcely necessary to mention that this book can hope to do little more than arouse an interest in the subject and point the way to the detailed books where such an interest can be more deeply aroused and more fully satisfied. It is not the purpose of this book to give an exhaustive treatment of psychology. Neither is it possible in this book to attempt to give a detailed account of management in general, or of the Taylor plan of "Scientific Management" so-called, in particular.

All of the literature on the subject has been carefully studied and reviewed for the purpose of writing this book, — not only what is in print, but considerable that is as yet in manuscript. No statement has been made that is not along the line of the accepted thought and standardized practice of the authorities. The foot notes

have been prepared with great care. By reading the references there given one can verify statements in the text, and can also, if he desires, inform himself at length on any branch of the subject that especially interests him.

This book aims not so much to instruct as to arouse an interest in its subject, and to point the way whence instruction comes. If it can serve as an introduction to psychology and to management, can suggest the relation of these two fields of inquiries and can ultimately enrol its readers as investigators in a resultant great field of inquiry, it will have accomplished its aim.

To discuss this subject more in detail —

First: What is "Management"?

"Management," as defined by the Century Dictionary, is "the art of managing by direction or regulation."

Successful management of the old type was an art based on no measurement. Scientific Management is an art based upon a science, — upon laws deducted from measurement. Management continues to be what it has always been, — the *art* of directing activity.

## References


- Asch, M : *Abnormal and Developmental Psychology*, Ivy Pub, Delhi, 2003.
- Chandra, S.S. : *Advanced Industrial Psychology*, Atlantic, Delhi, 2004.
- Dicken, P. : *Wheels of Change, the Automobile Industry*, London, 2007.
- Dunnette, M. D.: *Handbook of industrial and organizational psychology*. Chicago: Rand McNally, 1976.
- Hayduk, L.A.: *Structural equations modeling with LISREL*. Baltimore, MD: Johns Hopkins University Press, 1987.
- Kumar, Arvind : *Industrial Pollution and Management*, APH, Delhi, 2004.
- Mckenna, S.: *Business Psychology and Organisational Behaviour*, Taylor and Francis, Delhi, 2010.
- Muchinsky, Paul M.: *Psychology Applied to Work*. Belmont, CA: Wadsworth, 1999.
- Parker, Barbara : *Introduction to Globalization and Business: Relationships and Responsibilities*, Response, Delhi, 2005.
- Pathak, Bachcha : *Industrial Policy of India : Changing Facets*, Deep and Deep, Delhi, 2007.
- Rastogi, P.N. : *Management of Technology and Innovation : Competing Through Technological Excellence*, Response, Delhi, 2009.

# Intellectual and Social Factors as Disciplined Indisci;oned Behaviour of Science and Arts College Youth

**Dr. Jago Choudhary**

*Assistant Professor, P.G.Dept. of Psychology*
*Jagdam College, Chapra*

Study was conducted on a sample of 120 college youth (T.D. CI.), 60 from science and 60 from arts. It was found that : Intelligence and SES of the youth are partially correlated with disciplined-indisciplined behaviour of the youth. There are no significant differences between science and arts college youth are regards to disciplined-indisciplined behaviour. Intellectual level and SES of more disciplined youth are higher as compared to less disciplined youth.

## Introduction

In India, today few subjects have been of more compelling public concern than in discipline among college youth. The pervasiveness of the problem created by students in India has been well summarised by Philip (1968).

" Students have paralyzed college and have caused serious damage to public facilities as well as educational institutions. Hardly a week goes by without an out-break of student undiscipline in some part of India; student problems are discussed by such diverse groups as Police officials, the Prime Minister, the Cabinet and Educational authorities."

While there have been too many explanation of student indiscipline and behavior in India, there not been much analysis of the problem from the perspective of students, their intellectual level and socio-economic status. This research paper makes an attempt in this direction. For purpose of analysis, I have classified students on the basis of their thaviour into two categories. Disciplined who disciplied who despite their mental dissatisfaction wit—— he existing condition of things, do not take part in agitation. (ii) in disciplined who take part in strike and agitations.

Here it would not be out of the place of shift to the relevant facts regarding the variables under consideration from the mass of

research evidences so as to provide an outline for the successful exestuation of the study. Hughes (1971) and Patel (1972) observed that it is often the third divisioner grace marked who shows indisciplined behaviour. Rao, Moorthy and Pathasrty (1984) in their study on 1522 students found that there is statistically significant relationship between intellectual level and behaviour problems of the students. Yon (1976) found that family income and parental education were not significantly related to the tendency towards activism. However, Sandhu (1972), reported that poor and frustrated social life have contributed to the unrest. Similarly, it was concluded by Cullen and Tinto (1275). Rao, Moorthy and Parathasarathy (1984) that children coming from poor socio-economic status presented more behaviour problem than those students who belong to high SES.

## Procedure

### *Hypothesis*

1. In this significantly correlated with disciplined-in disciplined behavior.
2. SES of the youth is significantly correlated with disciplined-in disciplined behavior of the youth.
3. There are significant differences between science and arts college youth as regards to disciplined-in disciplined behaviour.
4. Intellectual level and SES of more disciplined youth are higher as compared to less disciplined youth.

### *Design*

Bi-variate correlational design was employed in the present study to examine the relationship of into, and five measures of SES-namely caste, occupation, education, income and physical facilities.

***Sample :*** 120 college youth, 60 from science and 60 from arts were taken from Jagdam college, Chapra on the basis of stratified randomization technique.

### *Tools*

1. Jalota (1972) Group Test to General Mental Ability to test intellectual.

### *Level*

1. Trivedi and Udai Pareek SES scale (1964).
2. Wangu & Joshi (1982) Disciplined-in disciplined scale.

The DI-scale consisted of seven different situations namely (i) class rom (ii) Library (iii) Hostel (iv) Examination (v) Student Union

Activities (vi) Sports & Cultural activities (viii) Miscellaneous situation.

## Analysis

The relationship between the variables of Int. SES and disciplined-in disciplined behaviour of the science and arts students were studied with the help of co-efficient of correlation. The results are given in table 1, 2, 3 and 4.

## Discussion

1. Situation related to classroom (DI-1) : In case of science students there is no significant correlation between and DI-1 (Table) but significant correlation exihit between Int and DI-1 scale for arts students (vide table-2). The results reveal that the students who show in disciplined behaviour in the class room were generally less intelligent. Only in case of science students (and not in arts) significant correlation exists and that too in case of education of the family and physical facilities available at home. This implies that those science students who were in disciplined in the class room, their family education was less and they were enjoying less physical facilities.
2. Situation related to library (DI-2) : For science students there was no significant correlation between the variable of Int. and DI-2. However, for the arts students Int, had a significant correlation with DI-2 scores (yide table-2). It can therefore be concluded that students who create indiscipline in the library generally are not interested in study due to their low level of intelligence. In case of science students only one factor namely physical facilities emerged as significant correlates of students disciplined-indisciplined behaviour library, who have less physical facilities at their homes. Arts students created indisciplined, in the library whose father's occupation was low as this factor emerged as significant correlates of students discilined-indisciplined behaviour (table-1). It means only those science students indulge in undisciplined behaviour library, who have less physical facilities at their homes. Arts students created indisciplined, in the library whose father's occupation was low as this factor emerged as significant correlates of D1-2 scale (vide table-2).
3. Situation related to the hostel (DI-3) : There were no significant correlation between Int. Scores for science as well as for arts students and DI-3 scale, From this, it can be inferred that indisciplined in the hostel can be created irrespective of the faculty in which students belong. From table-1, it can be

concluded that only those science students induled in indisciplined tendency whose family education was low as it is the only significant factor, In case of arts students as the factor-occupation of the father, emerged as significant correlates of DI-3, therefore this implies that indiscipline was shown only by those arts students whose father's occupation was low.

4. Situation related to examination (DI-4) : As shown in table-1 and 2 neither science nor arts students showed significant correlation between int., various measures of SES and DI-4 From this it can be derived that only those students who find no utility of examination create indiscipline in the conduct of examination irrespective of their faculty.
5. Situation related to Student-Union Activities (DI-5): The scores on DI-5 did not correlate significantly with Int. in case of science students but arts students showed significant correlation with DI-5 scores. It means those arts students who create indiscipline by participating in student Union activities has no usefulness of these activities.

   The only factor of SES i.e. education of the family come to be significantly correlated (Table-1), in case of science students, Therefore, the science students who participated in student Union activities come from those families where standard of education is low.
6. Situation related to sports and cultural activities (DI-6): Significant correlation in case of Int. and DI-6 (table-1) showed that indisciplined behaviour and factor of SES in case of science and arts students (Vide table-1 and 2).
7. Situation related to miscellaneous acts. (DI-7): The tendency to created indisciplined in the miscellaneous act (i.e. those situations which were not discussed in any of the above six categories) had no significant correlation with int. for science and arts students (table-1 and 2).

Physical facilities (factor of SES) emerged significant correlates of DI-behaviour in case of science students. It means those students who induldge in indiscipline related to miscellaneous acts have less physical facilities at their homes. But arts students indulge in indiscipline related to miscellaneour activities whose father's occupation was low.

Table-3 : Shows that there was only one significant t-ratio (DI-5) out of seven sub scale and DI-T. This means science and arts students did not differ in the tendency to creat indiscipline score as compared to arts youth on all seven sub-scale and DI-T which means tendency of science students to create indiscipline was less a compared arts youth.

*Table – 1 : Correlaton(6X8) between the score on the measures of Int. SES and DI-scale for science students*

| Variable | DI-1 | DI-2 | DI-3 | DI-4 | DI-5 | DI-6 | DI-7 | DI-T |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Int. | .21 | -.18 | -.17 | .16 | .15 | -.28* | .15 | -.16 |
| Caste | .07 | .08 | .05 | .09 | .07 | .10 | .11 | .08 |
| Occupation | 0.6 | .05 | .03 | .06 | .12 | .15 | .16 | .11 |
| Education | -.26 | .10 | -.27* | .12 | -.28* | .20 | .20 | -.29* |
| Income | .11 | .09 | .16 | .14 | .11 | .13 | .13 | .11 |
| physical facilities | -.30 | -.27 | .22 | .20 | .22 | .24 | -.28* | -.31* |

dfX60: * Significant at .05 level

*Table-2 : Correction (6X8) between the scores on the measures of Int. SES and DI-scale for arts students*

| Variable | DI-1 | DI-2 | DI-3 | DI-4 | DI-5 | DI-6 | DI-7 | DI-T |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Int. | -.25* | -.26 | -.22 | .19 | -.28* | .17 | -.22* | -.29* |
| Caste | .03 | .08 | .09 | .05 | .08 | .07 | .10 | .08 |
| Occupation | -.18 | -.28* | -.25* | -.19 | -.20 | -.21 | -.25* | -.28* |
| Education | .17 | .19 | .20 | .17 | .15 | .15 | .14 | .15 |
| Income | .07 | .07 | -.11 | .13 | .12 | .14 | .16 | .13 |
| physical facilities | .16 | .15 | .14 | .11 | .10 | .12 | .11 | .12 |

DfX60 * Significant at.05 level

*Table-3 : Mean and t-ratio between science and arts youth on DI-Scale*

| | DI-1 | DI-2 | DI-3 | DI-4 | DI-5 | DI-6 | DI-7 | DI-T |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Science (Means) | 27.41 | 7.14 | 9.32 | 9.01 | 17.73 | 12.73 | 13.14 | 96.67 |
| Arts (Means) | 29.09 | 8.62 | 9.47 | 9.22 | 18.84 | 13.10 | 14.06 | 102.18 |
| T-ratio | 1.03 | 0.97 | 1.32 | 1.47 | 2.14* | .84 | .84 | .79 |

df-58, Significant at.05 level

Although significant differences between two groups did not exist. The third hypothesis " that there are significant difference between science and arts college youth as regards to discipline indiscipline behaviour" was therefore rejected. From table-4, it was found that there was significant differences between the two extreme groups of discipline and indiscipline youth in case of intelligence, caste, father's occupation education only. From their mean scores, it was concluded that intelligence, caste, occupation and education of the father of lets disciplined student was lower

than that of more disciplined youth. Thus the forth hypothesis was here accepted.

***Table-4 : Mean and t-ratio between different measures of intellectual and social factoros on DI-scale***

| Variables | More discipline M1 | Less discipline M2 | $\alpha_1$ | $\alpha_2$ | $\tau$ |
|---|---|---|---|---|---|
| Int. | 55.74 | 42.15 | 8.19 | 9.73 | 2.47* |
| Caste | 4.62 | 4.19 | 1.57 | 1.82 | 2.46* |
| Occupation | 7.23 | 6.37 | 1.28 | 1.47 | 2.39* |
| Edu. | 5.57 | 5.13 | 1.67 | 1.92 | 2.14* |
| Income | 5.01 | 4.92 | 1.11 | 1.27 | 1.67 |
| Physical facilities | 4.32 | 4.14 | .98 | 1.12 | 1.50 |

df=50, Significant at.05 Level.

## References


- Callen, F.T. and Tinto, V. "A Mertonian Analysis os School Deviance" Paper presented to the meeting of the American Educational Reasearch Association, Washingto, D.C., 1975. Rev of Edu Res. Vol (48(3), 1978. pp. 415-437.
- Hughes, C.R., A suarvey of student satisfaction within selected Illinous High schools As related to student Activism., Diss. Abst. Inf. Vol 31 (12-A), 1971P 625.
- Jalota, S.S. Mannual for group Tet of General Mental Ability Test" Deptt. of Psy. Gorkhpur Uni., 1972
- Patel, A.A. "Student Unrest and analytic Inquiry. In L. M. Singh's (ed), Youth unrest: Conflict of Generations, Delhi: National Publishing House, 1972.pp. 198-204.
- Philip, G.A. "Student Politics and Higher Education in India" Higher Edu. and Student Politics in India New York: Basic Books 2008 P.v.
- Rao, V.N., Moorthy, M.V. and Parthsarthy: R. "Behavioural Problems in School children implications for teachers training Programme., Expt. in Edu., Vol XII (3) 1984p 41-46.
- Sandhu, M.M.S. "Student Unrest in colleges and University in India 1947, 1970 p 595.
- Trivedi, G. and Udai Pareek, "Mannual for Socio-economic status scale" Manasyan 32, Netaji subhash Marg. New Delhi 1964.
- Wangu, R.S. and Joshi, J.N. "Disciplined-Indisciplined Scale" Edu. Deptt. Pb. Uni. 1982.
- Yon, M.H. "A study of the Personal Value of Koream Colleges students Activities and their perceptions of values of Korean Govt. leaders, Diss. Abst. Int., Vo. 57 (4-A) 1976pp 2089-2090.

# Aggressiveness among Children–A Function of Differential Training by Mothers

**Vivek Kumar**
*Research Scholar, J.P.U, Chapra*

## Introduction

Interpersonal aggression among children has received a great deal of attention. The forms and amount of aggression children exhiit depends primarily on their social experiences, including reinforcement received for such behaviour. Children have to learn when aggressive behaviour is appropriate and when it leads to negative consequences. Mothers played a significant role in regard of expression of aggression by the children (Shroff, 1970). There are differences among social class in the way the young children are trained for aggression (Eron, et. al., 1963).

Excessive aggressiveness may prevent the development of an adequate and healthy personality and may lead to many behaviour problems. The present study has made an attempt to study the existing practice followed by mothers for training their children for aggression which would be of help of those involved in the developmental process to drive expertise from the present exploration by developing an insight into the existing problems of controlling aggressive behaviour by mothers belonging to two diverse social systems. This would further direct to educator to essess the gravity of the problem for its handling with differential educational approach. With this contention in mind rural, urban mothers training procedures were assessed with specific reference to their knowledge on this aspect. These were explored under following specific objective:"

1. To study the existing practice followed by mothers or urban, rural, high and low income groups regarding training the children for aggressive behaviour.
2. To assess the knowledge of rural and urban, high and low income groups mothers regarding training the children for aggressive behaviour.

Methodology – The present study was conducted in Hisar City and Satroad village of Hisar block – I to cover and rural areas of the study, respectively. Mothers of high and low income groups of rural and urban (50 each) who had one child within the age of group of 2-3 years. were drawn separately by simple random sampling. Thus, 200 mothers constituted the sample. Mothers were interviewed personally with the help of structured interview schedule.

The data were analysed statistically and kolomonogovsmirnov tow sample test of significance was applied to test the difference between sub groups of the sample, to draw the meaningful inferences.

## Results and Discussion

Relevant data on existing practice or training aggressive behaviour and the extent of appropriateness with which these are followed have been furnished here.

***Table 1. Existing Practice of Training Aggressive Behaviour of Children by the Mothers or urban and Rural, High and low Income Groups.***

| Sr. No. | Response Categories | Urban High n=50 | Mothers Low n=50 | Rural High n=50 | Mothers Low n=50 | Total |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 1 | Method adopted to control the aggressive behaviour. | | | | | |
| | (a) Give advise / make them understand | 35(70) | 6(12) | 5(10) | 3(6) | 49(245) |
| | (b) Scold and spank them. | 12(24) | 25(50) | 23(46) | 31(62) | 91(455) |
| | (c) Deprive the children of things of their likeing | 2(4) | 5(10) | 2(4) | 2(4) | 11(5-5) |
| | (d) Thrating through mentioning the name of wild animals. | 1(20) | 7(14) | 9(18) | 6(12) | 23(115) |
| | (e) Do not bother | 0 | 7(14) | 11(22) | 8(16) | 29(13) |
| 2 | Mothers expression of aggression in front of children | | | | | |
| | (a) Always avoid to be aggressive. | 10(20) | 0 | 0 | 0 | 0(5) |
| | (b) Seldom avoid to be aggressive | 31(62) | 8(16) | 9(12) | 6(12) | 54(27) |
| | (c) Don't bother at all. | 9(18) | 42(84) | 41(82) | 44(88) | 136(68) |

Figures in parentheses indicate percentage.

The Table – I incorporates different aspects of aggression practice alongwith the response categories of urban and rural, high and low income groups mothers.

It is evident from Table-1 that method adopted to control the aggressive behaviour among urban high income group majority of mothers give advise or make the children understand (70 percent) whereas majority of the mothers of urban low group reported that they give punishment to the children by scolding and spanking them (50 percent).

This trend was found both among rural high and low income groups also, however in case of the letter; the percentage was higher (62 percent) than in the former (46 percent). The results revealed low income groups were less lenient than the high groups. In all the income groups scolding and spanking was higher than the other methods of punishment.

As children's aggressive behaviour get influenced by their observation and initiation of aggressive model, the information collected on this aspect reveal that a higher percentage of respondents (16 percent) among urban high income group avoided to be aggressive in front of their children. Whereas majority of mothers of urban low, rural high and low income groups had hardly bothered to avoid this.

It becomes imperative to assess the appropriateness with which this practice has been followed and whether training procedure differed significantly among the selected groups or not. These were obtained under three response categories viz. appropriately followed, somewhat appropriately followed and least appropriately followed. The frequency distribution along with percentage have been presented in Table-2.

The data in Table-2 reveal that mothers of high income group had followed this practice appropriately (80 percent) whereas in urban low groups majority of mothers (50 percent) had followed this practice least appropriately. Similarly rural mothers of both high (54 percent) and low income group (78 percent) had followed the practice least appropriately.

The kolomonogrov-smirnov two sample test of difference (non-peramatric) was applied to test the different between urban and rural of high and low income groups regarding the practice they followed. The results revealed the significant differentness ($X^2$

=40.96**) between urban high and low group mothers, whereas no significant difference was recorded between rural high and low groups.

However when high groups or urban and rural and low groups of urban and rural were subjected to the test of difference, significant results were obtained ($x^2$=57.76** and x=6.76** respectively).

***Table2. Extent of Appropriateness of following Existing practice to Train the children's Aggressive Behaviour among Mothers of urban, rural of high and low income groups.***

| Sr. No. | Extent of appropriateness | **Urban** | | **Rural** | | Total |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | High n=50 | Low n=50 | High n=50 | Low n=50 | n=200 |
| 1 | Appropriately followed (14-20) | 40(80) | 8(16) | 2(4) | 3(6) | 53(26.5) |
| 2 | Somewhat appropriately followed. (7-13) | 9(18 | 16(32) | 21(41) | 8(16) | 54(17) |
| 3 | Least appropriately followed (1-6) | 1(20) | 26(52) | 27(54) | 39(78) | 93(46.5) |
| | | UH+UL /40.90** | RH+RL /5.75 | | | |
| | X calculated | UH+RH /56.76** | UL+RL/ 6.76* | | | |

$X^2$ Tablulated (Kolmonogrov-smirnov two sample Test) **=0.01 Level of probability with 2 dt=9.21*=0.05 level of probability with 2df=5.99.

Thus, it may be inferred that urban mothers differed significantly in following this practice. Similarly urban high and rural high, and urban low and rural low differed significantly. However, rural mothers irrespective of their being of high and low income groups were found similar in following this practice.

The precision with which these practice have been followed by urban and rural mothers was by and large could be ascertained by their level of knowledge.

For this knowledge inventory containing 25 items related to this practice was prepared and responses were obtained under dichotomous categories. The aggregate scores were equally distributed into three categories viz., least sufficient, some what sufficient and insufficient knowledge. The obtained data have been incorporated in Table-3.

*Table.3 Knowledge of Urban and Rural Mothers of high and low Groups Regarding Training the Children's Aggressive Behaviour*

| Sr. No. | Level of Knowledge | **Urban** | | **Rural** | | Total |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | High n=50 | Low n=50 | High n=50 | Low n=50 | n=200 |
| 1 | Sufficient (18-25) | 0 | 0 | 0 | 0 | 0 |
| 2 | Somewhat sufficient | 36(72) | 20(40) | 7(14) | 4(8) | 67(33.5) |
| 3 | Insufficient (1-8)(9-17) | 14(28) | 30(60) | 43(86) | 46(92) | 133(66.5) |
| | | UH+UL /10.2464** | RH+RL /00.96 | | | |
| | $X^2$ calculated | UH+RH /33.64** | UL+RL/ 10.24 | | | |

* 9.21 at 0.01 level with 2*df.*

** 5.99 at 0.05 level with 2*df.*

Table-3 reveals that mothers of urban high income groups had somewhat sufficient level of knowledge (72 percent) where as urban low had insufficient level of knowledge. In case of mothers of rural high and low both the groups had insufficient level of Knowledge (86 percent and 92 percent respectively). The statistical test of difference between all these combinations show significant differences except among rural high and low groups. In case of urban high and low (x′=10.24**). High urban and rural (X′=33.64**) and urban and rural (X′=10.24) groups. The data reveal that mothers of rural high and low income groups possessed almost similar level of knowledge, whereas among urban groups differential knowledge levels were observed.

Thus, it may be concluded that urban and rural mothers followed the differential procedure of training children for aggressive behaviour and had differential level of knowledge on this aspect has to be imparted to mothers especially of rural areas to avoid the future problems of aggressive behaviour among children.

## References


- Eron, L.D. et. at., [1963]. Social Class, parental punishment for aggression. Child Development, 34.
- Mussen, H.P., Conger, J.J. and Kagan, J. [1974] Child Development and Personality. Harper and Row Publishers, Inc. New york, IV Edition, pp. 370-373.
- Shroff, N.C. [1970]. A study of child rearing practices in Ismaili Community in Ahmedabad city. Master Degree Disseion, M.S.University, Baroda.

# Raising Competence of Indian Administrators-role of IT Training

**Dr. Madhu Kumari**

In March 2000, as mandated by the Commonwealth Programme "Towards a New Public Administration", the Management and Training Services Division of the Commonwealth Secretariat launched a special focus centre "The Centre for Electronic Governance" called. It was designed following wide consultations amongst various communities of interest, practice and expertise in Canada, Hong Kong, Malaysia, Malta, Singapore, South Africa and United Kingdom. Commonwealth Secretariat is a founder member of the Global Knowledge Partnership (GKP). The Centre for Electronic Governance, in due course, will be recognized as a focal point in the use of the new information and communication technologies as tools for reinventing good governance.1 Based on similar objectives, on August 15, 2000, Pramod Mahajaii, Union Minister of Information Technology, inaugurated the Centre for E--Governance (CEG) based at New Delhi.

Indeed, the days when governance and government were associated with rigid bureaucratic controls and cumbersome files and paperwork leading to delays, corruption, etc., set-it; to be almost over now. The 1990s have witnessed a strengthening of conviction that government can be reinvented through intensive applications of IT and New Public Management (NPM). IT is a result of convergence of a number of technologies of computer, communication, control and instrumentation. The NPM seeks to make administration citizen focused and there; is no doubt that technology-enabled governance would not just be 24 hours, 7 days, one-stop public oriented but would also prove to be Simple, Moral, Accountable, Responsive and Transparent (SMART) governance. As rightly pointed out by Barber IT could strengthen civic education, guarantee equal access to information and tie individuals and institutions into networks that will make real participatory discussion and debate across great distances.[2] In Britain, this activity of exploiting new informational and communication abilities has focused mainly on 'open government', where the government offers public access to certain kind of information resources (http://www.open.gov.uk). Singapore believes in cooperative

arrangements. among government agencies to integrate services and provide one-stop solution for several government-related transactions like passports and registrations etc., (http://www.gov.sg). Back home, in India, the most common use of the interactive properties of IT is to add value to public services by streamlining customer inquiry and feedback facilities (http://www.rajgovt.org). In Andhra Pradesh, the Chief Minister's Office (CMO) has become almost a paperless office and Chief Minister gives instructions and receives the feedback by video conferencing. This proves Symonds right: "...And after e-commerce and e-business, the next Internet revolution will be e-government".[3]

## Application of IT in Public Administration

IT implications in Public Administration can be broadly Categorized as under:

- *IT for Critical Processes:* Critical processes are the ones that produce goods or services for the public, like registration and licensing process. The true manifestation of E-governance is to re-engineer and automate these information delivery critical processes where the government shares products (like passport/Licensing forms) or information (status of an application) with its own people.
- *IT for Support Processes:* IT can also be used for automating the internal 'back office' processes, like payroll and planning processes, involved in the internal working of the organization.

### *Enhancing IT Awareness Promoting IT Literacy, Education and Training*

To imbibe these new technologies and to exploit them to hilt, the administrators have to be trained on the use and application of these emerging technologies. Indeed the success of the administrator lies in absorption, adaptation and acquisition of IT and IT-based technologies to compete globally. This, in return, entails that now the choice of modern administrator should be of a person having a reasonable foundation built through adequate IT education. Y.K. Alagh, Committee, constituted for revision of recruitment policies of civil servants of India, can further explore this aspect. While in service, the administrator should keenly exhibit flair to adapt and adopt essential IT literacy in all possible spheres of working, which can further be supplemented through structured IT training. "IT education is concerned more about IT products and IT software industry, while IT training is all about the use of

the IT product and IT software".[6] IT literacy on the other hand is awareness of the applicability of the software to handle routine operations for office automation, like word processors for letter-writing, spreadsheets for data- analysis and Internet surfing for access to wider information. To gain knowledge of IT, training is a more systematic approach than IT-literacy as the latter involves learning IT through repeated usage and experience only. IT training is also more user-friendly than IT education, since the latter is more computer-science focused. Whatever lack of confidence is found in certain administrators due to inadequate or absence of IT education or IT literacy, it can be easily surmounted through adequate IT training. Advances in teaching methods involving an appropriate selection of topics, proper coverage of these topics and use of animated simulations can significantly ease the teaching of computers to non- specialists.7

### *Importance of IT Training*

To keep pace, with the changing trends, administrators should constantly hone their capabilities through IT training. Training is the most important input for Human Resource Development and specifically for a technical subject like IT. The indisputable benefit of training, especially relevant for IT training is that training inculcates in the administrators the necessary decision-making abilities required to design and implement government's initiatives in economic and technological reforms. Training also improves functional competence, effectiveness of rendering service and professional awareness of the administrators. Some of the main reasons elucidating the importance of IT training for the Indian administrators are listed below:

- IT has created a vast application spectrum especially with the advent of e-governance. The redefined role of public administrator now demands the ability to supervise the successful implementation and usage of public information system. To control these information systems and to avail optimum benefits from the investments, training of officials at all the levels is imperative. Administrators often encounter problems and delays on their jobs and are unaware how and which of these problems can be solved by IT and which cannot be. India should take a leaf from the lessons learnt by developed countries whose investments made in IT implementation for governmental information systems were not in direct proportion to the investments made on training the public managers. Despite important and growing resource

allocations, the Canadian experience illustrates resistance to change, and an under-utilization of new technological capacities.[8]

- A thorough exposure of Information and Communication Technologies' (ICT) tools an their applications should also be era of e-governance, they are now also the key policy-makers and policy-implementers on IT related issues. The *Third Report of National Task Force on IT* (set up by the Prime Minister) focusscs a lot on IT Human Resource Development. One of its clauses titled "IT in Government" reads "Each Department/ Agency in the Central Government and State Governments shall be required to prepare a Five Year IT Plan". It continues to say elsewhere "A clear IT vision can be developed, because the senior bureaucrats are after all the key decision makers of any new national IT plans and policies". It also mentions that "in the Annual Confidential Reports of government employees, a column shall be introduced regarding contribution to IT utilization in the department organisation".[9] Certainly, IT training has a strategic role to play at each of the stages of policy planning, policy analysis, policy implementation and policy changes to be carried out by the present-day administrator especially on and about IT.
- Due to rapidly changing IT trends, learning, unlearning and relearning IT should also form a continuous cycle. Though hardware and software power is continuously increasing, there is evidence that users do not make much use of this upgraded functionality and, despite major financial investments their organizations make in procuring these latest tools. For example, a study, conducted in 1995 in Britain, mentions the views of Microsoft that many users still don't know how to run multiple applications simultaneously even though this is a major feature of its Windows software. This reinforces that training should be conducted at fixed intervals for helping the administrators to constantly upgrade his knowledge and take advantage of the latest concepts of IT

### *Training Needs of Administrators*

The nature and role of administrators demand a very typical kind of IT training programme. Some of the factors, highlighting the nature and role of their functioning are cited below:

- They have to ensure all aspects of good governance within social and cultural constraints.

- The administrators are regularly involved in assessing the economic viability and project implementation.
- The administrators have to deal with a big spatial spread of work, involving vast manpower and wide dissemination of required subject matter to the public.
- The thrust of their function is to act for "social cause" and to ensure a healthy judiciary and legislature.
- They are regularly involved in duties involving a whole, gamut of public grievances and service-delivery issues.

### *New Approaches of Training*

Following are the approaches of training: (1) Systematic approach, (2) Self-learning approach, and (3) Holistic and integrated approach. These are discussed in the following paras.

### *Systematic Approach*

This approach becomes operative when:

- Trainees are selected on the assessment of training needs
- Training is imparted by those who have been taught how to instruct
- The job has been analysed into stages
- Trainee's performance is measured, and he is told as to how he is progressing
- Record is kept on trainee's progress.[15]

Applying this definition of systematic approach to IT training, variables effecting functioning and performance of administrators should be considered to first assess the IT training needs. The role and expectations from an IT trainer should be clarified and his/her skills should be updated to handle the redefined training methodology. Monitoring and evaluation of trainee's performance should be done against quantifiable performance indicators derived by matching of the trainee's job objectives and training objectives.

### *Self-learning Approach*

In the self-learning mode comprise special training packages are provided to the administrators at their respective place of work for training on essential IT concepts and their application. Closest to this approach would be training through distance learning, using CBT tutorials and WBT. The basic objective of this approach is that getting familiar. with the products should be on a self-learning mode. Emerging.models like the Self-Directed Learning Perception Scale (SDLPS) explore ideas and opinions on what supports the

self-directed learning process. On these lines, specific packages should be designed and used which would facilitate self-learning among the administrators. This model would be particularly suitable for Indian administrators due to limited access to formal and organised IT training opportunities and should be encouraged.

### *Holistic and Integrated Approach*

Holistic Approach would be one which would pay special attention to all emerging IT technologies, and their role as facilitators of strategic advantage in the government and governance. This entails a more integrated approach in IT training, encompassing the Digital and Distributive teaching modes, actual, 'live' case studies as projects for administrators and implementation of self-learning approach during IT training. Concepts should be emphasised using specific products but they should not become the primary objective of teaching. The IT training imparted should be more application-oriented so that the administrators are able to recognise the impact and effects of IT on all the related areas of their jobs and can generate performance and learning at the moment of need.

### *New Modes of Training*

The traditional method of Instructor-led training has always meant tedious preparation of (may be obsolete too) lesson plans and the pressures associated with teaching a roomful of trainees with varying degrees of knowledge and experience. Creativity gets more and more remote as the access to resources and the latest know-how declines. Such sessions usually remain utterly academic and monotonous. The experiences make possible a transformation of conventional-instructor-based training to be supplemented or replaced by technology-based training.

### *New Mode of IT Training: Technology Based Training*

Information Communication Technologies are an increasingly effective tool to deliver development services and technical assistance, reaching more people, geographically deeper, with a higher quality and faster than traditional means. As technology has changed society and public sector organizations, there is an increasing need for new types of training in order to support those organizations. Computer-based training is one source of that training, since it can be provided just in time and allows participants to have more flexibility in their learning experiences.[16] However, there is a cost element attached to this transformation to IT-based training but it pays back very fast despite a problem of faster pace

of obsolescence. Nevertheless the merits supersede the disadvantages and hence it would soon become an indispensable mode of training. Technology-based training can be both Computer-based and Web-based.

***Computer-Based Training (CBT)***

It is an online mode of training, where the conventional teacher gets replaced (or aided) by an interactive tutorial software, the paper by computer screen, and pen of the trainee by a mouse and keyboard. Computer-based tutorials and assignments can be used individually by the trainees. This mode of training is more interactive where the trainee can progress at his/her own speed irrespective of the group speed. The existing evidence suggests that most of the types of computer-based trainings are just as effective, if not more, than traditional forms of instruction.

Web-based Training (WBT): Distributed Learning this mode replicates traditional classroom teaching of Distance Learning into an alternative instructional paradigm: Distributed Learning. WBT provides unlimited sources of information. Using the Internet or Intranet, the educators and students can join distributed conferences that provide an instant network of contacts with useful skills, a personal brain trust with just-in-time answers to immediate questions. On the Internet, on-line archival resources are increasingly linked into the World Wide Web, accessible through "web crawlers" such as Mosaic and Netscape. Eventually, artificial intelligence-based guides will facilitate navigation through huge amounts of stored information.[17] All the benefits of distance and digital learning i.e. flexibility, effectiveness, affordability, multi-sensory, equity and interactivity get packed in web-based training.

A news item, dated August 16, 2000, titled "Back-to-School Special" appearing on Internet site of 'Government Technology'[18] talks about creation of a 'digital academy' at Washington for administrators. The academy brings staff such as programme managers, development leaders and project managers together into an environment that is far removed from their daily haunts. The first project handled by academy was online permission for mooring of boats in state parks, which allows payment through Internet. The forthcoming projects to be created and implemented using cooperation of IT industry, would be on e-forms and professional licences. The viability of such a model can be examined in Indian context of imparting IT training to the administrators. Such initiatives would require a very detailed, in-depth study before being implemented in Indian situation.

## Measures for Securing Meaningful Impact of IT Training on Governance

To make IT training more meaningful for the administrators so as to make an impact on the governance of the country, the following measures are suggested:

1. Certain performance indicators should be evolved to assess the IT training needs for senior administrators.
2. An appropriate IT oriented programme for administrators should include the demands, opportunities, limitations, and processes that characterize public management. Instead of focusing on generic technology topics, the distinctive characteristics of the government in the era of e-governance ought to be addressed. The redefined IT training model should try to provide administrators with training to assist them in planning and implementing e-government initiatives. Some of the important topics to be included in an ideal IT training programme for the administrators can be: 'Online service delivery, Cyber laws and cyber policing, Policy initiatives, Managing the transformation, Security issues, e-project, and Risk management'.
3. To make e-governance work, it is necessary to train the present workforce to work in a new technology driven atmosphere. To supplement the existing classroom teaching mode, a technology based 'virtual' and 'digital' classroom can also be visualized for the administrators of India. This special classroom might symbolize an environment that kick starts collaboration with IT industry and energizes the public managers to substitute their file-oriented, conventional mentality with innovative and efficient ways to deliver government services.
4. Various factors hindering successful implementation of digital and administrators need to be examined and solved. Requirements so essential for successful delivery of IT training programmes, such as course-planning, proper Internet access, well trained faculty, training hardware, relatedcourse prerequisite before launching any IT training programme.
5. Proper planning should be premeditated to sustain this innovative IT training model, 1T training resources being limited at present, sharing of resources of training institutes with that of industry should be encouraged. One of the examples of this option is '*leasing* the office space in lieu of training'. Suitable floor space in government buildings, which are not utilised during non-office hours, could be given to

private educational institutions for IT training purposes in return for a proportionate number of free nominations of government employees for IT training. A mutually beneficial relationship can be worked out with various IT vendors and service providers. Collaborations with hardware and software companies could also be undertaken.

## References


1. Centre for Electronic Governance, New Effort of Commo.htm.
2. U.K. liarber, *Strong Democracy: Participatory Politics for a New Age,* Berkeley, University of California Press, 1984, p. 274.
3. Mathew Symonds, *The Times of India, July* 7, 2000.
4. Presentation given by Hans D'orville, Bydr., Director IT For Development Programme, UNDP, on March 8, 1999 at Cainet-Caiio, Egypt on "Electronic Community Centres-A Platform to Bring Knowledge and Information Technologies to the People".
5. Bruce Rocheleau, "Governmental Information System Problems and Failures: A Preliminary Review", 1992,
6. R.G. Gupta and V.S.P. Srivastva, "Perspectives on IT Education and Training" paper presentation in the "Workshop on IT in the New Millennium" held in April 1999 at IAMB.
7. Alan W. Biermann, "Computer Science for Many" in *Computing Milieux,* February, 1994.
8. Gilles Paquet and Jeffrey Roy, "Information Technology, Public Policy and Canadian Governance: Partnerships and Predicaments", G. David Garson (ed.), *Handbook of Public Information System,* New York, Marcel & Dekker, 1999.
9. *The Third Report of National Task Force (1999-2000)* set up by Prime Minister of India. *Report of Managerial Training Need$ Analysis of Senior Administrators in the Civil Service of India,* New York, United-Nations Secretariat, Department of Economic and Social Development, 1992, p. 21.
11. Ibid., p. 22.
12 .India, *Third Report of National Task Force on IT in Government,* New Delhi, Government of India, 1999.
13. India, *National Training Policy,* Training Division, Department of Personnel and Training, Ministry of Personnel, Public Grievances and Pensions, Government of India, New Delhi, 1996.
14. A report published in *PC WORLD India,* June 2000.
15. O.P. Minocha, "Training in Public Sector Undertakings: A Systematic Approach", *Indian journal of Public Administration,* Vol. xxxiv No. 3, July-Sept, 1988, pp. 658-70.
16. Genie Stowers, "Computer-Based Training in the Public Sector", G. David Garson fed.) *Handbook of Public Information Systems, op. cit.*
17. Guillermo E.. Pedroni, *Getting Technology and Computers Into the Classroom in Education K-12,* thesis submitted to Southern University *At Edwardsville, in partial fulfillment of the requirement for the M.S.E. degree, 1996.*
18. http://www.govt, tech.net
19. Guillermo E. Pedroni, *op.cit.*



**Senior Lecturer, JD Women's College, Patna**

# Caste Stratification in Indian Society

**Dr. Surendra Mohan**

*Department of Sociology, RKD College, Patna*

The Indian caste system describes the system of social stratification and social restrictions in India in which social classes are defined by thousands of endogamous hereditary groups, often termed *jatis* or castes.

Within a jati, there exist exogamous groups known as gotras, the lineage or clan of an individual. In a handful of sub-castes such as Shakadvipi, endogamy within a gotra is permitted and alternative mechanisms of restricting endogamy are used (e.g. banning endogamy within a surname).

The Indian caste system involves four castes and outcasted social groups. Although generally identified with Hinduism, the caste system was also observed among followers of other religions in the Indian subcontinent, including some groups of Muslims and Christians.

Caste barriers have mostly broken down in large cities, though they persist in rural areas of the country, where 72% of India's population resides. None of the Hindu scriptures endorses caste-based discrimination, and the Indian Constitution has outlawed caste-based discrimination, in keeping with the secular, democratic principles that founded the nation.

Nevertheless, the caste system, in various forms, continues to survive in modern India because of a combination of political factors and social perceptions and behaviour. The history of the Indian caste system dates back to the Vedic period.

The origin of the caste system as it is today is still obscure. There is significant disagreement regarding whether or not castes are genetically distinct, and whether genetic differences between groups might partly explain their origin. A 1995 study by Joanna L. Mountain et al. of Stanford University concluded that there was "no clear separation into three genetically distinct groups along caste lines", although "an inferred tree revealed some clustering according to caste affiliation".

A 2001 genetic study, led by Michael Bamshad of University of Utah, found that the genetic affinity of Indians to Europeans is proportionate to caste rank, the upper castes being most similar to Europeans, whereas lower castes are more like Asians. The researchers believe that the Indo-European speakers entered India from the Northwest, admixing with or displacing the proto-Dravidian speakers.

Subsequently they may have established a caste system and placed themselves primarily in higher castes. The study concludes that the Indian castes "are most likely to be of proto-Asian origin with West Eurasian admixture resulting in rank-related and sex-specific differences in the genetic affinities of castes to Asians and Europeans.". Because the Indian samples for this study were taken from a single geographical area, it remains to be investigated whether its findings can be safely generalized.

A 2002-03 study by T. Kivisild et al. concluded that the "Indian tribal and caste populations derive largely from the same genetic heritage of Pleistocene southern and western Asians and have received limited gene flow from external regions since the Holocene."

A 2006 genetic study by the National Institute of Biologicals in India, testing a sample of men from 32 tribal and 45 caste groups, concluded that the Indians have acquired very few genes from Indo-European speakers.

According to a 2006 study by Ismail Thanseem et al. of Centre for Cellular and Molecular Biology (India) "the vast majority (>98%) of the Indian maternal gene pool, consisting of Indo-European and Dravidian speakers, is genetically more or less uniform", while the invasions after the late Pleistocene settlement might have been mostly male-mediated.

The study concluded that the "lower caste groups might have originated with the hierarchical divisions that arose within the tribal groups with the spread of Neolithic agriculturalists, much earlier than the arrival of Aryan speakers", and "the Indo-Europeans established themselves as upper castes among this already developed caste-like class structure within the tribes."

The study indicated that the Indian caste system may have its roots much before the arrival of the Indo-Aryan immigrants; a rudimentary version of the caste system may have emerged with

the shift towards cultivation and settlements, and the divisions may have become more well-defined and intensified with the arrival of Indo-Aryans.

A study conducted by the Centre for Cellular and Molecular Biology in 2009 (in collaboration with Harvard Medical School, Harvard School of Public Health and the Broad Institute of Harvard and MIT) analysed half a million genetic markers across the genomes of 132 individuals from 25 ethnic groups from 13 states in India across multiple caste groups.

The study concludes, based on the impossibility of identifying any genetic indicators across caste lines, that castes in South Asia grew out of traditional tribal organizations during the formation of Indian society, and was not the product of any mythical Aryan Invasion and subjugation of Dravidian people. The caste system as we know today is not from the classical Hindu system. According to classical Hindu system, the society was divided into four "Varnas" (classes or categories), purely based on profession and not by birth.

1. Brahmins – the clergy, teacher, religious authority
2. Kshatriya – the warriors, administrators, political authority
3. Vaisyas – the merchants, farmers, the business persons
4. Shudras – the servants, labours.

The Varna system was originally evolved for the classification of human duties in a healthy society. The system allowed free movement within the Varnas. So a Brahmin's son can be a Khatriya or Vaisya. The caste system practiced today is not mentioned anywhere in any of the Hindu scriptures. Although the Hindu scriptures contain some passages that can be interpreted to sanction the caste system, they also contain indications that the caste system is not an essential part of the Hindu religion, and both sides in the debate are able to find sections in scriptures that support their views.

The most ancient scriptures—the *Shruti* texts, or Vedas, place very little importance on the caste system, mentioning caste only sparingly and descriptively (i.e., not prescriptive). Indeed, the only verse in the *Rigveda* which mentions all four *varnas* is 10.90, the *Purushasûkta*. The other *varnas*, the *Brahma* (i.e. Brahmins) and *Rajanya* (i.e. Kshatriyas) are mentioned separately in some other verses in the *Rigveda* (e.g. RV 10.80.1) and the other Vedas, and

rarely in the Upanishads. Some—definitely including most *Smriti* texts—have interpreted these as *prescribing* the division of society in the four *varnas*. A hymn from the Rig Veda seems to indicate that one's caste is not necessarily determined by that of one's family:

*Rig Veda 9.112.3*

—I am a bard, my father is a physician, my mother's job is to grind the corn.

In the Vedic period, there also seems to no discrimination against the Shudras (which later became an ensemble of the so-called low-castes) on the issue of hearing the sacred words of the Vedas and fully participating in all religious rights, something which became totally banned in the later times. Later scriptures such as *Bhagavad Gita* and *Manusmriti* state that the four varnas are created by God. However, at the same time, the Gita says that one's varna is to be understood from one's personal qualities and one's *karma* (work), not one's birth.

Some scholars believe that, in its initial period, the caste system was flexible and it was merit and job based. One could migrate from one caste to other caste by changing one's profession. This view is supported by records of sages who became Brahmins. For example, the sage Vishwamitra belonged to a Kshatriya caste, and only later became recognized as a great Brahmin sage, indicating that his caste was not determined by birth. Similarly, Valmiki, once a low-caste robber, became a great sage. Veda Vyasa, another sage, was the son of a fisherwoman. Vasishtha was a shudra and he became sage later.

## References


- Chaklader, Snehamoy : *Sociolinguistics: A Guide to Language Problems in India*, New Delhi, Mittal, 1990.
- Chaturvedi, Pratima : *Social Work : Theories and Practices,* Book Enclave, Delhi, 2005.
- Das, D.K. Lal : *Practice of Social Research : Social Work* Perspective, Rawat, 2000.
- Devi, Ranjna K. : *Social Work, Philosophy, Concepts and Dimensions*, Omega, Delhi, 2009.
- Dumont, Louis: *The Caste System and Its Implications*, London, Granada Pub. Ltd., 1970.
- Gorhe, Neelam: *Social Development and Dalit Women*, Gyan Pub. House, New Delhi, 1995.
- Iqbal, Shaikh Azhar : *Problems of Social Welfare and Social Work*, Sublime, Delhi, 2005.

# Dynamics of Social Movements

**Dr. Neelam Kumari**

*Department of Sociology, Women's College, Vaishali*

Social movements are not eternal. They have a life cycle: they are created, they grow, they achieve successes or failures and eventually, they dissolve and cease to exist.

They are more likely to evolve in the time and place which is friendly to the social movements: hence their evident symbiosis with the 19th century proliferation of ideas like individual rights, freedom of speech and civil disobedience. Social movements occur in liberal and authoritarian societies but in different forms. However there must always be polarizing differences between groups of people: in case of 'old movements', they were the poverty and wealth gaps.

In case of the 'new movements', they are more likely to be the differences in customs, ethics and values. Finally, the birth of a social movement needs what sociologist Neil Smelser calls an *initiating event*: a particular, individual event that will begin a chain reaction of events in the given society leading to the creation of a social movement.

For example, American Civil Rights movement grew on the reaction to black woman, Rosa Parks, riding in the whites-only section of the bus (although she was not acting alone or spontaneously—typically activist leaders lay the groundwork behind the scenes of interventions designed to spark a movement). The Polish Solidarity movement, which eventually toppled the communist regimes of Eastern Europe, developed after trade union activist Anna Walentynowicz was fired from work. The South African shack dwellers' movement Abahlali baseMjondolo grew out of a road blockade in response to the sudden selling off of a small piece of land promised for housing to a developer. Such an event is also described as a *volcanic model*-a social movement is often created after a large number of people realize that there are others sharing the same value and desire for a particular social change.

One of the main difficulties facing the emerging social movement is spreading the very knowledge that it exists. Second

is overcoming the free rider problem-convincing people to join it, instead of following the mentality 'why should I trouble myself when others can do it and I can just reap the benefits after their hard work'.

Many social movements are created around some charismatic leader, i.e. one possessing charismatic authority. After the social movement is created, there are two likely phases of recruitment. The first phase will gather the people deeply interested in the primary goal and ideal of the movement.

The second phase, which will usually come after the given movement had some successes and is trendy; it would look good on a resume. People who join in this second phase will likely be the first to leave when the movement suffers any setbacks and failures.

Eventually, the social crisis can be encouraged by outside elements, like opposition from government or other movements. However, many movements had survived a failure crisis, being revived by some hardcore activists even after several decades.

Sociologists have developed several theories related to social movements [Kendall, 2005]. Some of the better-known approaches are outlined below. Chronologically they include:

- collective behaviour/collective action theories (1950s)
- relative deprivation theory (1960s)
- marxist theory (1880s)
- value-added theory (1960s)
- resource mobilization (1970s)
- frame analysis theory (1980s) (closely related to social constructionist theory)
- new social movement theory (1980s)
- political process theory (1980s).

Deprivation theory argues that social movements have their foundations among people who feel deprived of some good(s) or resource(s). According to this approach, individuals who are lacking some good, service, or comfort are more likely to organize a social movement to improve (or defend) their conditions.

There are two significant problems with this theory. First, since most people feel deprived at one level or another almost all the time, the theory has a hard time explaining why the groups that

form social movements do when other people are also deprived. Second, the reasoning behind this theory is circular-often the only evidence for deprivation is the social movement. If deprivation is claimed to be the cause but the only evidence for such is the movement, the reasoning is circular.

Derived from Karl Marx, Marxism as an ideology and theory of social change has had an immense impact on the practice and the analysis of social movements.

Marxism arose from an analysis of movements structured by conflicts between industrial workers and their capitalist employers in the 19th century. In the twentieth century a variety of neo-Marxist theories have been developed that have opened themselves to adding questions of race, gender, environment, and other issues to an analysis centred in (shifting) political economic conditions.

Class-based movements, both revolutionary and labour-reformist, have always been stronger in Europe than in the US and so has Marxist theory as a tool for understanding social movements, but important Marxist movements and theories have also evolved in the US. Marxist approaches have been and remain influential ways of understanding the role of political economy and class differences as key forces in many historical and current social movements, and they continue to challenge approaches that are limited by their inability to imagine serious alternatives to consumer capitalist social structures.

Mass society theory argues that social movements are made up of individuals in large societies who feel insignificant or socially detached. Social movements, according to this theory, provide a sense of empowerment and belonging that the movement members would otherwise not have.

Very little support has been found for this theory. Aho (1990), in his study of Idaho Christian Patriotism, did not find that members of that movement were more likely to have been socially detached. In fact, the key to joining the movement was having a friend or associate who was a member of the movement.

Structural strain theory proposes six factors that encourage social movement development:

1. structural conduciveness-people come to believe their society has problems
2. structural strain-people experience deprivation

3. growth and spread of a solution-a solution to the problems people are experiencing is proposed and spreads
4. precipitating factors-discontent usually requires a catalyst (often a specific event) to turn it into a social movement
5. lack of social control-the entity that is to be changed must be at least somewhat open to the change; if the social movement is quickly and powerfully repressed, it may never materialize
6. mobilization-this is the actual organizing and active component of the movement; people do what needs to be done.

This theory is also subject to circular reasoning as it incorporates, at least in part, deprivation theory and relies upon it, and social/structural strain for the underlying motivation of social movement activism. However, social movement activism is, like in the case of deprivation theory, often the only indication that there was strain or deprivation.

Resource mobilization theory emphasizes the importance of resources in social movement development and success. Resources are understood here to include: knowledge, money, media, labour, solidarity, legitimacy, and internal and external support from power elite.

The theory argues that social movements develop when individuals with grievances are able to mobilize sufficient resources to take action. The emphasis on resources offers an explanation why some discontented/deprived individuals are able to organize while others are not.

## References


- Carl, J. Friedrich: *Constitutional Government and Democracy,* Boston, Ginn, 1950.
- Diwan, Jagmohan : *Fundamentals of Rural Sociology*, Cyber Tech Pub, Delhi, 2009.
- Eysenck, Hans : *Psychoticism as a Dimension of Personality*, Pergamon, Elsevier Science Inc, Amsterdam, 1997.
- Khan, Masood Ali : *Cultural Sociology of India*, Arise Pub, Delhi, 2006.
- Louis, Prakash : *The Political Sociology of Dalit Assertion*, Gyan, Delhi, 2003.
- Ramesh, G. S. : *Philosophy of Indian Sociology*, Global Vision, Delhi, 2005.
- Singh, Balveer : *Medical Sociology of Tribal Community*, Himanshu, Delhi, 1992.
- Tyegi, S.P. : *Essentials of Sociology*, Sublime Pub, Delhi, 2007.

# Population and Education in the Context of Development: International Prospective

**Dr. Premanand[1] and Dr. Abhay Kumar[2]**

*1. Reader, Deptt. Of Commerce, KCTC College, Raxaul*
*B. R. Ambedkar Bihar University, Muzaffarpur*

*2. 203, Lata Kunj, Boring Road, PATNA – 800 001.*

Education in the largest sense is any act or experience that has a formative effect on the mind, character or physical ability of an individual. In its technical sense, education is the process by which society deliberately transmits its accumulated knowledge, skills and values from one generation to another.

Economic prosperity of a country entirely depends on the economic resources it has. These economic resources are classified as Natural resources, Financial resources and Human resources. Natural resources comprise of fertile land, ideal topography, abundant forests, sufficient mineral resources and excess water supply. Financial resources include the capital needed for the economic activities. Human resources include the population, its growth rate, skills, standard of living and working capacity of the labour force. According to modern economists a country leading in natural resources has more opportunities to develop than that of a country lacking in such resources. But only abundant availability of natural resources does not make sure the economic development of a country, these resources need to be utilized at their optimum. And this is only possible when efficient manpower utilizes these resources. The developed economy of Japan is the open example in this regard whereby Japan had overcome the deficiency of Natural resources by excelling in Human resources. In other words, it can be said that economic development only occurs when Natural and Financial resources are maintained properly by efficient Human resources.

On the other hand, if Human resources fail to maintain Natural and Financial resources, these resources may be improperly utilized, underutilized or unutilized and cause economic inefficiency. For instance, underdeveloped countries of the world like, Afghanistan has excess of mineral resources but the economy is not developed due to lack of Human resources. Another example is Pakistan, where they have sufficient mineral resources but due to lack of skilled manpower they cannot utilize all those resources,

and as a result of such they are not in the queue of developed countries.

Literacy is the key tool to make the workforce efficient. The word literacy means *"a state of being able to read and write"*. In a broader sense literacy is a phenomenon by which one can enhance ones communication, professional and social skills. The impact of literacy on economic development is positive and can be easily determined by comparing the standard of living, per capita income, GDP, industrialization and development of infrastructure within a country. Literacy enhances the working capabilities of people by providing them with skill development.

"Two thousand years ago population growth and production were positively correlated. More people meant greater productivity and security."

The current modernization and technological advancement of today's world is highly attributable to centuries of rapid population growth and economic expansion. Hundreds of years ago, when societies and economies initially began to flourish, success was dependent upon a productive agriculture sector. A growing population meant more workers and labourers who would increase overall output. With more productive labour, the economy inevitably expanded and society reaped the financial benefits. Centuries ago, population booms were positive indications of the potential for long term economic growth. High fertility rates during these times allowed for increased labourers and also helped overcome the correspondingly exorbitant death rates. The combined effects of "famine, disease, malnutrition, plague and war" resulted in death rates that were high and inconsistent.

Given the lack of modern medicine that many countries faced until recently, death rates remained relatively elevated for several centuries. Thus, in order to have any net population growth and eventual economic development, fertility rates had to be elevated.

In the twentieth century, modernization and technological expansion allowed societies to gain control of the ailments that previously killed large percentages of the population. Suddenly, societies were equipped to overcome famine, malnutrition, and other life threatening diseases. Rapid technological advances in modern medicine and sanitation drastically reduced global mortality rates.

Increased technology also improved labour productivity. This combination of both technological and medical improvements set the conditions for unprecedented booms in world population growth."

Despite a rapid decrease in mortality rates, global fertility rates remained constant and caused exponential growth within the global population. No longer do birth rates struggle to keep up with death rates. Currently, global fertility rates far outweigh mortality rates, forcing the world to confront serious population growth issues. With almost 7 billion people, the world population is placing a huge strain on natural resources. Unfortunately, the projections for the future do not appear to be improving.

Education and economic development have endless companionship, but the role played by literacy on economic development is quite dominant. Literacy has the positive influence on the economics development in the following ways:

Education develops a sense of responsibility among the common man, by which one can become a good citizen. Increasing rate of literacy also helps to control and maintain population growth. Hence qualitative population is found with increased standard of living and more access over basic needs.

Increased technical education helps to develop new and sophisticated methods of production and distribution, which can reduce the cost of production and increase the rate of return.

Educated and skilled workers are the assets of a country, which may have demand not only within the country but are highly demanded in other countries also. By rendering their services abroad they can earn more of the foreign exchange and GDP will increase with the increase in foreign earnings.

If literate people come to run the government along with economy, country will have a great benefit in such a way these people will allocate the resources at their best and hence the chances of misallocation and mis-utilization of resources will diminish.

Proper and planned allocation of resources brings increased and qualitative production. Increased production leads to more employment opportunities. Thus the level of unemployment reduces from the country.

Inflation is one of the major problems of today's economics. According to the research reduction in inflation is directly related to the reduction in unemployment level. As literacy and skill

development helps to reduce the unemployment it leads towards the control over inflation. And hence economy rides on the strong horse of development.

Along with the development of professional and communication skills, literacy and education develop social skills by which an individual learns to move in the society and he realizes the importance of society, as no one can live in isolation. By enhancing the skills among the workers, the organization can get maximum productivity.

In fact, education has great importance in the economic development of a country. Education brings all the positive changes in variable factors of production as well as in infrastructure development; it also minimizes or may wipe out negativities. No one can deny the importance of literacy. It can be said that education is a pillar on which the major part of an economy stands, if the pillar is strong enough to hold the economy, the anomalies can be reduced very easily and the economy will multiply. And if the pillar of education is weak and fragile the anomalies may push the economy downward and the economy may fall down on all four.

For the better economic development it is more important to strengthen the pillar of education. It requires strategic planning and financial resources to facilitate the education programs. The financial resources required for the development of education programmes may not be considered as expense, in fact, it is an investment which gives fruitful results in future. The strategic planning required for the development of education programmes is the part of economic planning. The strong the economic planning is the better the result will be.

Concisely, economic development depends on the qualitative workforce and this qualitative workforce can be acquired by developing professional, social and communication skills through literacy and education. As the people of a country are literate they will work much better for their own and as they will work to satisfy their needs, simultaneously country's economy will grow and develop.

In the modern society educational development of the citizens particularly in the context of literacy and elementary education of 10 to 14 years children remains as the major responsibility of every nation state. Economic development, certainly, contributes towards educational development in terms of provision of appropriate resource support and job opportunities to the products of education system. However, alarming growth of population not only comes on the way of educational development of the masses

but also development of concerned nations states in wider form. That is how there is a division of nations not only on the ground of population but also on the ground of economic development. Population growth and economic development seem to be negatively correlated with each other.

During last two decades there have been tremendous efforts at international level through World Bank and UNESCO for educational development in developing countries. Of course, the large-scale population growth has been drawing special attention in the context of educational and economic development of developing countries.

There have been special programmes for cent-percent enrolment of 6 to 14 years age group children in primary schools. As a result the developing and developed countries have been close in this regard.

However, the question looms large in the context of quality education and percent achievement, which is directly associated with the rate of investment of nation states in education sector. It is a hunch that population growth is a major obstacle in the direction of resource management in education. The present study intends to examine how different population parameters have been associated with educational and economic development at international level.

### *Objectives of the Study*

1. To study the status of population, literacy and investment in education in the context of selected developed and developing countries of the world.
2. To study the relationship of adult literacy with a number of demographic and economic factors of developed and developing countries like growth rate of population, life expectancy, percentage of investment of gross national income (GNI) in education and different sectors of gross domestic product (GNP).

### *Methods and Procedures*

Data were collected from World Bank Reports during 1994 to 2005 concerning related statistics of 5 developed and 5 developing countries. Sample countries covered different continents of the world like Africa, North America, South America, Asia and Europe. The sample countries of developed category are Japan, Russia, UK, Canada and USA, whereas the sample countries of developing category are Mexico, India, China, South Africa and Brazil. Descriptive statistics and product moment coefficient correlation techniques were used for analysis of data.

## Analysis and Interpretation of Data

### *Population Growth in Developing Countries*

*Table – 1 : Population Growth in Developing Countries during 1990-2005*

| S. No. | Name of Country | Population | | Rate of Growth |
|---|---|---|---|---|
| | | **1990** | **2005** | |
| 1 | Mexico | 8,32,26,000 | 10,37,95,200 | 24.7% |
| 2 | India | 89,95,15,000 | 1,07,97,21,000 | 27.0% |
| 3 | China | 1,13,51,85,000 | 1,29,61,57,000 | 14.1% |
| 4 | South Africa | 3,57,00,000 | 4,55,09,240 | 27.4% |
| 5 | Brazil | 14,93,94,200 | 18,39,12,500 | 23.1% |

Population explosion has been a major concern of development. The rate of growth of population over last 15 years (1990-2005) reveals that except China, which took a drastic measure for single child family during 1979, rest of the sample developing countries indicated almost 25 percent additional growth of population over 1990's position (See Table – 1). As a communist country, like China gave special incentives for single child family like old age pension benefits to single girl child parents. Population education was adopted as a major government policy for development. As a result the rate of growth of population is only 14.1 percent over 1990's position.

### *Literacy and Economic Development*

*Table – 2: Literacy rate and Per Capita Income in Developed and Developing Countries*

| S. No. | Name of Country | Literacy (in %) | | Per Capita |
|---|---|---|---|---|
| | | Male | Female | GNI (in US $) |
| 1 | Japan | 100.00 | 100.00 | 37,050 |
| 2 | Russia | 99.69 | 99.23 | 2,590 |
| 3 | UK | 100.00 | 100.00 | 33,940 |
| 4 | Canada | 100.00 | 100.00 | 28,310 |
| 5 | USA | 100.00 | 100.00 | 41,470 |
| 6 | Mexico | 92.45 | 89.63 | 6,790 |
| 7 | India | 73.41 | 47.84 | 620 |
| 8 | China | 94.14 | 86.53 | 1,500 |
| 9 | South Africa | 84.48 | 80.93 | 3,630 |
| 10 | Brazil | 88.48 | 89.48 | 3,000 |

| | |
|---|---|
| Coefficient of Correlation Male/GNI | 0.65 |
| Coefficient of Correlation Female/GNI | 0.59 |

Literacy contributes towards economic development in terms of producing human capital of concerned countries. Data, concerning women and men literacy rates of developed and developing countries (Table – 2), reveals that all the developed and developing countries possess almost cent percent adult literacy with very high amount of per-capita GNI (except for Russia). There exists a reverse picture of developing countries with India having lowest rates of men and women literacy and lowest per-capita GNI.

Table – 2 reveals that there existed high positive coefficient of correlation between men and women literacy with per capita GNI, i.e., 0.65 and 0.59 respectively. It confirms that there is a strong association between adult literacy and GNI. Hence, here is a strong need for cent-percent literacy among population of developing countries.

### *Literacy and Life Expectancy*

*Table – 3: Literacy and Life Expectancy of Men and Women in Developed and Developing Countries*

| *S. No.* | *Name of Country* | *Literacy* | | *Life Expectancy* | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | *Male* | *Female* | *Male* | *Female* |
| 1 | Japan | 100.00 | 100.00 | 78.38 | 85.40 |
| 2 | Russia | 99.69 | 99.23 | 58.78 | 71.95 |
| 3 | UK | 100.00 | 100.00 | 76.31 | 88.83 |
| 4 | Canada | 100.00 | 100.00 | 77.00 | 82.66 |
| 5 | USA | 100.00 | 100.00 | 74.63 | 80.36 |
| 6 | Mexico | 92.45 | 89.63 | 72.70 | 77.60 |
| 7 | India | 73.41 | 47.84 | 62.68 | 64.30 |
| 8 | China | 95.14 | 86.53 | 69.71 | 73.26 |
| 9 | South Africa | 84.48 | 80.93 | 44.40 | 44.90 |
| 10 | Berazil | 88.48 | 89.48 | 67.11 | 74.90 |
| Coefficient of Correlation | | | | | |
| Literacy and Life Expectancy | | 0.58 | 0.57 | | |

High rate of life expectancy is one of the indicators of development in the sense that productive literate persons contribute significantly for national development. From Table – 3 it can be observed that life expectancy rate of women population is as high as 80.36 to 85.40 in all the developed countries except Russia (71.95). The figures range between 44.90 and 77.60 percent in developing countries. The coefficient of correlation between adult literacy and life expectancy among women indicates a high positive value of 0.57. it means adults literacy needs to be promoted for high life expectancy among women particularly in developing countries.

Further, it can be observed that life expectancy rate among men in developed countries ranges between 74.63 and 78.38 percent (except Russia), whereas in the case of developing countries, it ranges between 44.40 and 72.70 percent. Moreover, there exists a high positive association (r = 0.58) between men literacy and life expectancy, which is very much similar to the fact regarding women literacy and their life expectancy. It implies that major focus should remain on strengthening adult literacy position among men and women in developing countries. More specifically, special care should be taken for women's literacy in the developing countries.

***Public Expenditure on Education and Population***

*Table – 4: Public Expenditure on Education (% of GNI) and Population in Developed and Developing Countries*

| *S. No.* | *Name of Country* | *GNI* | *Population* |
|---|---|---|---|
| 1 | Japan | 3.58 | 12,77,64,000 |
| 2 | Russia | 3.84 | 14,35,49,600 |
| 3 | UK | 4.74 | 5,98,66,860 |
| 4 | Canada | 5.75 | 29,36,55,400 |
| 5 | USA | 5.17 | 3,19,74,360 |
| 6 | Mexico | 2.88 | 10,37,95,200 |
| 7 | India | 4.12 | 1,07,97,21,000 |
| 8 | China | 2.08 | 1,29,61,57,000 |
| 9 | South Africa | 3.24 | 4,55,09,240 |
| 10 | Brazil | 4.22 | 18,39,12,500 |
| Coefficient of CorrelationGNI/Population | | – 0.40 | |

Since population explosion comes on the way of economic development, public expenditure on education is restricted in the populous countries. From Table – 4 it can be observed that there is negative association (-0.40) between percentage of GNI with population. The public expenditure in education of high populated countries is found lower than that of low populated countries. In other words, it can be concluded that restriction on population growth is must for better educational facilities of the people of developing countries.

As a positive sign it can be observed from Table-5 that irrespective of variations in population there has been tremendous efforts to achieve cent-percent adult literacy at world level. However, the literacy rates of men and women in highly populated countries lag behind the less populated countries. The association

between men and women literacy with public expenditure in education is found to be low positive (0.25). This is because, in the recent past special efforts have been made to divert higher funding out of total educational expenses towards elementary education in the developing countries. In case total education development is to be taken into consideration better allocation of funds from GNI is must for developing countries.

***Table – 5: Literacy of Men and Women with Public Expenditure on Education (% of GNI in Developed and Developing Countries***

| S. No. | Name of Country | Literacy | | GNI |
|---|---|---|---|---|
| | | Male | Female | |
| 1 | Japan | 100.00 | 100.00 | 3.58 |
| 2 | Russia | 99.69 | 99.23 | 3.84 |
| 3 | UK | 100.00 | 100.00 | 4.74 |
| 4 | Canada | 100.00 | 100.00 | 5.75 |
| 5 | USA | 100.00 | 100.00 | 5.17 |
| 6 | Mexico | 92.45 | 89.63 | 2.88 |
| 7 | India | 73.41 | 47.84 | 4.12 |
| 8 | China | 95.14 | 86.53 | 2.08 |
| 9 | South Africa | 84.48 | 80.93 | 3.24 |
| 10 | Brazil | 88.48 | 89.48 | 4.22 |
| Coefficient of Correlation Male/GNI | | 0.25 | | |
| Coefficient of Correlation Female/GNI | | 0.29 | | |

**Literacy and GDP in Different Sectors:**

***Table – 6: Relationship between Literacy Rate of Men & Women and GDP in Different Sectors in Developed and Developing Countries***

| S. No. | Name of Country | Literacy Rate | | GDP | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | Male | Female | Agriculture | Industry | Services |
| 1 | Japan | 100.00 | 100.00 | 1.0 | 31.0 | 68.0 |
| 2 | Russia | 99.69 | 99.23 | 5.6 | 38.0 | 56.4 |
| 3 | UK | 100.00 | 100.00 | 1.0 | 27.0 | 72.0 |
| 4 | Canada | 100.00 | 100.00 | 2.8 | 30.5 | 66.7 |
| 5 | USA | 100.00 | 100.00 | 1.8 | 26.1 | 72.1 |
| 6 | Mexico | 92.45 | 89.63 | 3.8 | 25.9 | 70.2 |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 7 | India | 73.41 | 47.84 | 18.3 | 27.1 | 54.6 |
| 8 | China | 95.14 | 86.53 | 13.1 | 46.2 | 40.7 |
| 9 | South Africa | 84.07 | 80.93 | 3.1 | 30.8 | 66.1 |
| 10 | Brazil | 88.48 | 89.48 | 9.8 | 37.9 | 52.3 |
| Coefficient of Correlation Literacy /Agriculture | | – 0.72 | – 0.82 | | | |
| Coefficient of Correlation Literacy/ Industry | | 0.11 | 0.09 | | | |
| Coefficient of Correlation Literacy/ Services | | 0.33 | 0.40 | | | |

Educational development is directly associated with economic development. The post-industrial society has been identified with major focus on service central economy. Educational development of the countries having major focus on agriculture based economy lag behind the countries with focus on service economy and industrial outputs. From Table – 6 it can be observed that there exists high negative correlation (– 0.72 and – 0.82) between adult literacy rates of men and women and GDP percentage share in Agriculture. While the correlation between adult literacy and GDP percentage share in Industry are found to be low positive (0.11) they are found to be substantially high positive in the context of GDP in Service Sectors (0.33). It reveals that there is a need for revamping economic sectors of developing countries which may result in better educational opportunities of people.

### *Conclusion*

Population explosion divides the countries into forward and developing ones. The above findings reveal that population growth affects economic and educational development of countries adversely. Since there is a negative association between educational development and population growth, it is must to adopt appropriate mechanism for population control and economic development of the developing countries. The study reveals that advanced countries having a shift towards service-centred economy have provided better opportunities for educational development. It is a major challenge before highly populous countries for bringing about economic reforms as well as educational development of masses belonging to heterogeneous socio-economic system. Thus, it is high time to explore holistic development strategies for progress of developing countries with major emphasis on population control and systematic efforts on their educational and economic development.

# Towards a New International Financial Architecture

**Dr. Praveen Kumar Tiwari**

*Faculty, Department of Management, VKSU, Arrah*

World events since mid-1997, and its precedents in the 1980s and 1990s, have made painfully clear that the current international financial system is unable to safeguard the world economy from financial crises of high intensity and frequency and devastating real effects.

The rapid spread of the current international financial crisis, from East and South-East Asia to other developing and transition economies, and even to the industrialized world, has already led to statements and decisions by the authorities of developed countries, who recognize that it is indeed the most threatening event of its kind in more than half a century. The threat is reflected in the successive substantial downward revisions of forecasts of world economic growth in the last year and a half.

The crisis reflects, first of all, the tendency of financial markets to experience sharp boom-bust cycles. During financial booms, lenders and borrowers underestimate the risks involved in high levels of indebtedness, a fact that only becomes apparent, with particular severity, during the ensuing downswings and panics. This volatility is inherent in the functioning of financial markets.

It reflects not only imperfections in the flow of information, but also radical changes in its interpretation and sharp revisions in expectations as new information arrives, shifts that can be severe because of the uncertainty intrinsic to the intertemporal decisions that underlie financial transactions. The liberalization of financial flows among industrialized and some developing countries, floating exchange rates, financial innovations and new communications techniques have increased not only financial transactions, but also volatility in recent decades.

The crisis has also demonstrated, with particular severity on

this occasion, that financial crises are contagious; that under panic conditions markets do not adequately discriminate between countries with strong and weak economic fundamentals; and thus that crises tend to spread even to countries with sound economic structures and macroeconomic management.

The concentration of participants in international financial markets that apply criteria indiscriminately to all countries is a major basis for contagion. In many cases, financial crises spread because highly leveraged investors, faced with losses in one market and ensuing margin calls, sell good assets in another country; investment banks and mutual funds may also engage in similar behaviour in order to raise liquidity in expectation of withdrawals by clients.

Developing and transition economies have been highly vulnerable to financial volatility and contagion. They have been particularly prone to periods of rapid expansion and diversification of financial flows, often followed by abrupt reversals. This pattern has been aggravated by premature and hasty liberalization of the capital account, fragile domestic financial structures, and weak financial regulation and supervision. Extended financial booms build up strong pressures on aggregate domestic demand, which make macroeconomic balances unsustainable during the ensuing financial contraction.

They also tend to weaken financial structures, as increasing risks are often underestimated. Under these conditions, the downswing may result in domestic financial crisis, which consumes large amounts of the scarce resources available to development, and severely affects economic activity and investment for several years. The impact of financial crises on the real economy is thus far larger than in developed market economies.

External debt and domestic financial crises generate, in turn, substantial social costs.

As it happens, poor sectors of society pay a substantial share of the costs of adjustment to debt crises, whereas they benefit rather marginally from financial booms. The experience of many developing countries in several regions of the world also indicates that the social effects of debt crises continue to afflict countries even after several years of successful economic restructuring and recovery. The Latin American experience since the early 1980s is particularly relevant in this regard. Preliminary evidence suggests

that a similar pattern may occur in the East and South-East Asian nations.

Lastly, the recent crisis has demonstrated a fundamental problem in the global economy: the enormous discrepancy that exists between an increasingly sophisticated and dynamic international financial world, with rapid globalization of financial portfolios, and the lack of a proper institutional framework to regulate it. In brief, existing institutions are inadequate to deal with financial globalization.

This is true of institutions at the international level, which have manifested significant shortcomings in the consistency of macroeconomic policies, and in the management of international liquidity, financial supervision and regulation. It is also true of national institutions in the face of globalization, even in industrial countries. This systemic deficiency and the associated threat of recurring crises in the future have thus underscored the need for a comprehensive reform of the international financial system, geared to prevent costly crises and to manage them better if they occur. The outcome would improve economic and social prospects worldwide.

### *The need for Immediate Action*

In order to prevent the current crisis from deepening, immediate actions are required from the major industrial countries and from the international community. There is evidence that the world economy is experiencing a major slow down, which may deepen if inadequately managed.

Japan is in its worst recession since the war, much of East and South-East Asia is in depression, Russia is experiencing a major downturn, growth has stalled in Latin America, and the prices of primary commodities and a number of manufactures are falling in international markets.

We therefore embrace the declaration of the Group of Seven on the need to confront the threat of world recession, and we applaud the decisions by the central banks of the United States and Western Europe to reduce interest rates in recent months, the important fiscal stimulus announced by Japan and its decision to face up to its domestic financial crisis.

Authorities in the industrial countries must nonetheless continue to be alert. Several downside risks still remain, and current

policies may prove insufficient to prevent the world economy from slipping into recession. Expansionary fiscal policies may thus be required in other industrial economies, in addition to Japan. It is also crucial that the rules of an open international trading system should operate smoothly, allowing the economies that face adjustment to reduce their deficits or generate trade surpluses with the more vigorous industrial economies.

With the full support of the major industrial countries, IMF should put together contingency funds to assist countries now experiencing crisis or contagion and others that could become the victims of world financial crisis in the future.

These include countries that may be affected indirectly by the effects of such crises on trade and commodity prices, particularly low-income African and Asian countries.

We therefore welcome the recent declaration and actions by the Group of Seven to guarantee adequate contingency financing, by completing the implementation of the IMF quota increase and the New Arrangements to Borrow, and the commitment to supplement the Fund's resources when necessary.

Moreover, as we argue below, it is essential that this new type of contingency financing, which is to be made available before international reserves are depleted, should become a stable feature of the new international financial order, and that the availability of funds should be guaranteed without delay when needed.

Developing and transition countries experiencing difficulties must obviously be ready to adopt the necessary adjustment policies, as they have generally been doing during the recent crisis.

## References


- Bardsley, N., Cubitt: *Assessing Experimental Economics*, Princeton, Princeton University Press, 2009.
- Bateson, J.E.G. : *Managing Services Marketing : Text and Readings*, The Dryden Press, USA, 1991.
- Butler, David; Martin Westlake: *British Politics and European Election*. London: Palgrave Macmillan, 2005.
- Cootner, Paul : *The Random Character of Stock Market Prices*, MIT Press, 1964.
- Dimson, Elroy: *Stock Market Anomalies*, Cambridge University Press, 1988.
- Goswami, B. : *Parliament and Administration : Parliament's Control Over Budget and Legislation*, Rawat, Delhi, 2002.
- Granger, Clive W. J.: *Empirical Modeling in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.

# Modern Philosophy and Ludwig Wittgenstein

**Pramod Kumar Das**

*Department of Philosophy, Sahibganj College, Sahibganj*

The revolution in mathematical logic early in the 20th century opened up a delicious prospect: a rigorous science of meanings. Just as the atomic theory in physics had begun to break matter down into its constituent parts and show how they fit together to produce all the effects in nature, logic held out the promise of accounting for all meaningful texts and utterances—from philosophy and geometrical proofs to history and legislation—by breaking them into their logical atoms and showing how those parts fit together (in an ideal language) to compose all the meanings there could be.

As a young engineering student in England, Wittgenstein saw the hope of the new mathematical logic, and rushed to Cambridge to become the protege of Bertrand Russell, whose monumental Principia Mathematica (1913), written with Alfred North Whitehead, was an attempt to reduce all mathematics to logic. Wittgenstein's first book, published in England in 1922, the even more grandly titled Tractatus Logico-philosophicus, went even further, and was thought by him, and by some of his admirers, to have brought philosophy to an end, its key problems definitively solved once and for all.

Some "philosophical" propositions could be readily expressed and evaluated within his system, and those that couldn't—among them, metaphysical riddles that had bedeviled philosophers for centuries—were nonsense.

Wittgenstein returned to Austria to become a schoolteacher. But the worm of doubt soon gnawed, and he returned to England in 1929 to declare dramatically that he had got it all wrong the first time. The "later Wittgenstein" spent the next 18 years agonizing in front of a small Cambridge seminar of devoted and transfixed students, who posed curious questions that he then answered—or pointedly did not answer—with wonderfully austere if often enigmatic aphorisms. The family into which Wittgenstein was born in 1889 was one of the wealthiest in Vienna, and young Ludwig grew up in a hothouse atmosphere of high culture and privilege.

Brahms and Mahler were frequent visitors to the palatial family home, and Ludwig's brother Paul, a concert pianist who lost an arm in World War I, commissioned works for the left hand by Richard Strauss, Ravel and Prokofiev. It was during the war that Ludwig, a volunteer in the Austrian artillery, completed the Tractatus shortly before he was captured and taken prisoner. Always an ascetic, he gave away his inheritance, relying on the generosity of his Cambridge champions, Russell and John Maynard Keynes, to secure academic employment for him, living frugally and in later life being cared for by his disciples.

You know from the moment you open the Tractatus that it is something special. Each left-hand page is in German, facing its English translation on the right, and the sentences are numbered, using a hierarchical system that tells you this is a formal proof. The book begins straightforwardly enough: "1. The world is everything that is the case." (In German, it makes a memorable rhyming couplet: Die Welt ist alles, was der Fall ist.) And it ends with an ending to end all endings: "7. Whereof one cannot speak, thereof one must be silent."

In between, there is some tough sledding. Wittgenstein draws a distinction between what can be said, using words, and what can only be shown, and this raises the inevitable question: Does the Tractatus, as a text, say things that can't be said? Maybe. The next-to-last proposition is a famous shocker: "6.54. My propositions are elucidatory in this way: he who understands me finally recognizes them as senseless, when he has climbed out through them, on them, over them. (He must so to speak throw away the ladder, after he has climbed up on it.) He must surmount these propositions; then he sees the world rightly."

Did this mean that the wonderful dream of logical atomism—a science of meanings—was hopeless? Or that there was much less to be said than one might have thought? Or what?

When Wittgenstein returned to philosophy in 1929, it was with the message that the rigorous methods of pure logic could get no grip on the problems of philosophy: "We have got on to slippery ice where there is no friction and so in a certain sense the conditions are ideal, but also, just because of that, we are unable to walk. We want to walk: so we need friction. Back to the rough ground!" Where before he had favored explicit logical rules, now he spoke of language games, governed by tacit mutual understanding, and he proposed to replace the sharp boundaries of set theory with what he called family resemblances. "Philosophy is a battle against the

bewitchment of our intelligence by means of language," he declared, and language bewitches us by enticing us to concoct "theories" to solve philosophical problems that arise only "when language goes on holiday."

Wittgenstein set out in particular to subvert the seductive theories about mind and consciousness that philosophers since Descartes had puzzled and battled over. Again and again in Philosophical Investigations, he catches his interlocutors in the act of being suckered by their overconfident intuitions about what their words mean—what their words must mean, they think—when they talk about what's going on in their own minds. As he says, "The decisive moment in the conjuring trick has been made, and it was the very one that we thought quite innocent." (Today's neuroscientists fall into these same traps with stunning regularity, now that they have begun trying to think seriously about consciousness. Unfortunately, Wittgenstein's work has not been appreciated by many scientists.) But didn't his own antidote to such theories constitute a theory of the mind? That is just one of many quandaries and paradoxes he has left behind for posterity.

In 1939, Wittgenstein's Cambridge seminar on the foundations of mathematics included a brilliant young mathematician, Alan Turing, who was giving his own course that term on the same topic. Turing too had been excited by the promise of mathematical logic and, like Wittgenstein, had come to see that it had limitations. But in the course of Turing's formal proof that the dream of turning all mathematics into logic was strictly impossible, he had invented a purely conceptual device—now known as a Universal Turing Machine—that provided the logical basis for the digital computer. And whereas Wittgenstein's dream of a universal ideal language for expressing all meanings had been shattered, Turing's device actually achieved a somewhat different sort of universality: it could compute all computable mathematical functions.

Happily, in those days before tape recorders, some of Wittgenstein's disciples took verbatim notes, so we can catch a rare glimpse of two great minds addressing a central problem from opposite points of view: the problem of contradiction in a formal system. For Turing, the problem is a practical one: if you design a bridge using a system that contains a contradiction, "the bridge may fall down." For Wittgenstein, the problem was about the social context in which human beings can be said to "follow the rules" of a mathematical system. What Turing saw, and Wittgenstein did not, was the importance of the fact that a computer doesn't need to

understand rules to follow them. Who "won"? Turing comes off as somewhat flatfooted and naive, but he left us the computer, while Wittgenstein left us...Wittgenstein.

Some will say that in the longer run, Wittgenstein's legacy will prove to be the more valuable. Perhaps it will. Wittgenstein, like any other charismatic thinker, continues to attract fanatics who devote their life to disagreeing with one another (and, presumably, with my brief summary) about the ultimate meaning of his words. These disciples cling myopically to their Wittgenstein, not realizing that there are many great Wittgensteins to choose from. My hero is the one who showed us new ways of being suspicious of our own convictions when confronting the mysteries of the mind. The fact remains that one's first exposure to either the Tractatus or Philosophical Investigations is a liberating and exhilarating experience. Here is a model of thinking so intense, so pure, so self-critical that even its mistakes are gifts.

## References


- Bartley, William Warren. *Wittgenstein*. Open Court, 1994, first published 1973.
- Barrett, Cyril. *Wittgenstein on Ethics and Religious Belief*. Blackwell, 1991.
- Beaney, Michael (ed.). *The Frege Reader*. Blackwell, 1997.
- Braithwaite, R.B. "George Edward Moore, 1873-1958", in Alice Ambrose and Morris Lazerowitz. (eds.). *G.E. Moore: Essays in Retrospect*. Allen & Unwin, 1970.
- Diamond, Cora (ed.). *Wittgenstein's Lectures on the Foundations of Mathematics*. University Of Chicago Press, 1989.
- Creegan, Charles. *Wittgenstein and Kierkegaard: Religion, Individuality and Philosophical Method*. Routledge, 1989.
- Drury, Maurice O'Connor et al. *The Danger of Words and Writings on Wittgenstein*. Routledge and Kegan Paul, 1973.
- Drury, Maurice O'Connor. "Conversations with Wittgenstein", in Rush Rhees (ed.). *Recollections of Wittgenstein: Hermine Wittgenstein—Fania Pascal—F.R. Leavis—John King—M. O'C. Drury*. Oxford University Press, 1984.
- Edmonds, David and Eidinow, John. *Wittgenstein's Poker*. Ecco, 2001.
- Edwards, James C. *Ethics Without Philosophy: Wittgenstein and the Moral Life*. University Presses of Florida, 1982.
- Gellner, Ernest. *Words and Things*. Routledge & Kegan Paul, 1979, originally published 1959.
- Goldstein, Laurence. *Clear and Queer Thinking: Wittgenstein's Development and his Relevance to Modern Thought*. Rowman & Littlefield, 1999.
- Hamann, Brigitte and Thornton, Thomas. *Hitler's Vienna: A Dictator's Apprenticeship*. Oxford University Press, 2000.
- Kanterian, Edward. *Ludwig Wittgenstein*. Reaktion Books, 2007.

# Inter-Semiotic Translation: Shakespeare on Screen

**Pooja**

*Research Scholar, Singhania University, Jhunjhunu (Rajsthan)*

In his classical article James S. Holmes referred to the relations between translation studies and other disciplines. He considered two possibilities: translation studies as a branch of other disciplines using their concepts, models and paradigms, and as an autonomous discipline relying on its own resources. Following in the footsteps of former researchers (e.g., Cattrysse 1992), this article considers another possibility: translation studies as a discipline that – due to its capacity to encompass inter-semiotic translation as one of its objects – can give a unique perspective on topics which are usually dealt with in the framework of other disciplines, such as literature, theatre and film studies.

The starting point for this line of thought is an argument made by the semiotician Roman Jakobson (1987, first published in 1959). Jakobson claimed that the meaning of a sign is its translation into another sign or sequence of signs in the same language, in another language or in another semiotic (e.g., visual) language. Following Jakobson, Itamar Even-Zohar (1990a, 1997) elaborated a theory of transfer, which applies to all variations of the following phenomenon: a text which was created in a cultural system A is re-created in a cultural system B.1 Even-Zohar's theory of transfer, rooted in his polysystem theory, has been used in research dealing with transfer within one language (Shavit 1986) and from literature to the cinema. An attempt to map the forms of transfer implied by his theory has been made by Weissbrod (2004). The present article applies the ideas of Jakobson and Even-Zohar to an analysis of the cinematic adaptation of plays originally written for the theatre specifically – Shakespeare's plays.

The cinema has been interested in Shakespeare since its earliest days (Rothwell 1999). Screen adaptations of his plays have served various purposes: proving the relevance of the Bard to our times, manifesting the ability of the cinema to cope with works originally written for the Elizabethan theatre and obtaining what Bourdieu called "cultural capital" (Cartmell 1999). To analyse these adaptations, the following discussion also draws on theories which have been developed outside translation studies and deal specifically with the relations between the cinema and the theatre.

The use of such theories in combination with Even-Zohar's transfer theory is in line with his claim (1990a: 74) that it is only in the framework of a general theory of transfer that particular procedures pertaining to a specific form of transfer can be discovered. The present article relies on the classic works of Nicoll (1936) and Beja (1979). To examine how modern filmmakers deal with the antiquity of the Shakespearean source, a reference is made to Holmes' assumptions regarding the translation of texts created in the past (1988b, first published in 1971). Rather than indulging in literary, theatrical and cinematic issues as such, the focus is therefore on cinematic adaptations of Shakespeare's plays as a case of inter-semiotic and inter-temporal translation.

The concepts which are basic to Even-Zohar's transfer theory (1990a, 1997) are "system", "repertoire" and "model". A "system" is conceived as a network of relations between cultural phenomena which occupy different positions vis-a-vis each other. A culture tends to function as a macro-system comprising many partly overlapping systems (e.g., the theatre, the cinema). The system's products (e.g., theatrical plays, films) are created with the help of the system's repertoire. The repertoire supplies the producer with single elements as well as models – "ready-made" combinations of elements and the rules of combining them. The use of existing models makes both the creation and consumption of products easier. A model serves as a "recipe" for the creation of the complete product. If the product is a text, the model at its base determines the genre to which it belongs. However, the term also applies to certain aspects of a text, e.g., the photography or lighting when the text under study is a film. A change in the model is brought about by adding/removing one or more elements and by combining models.

The use of the repertoire (e.g., preferring some models to others) is determined mainly by norms (Toury 1995: 53-69) – instructions for actual behavior which reflect the values and ideologies prevalent in a cultural system or some part of it. In the case of transfer – the re-creation in a system B of a text originating in a system A – the norms guide the producer to reconstruct the source closely, adapt it to the existing repertoire of the target system or make some compromise between these two extremes.

Shakespeare's plays originated in a specific cultural system: 16th-century English theatre. While the playwright used contemporaneous models, he generally deviated from them and introduced additional complexity. In Hamlet, for example, he transformed the then common play of vengeance into what we now call a "Shakespearean tragedy". This article discusses the adaptation of Shakespeare's plays to other systems, remote in many respects:

English, American and Japanese cinema of the 20th and 21st centuries. It also refers to television adaptations, specifically those made for the BBC.

Since translation studies and Even-Zohar's transfer theory do not deal specifically with the relations between the cinema and the theatre, an additional theoretical framework is needed. The present article relies on the works of Nicoll (1936) and Beja (1979) which seem to retain their validity despite the time that elapsed since their first publication. In performing a play, either Shakespearean or other, the starting point for both the theatre director and the filmmaker is the original written text.

One turns it into a stage performance, and the other – into a film. Every performance, theatrical or cinematic, implies an interpretation of the play. The very fact that living actors read the dialogue, using intonation and body language, involves interpretation – theirs or the director's – even if the script used is very close to the original play. Following Even-Zohar's and Toury's line of thinking, the interpretation probably involves models and norms pertaining to the target system. The cinematic performance is bound to differ from the theatrical one because the two rely on different repertoires. The question which arises is whether there are any essential differences between the two media, or art forms, which give rise to the different models and norms. According to Nicoll and Beja, such differences do exist.

The cinema shares two important constituents with the theatre – the mise en scène (the term referring to everything situated in front of the audience or camera – setting, actors, costumes, etc.) and sound (dialogue, music, various noises). However, it differs from the theatre in its use of photography, including shooting from low, high or diagonal angles, from short or long distance; moving the camera from place to place; combining black and white with colour and so on. In the process of editing, it is possible to affect the final product by manipulating the order of the shots and how they are combined (Giannetti 2005). The theatre has other capacities. As every performance is a live and one-time occurrence, the actors can improvise and communicate with the audience. However, the most significant difference between the cinema and the theatre according to Nicoll is in how they depict reality. A film can create an effective illusion of a real world. The camera can be taken to real places. It can photograph masses of people (e.g., an army) and large objects (a ship, a plane) or magnify very small things (an ant crawling, a tear being shed from an eye). Moreover, the picture can show everything in detail. Therefore, the cinema can make even an imaginary world look real.

In the theatre it is more difficult to create an illusion of a real world. Reality cannot be brought to the stage. As a consequence, reality in the theatre is often presented artificially and schematically: a forest is represented by a tree made of cardboard; a fluttering sheet symbolises a stormy sea and so on. The most extreme manifestation of artificiality is the use of masks to substitute human facial expressions, which cannot be discerned from a distance. According to Nicoll, the greatness of the theatre lies in this "limitation". The characters are easily understood as types, and the events as allegorical.

Not hindered by the concrete and specific, the theatre can give expression to the most abstract and general ideas. For example, King Lear can be performed as a play about old age and ingratitude. In the cinema, realism may easily shift the focus to questions such as who was Lear, where and when did he live, and so on. While dealing with Shakespeare's plays, it should be taken into consideration that they were originally intended for the Elizabethan theatre. This means that the theatrical models used were very different from contemporary ones (Astington 2001). The use of settings and decorations was minimal. The spoken words were supposed to activate the imagination of the audience. All performances took place during the day, and if the enacted events were set at night or in a dark place, the darkness had to be imagined. Women were not allowed to act on stage, and their roles were performed by young boys whose voices had not changed yet. The spectators were physically close to the stage, and since they did not sit in the dark as they do today, the actors could easily communicate with them. From the point of view of a modern spectator, in this theatre and in contemporary performances which try to simulate it, the lack of realism – which is not necessarily a disadvantage according to Nicoll – was at its extreme.

## References


- Bentley, Gerald E. *Shakespeare's Life: A Biographical Handbook*. New Haven, Conn.: Yale University Press, 1961.
- Chute, Marchette. *Shakespeare of London*. New York: E. P. Dutton, 1949.
- Cohen, Derek. *Shakespeare's Culture of Violence*. London: Macmillan, 1993.
- Greene, Robert. *Groats-Vvorth of Witte, Bought with a Million of Repentance. The Repentance of Robert Greene, 1592*. Edinburgh: Edinburgh University Press, 1966.
- Gurr, Andrew. *Playgoing in Shakespeare's London*. 2nd ed. Cambridge: Cambridge University Press, 1996.
- Harrison, G.B.. *Introducing Shakespeare*. 3rd ed. London: Penguin Books, 1991.
- Holden, Anthony. *Willam Shakespeare: The Man Behind the Genius*. Boston: Little, Brown, 1999.

# Media Credibility in Modern Journalism

**Pawan Kumar Saxena**

*Senior Sub-editor, Dainik Jagran, Bareilly*

The number of adults using the Internet to find and read news online is consistently on the rise. One national study by the Pew Research Centre reported that weekly use of online news tripled from 11 million to 36 million people in the United States between 1996 and 1998, which the centre called astonishing. Other studies have shown similar growth in use of the Internet, the World Wide Web, and other online information resources. One issue that has emerged because of this growth is the credibility of new information technologies and new media news delivery systems. Widespread access to personal information, including tracking online purchases, property ownership records, and residential telephone numbers, have led to growing public distrust of online sources of information. One analysis reported that barely one in three media Web sites posted their privacy policies for information provided both voluntarily (e.g., personal electronic mail addresses or other information taken from user registration forms) and involuntarily (e.g., Web browser tracking specific page visits and clicks within a Web site) by users. Even when they are posted, online statements of privacy policy are often lengthy and nearly incomprehensible. They tend to serve more as a legal alibi for the Web site owner than an actual information source for site users.

The purpose of this study was to investigate the similarities and differences of user perceptions of the credibility of traditional news media delivery systems? was papers and television news the credibility of Web-based online news. Specifically, this paper investigates news credibility in an attempt to determine the components of news credibility across traditional and the new online news media.

Because of privacy issues, content accuracy, reliability, and other related concerns, some observers have predicted a troubled future for online news. Johnson and Kaye (1998) reminded us that one of the basic characteristics of the Internet, its potential free access to everybody to upload information without much scrutiny, might affect the credibility of the medium as a source of information. Flanagin and Metzger (2000) noted that while newspapers, books,

and television undergo a process of information verification before they reach the public, Internet sites do not always use such measures. The lack of editorial and gatekeeping rules similar to those in the traditional print and broadcast news media is central to the problem. This, of course, is likely to increase the importance of branded online news sites such as CNN.com and perhaps emphasize the value of the so-called !:lo effect/Hf an existing print or television news organization to its online equivalent (such as *Time* magazine and its Web counterpart, Time Online).

Schweiger (1998) pointed out that credibility becomes an important heuristic for content selection at a time of information overload. Credibility may also influence the journalistic and commercial success of a medium (Schweiger, 2000). Online news industry observers and newspaper editors have expressed similar concerns over credibility, believability, ethical lapses, news gathering techniques, and news presentation. These and numerous other professional issues are frequent topics of discussion and debate on the pages of the *Online Journalism Review*.

Studies conducted in recent years have analysed the dimensions of computing technology, the Internet, the Web, and online news credibility. The early public views of the precision and accuracy of computers led to a common perception of their infallibility and believability, even the basic credibility of computer-based technologies has been studied. A number of scholars have emphasized the importance or social.

Newhagen (1997) studied the perception of interactivity in mass media and computer networks. He found that respondents who had e-mailed comments to a network news program rated traditional mass media to be less interactive, less important and of lower quality than a national sample. While interactivity ratings did not predict mass media credibility, respondents who had e-mailed NBC and those who defined interactivity as feedback (the feedback necessary to the maintenance as a self-regulating system) found computer communication to be more credible than those who did not.

In their study of computer technology credibility, Tseng and Fogg (1999) found that computer users desire to trust their systems, but that the trust is often undermined when the system delivers erroneous information. They described four types of computer-based credibility: presumed (based on assumptions), reputed (based on third-party reports), surface (based on primitive inspection), and experienced (based on first-hand experience). They further explained that user expertise, user understanding, user need for information, and evaluation errors influenced this credibility.

Flanagin and Metzger (2001) observed that much media credibility research has ignored online news and that the bulk of research was conducted prior to online news development. There are differences, these scholars have argued, between online news and other more-established news media such as television, radio, and newspapers. Online news can be reported at any time. The newspaper, by contrast, is limited to when people obtain the hard copy. Thus, the dimension of timeliness must be considered in studying credibility of the Internet as a medium.

Flanagin and Metzger (2001) concluded that the Internet is a technology used in a similar manner to other more traditional media. News communication technologies extend users (apabilities but eventually are folded into traditional media. They found online conversational uses (such as chat rooms, electronic mail, and the telephone) that paralleled traditional media. They also found information-retrieval and information-giving similarities (such as online news and the news media). They concluded that fulfilled by these channels cluster in ways consistent with past research, regardless of the technologies employed to meet them.

In an earlier study, Flanagin and Metzger (2000) investigated perceptions of Internet information credibility in comparison to other media. They concluded that the Internet was as credible as television, radio, and magazines, but not newspapers. They found that credibility varied by medium among different types of information sought by audiences, such as news and entertainment. Respondents reported that they did not verify information found on the Internet, but this finding also varied by the type of information needed. The amount of experience using the Internet and how an individual perceived the information were associated with efforts to verify online information.

Schweiger (2000) found newspapers in Germany were rated ahead of the Web and television on nine of eleven credibility items. He also found that Web users and non-users alike rate the credibility of the Web as remarkably similar to television and newspapers. Nadarajan and Ang (1999) found few online newspapers with corrections policies, but that errors were corrected as needed. They concluded that the capabilities of the Web, such as hyperlinks and archiving, were not well used to enhance online news and information accuracy. In fact, they said current practices d8d to the clutter of viewpoints that is symptomatic of this age of information overload. While they do not directly connect this to online news credibility, the implications are clear. Sundar (1999) determined four basic factors in the perception of online news stories: credibility,

liking, quality, and representativeness. He explained that credibility in this context was a global evaluation of the objectivity of the story. Johnson and Kaye (1997, 2000) found online media to be more believable, fair, accurate, and in-depth than traditional news media. Both online news media and traditional news media were judged to be somewhat credible. In an earlier study, Sundar (1996) determined that subjects rated stories with direct quotations from sources to be significantly higher in credibility and quality than those without quotations. The use of direct quotations did not appear to affect subject ratings of liking for online news or perceptions of representativeness-newsworthiness of the online news.

Kiousis (1999) found news credibility perceptions to be influenced by media use and interpersonal discussion of news. He found general skepticism about news, but people rated newspapers as more credible than online news or television. Online news, however, was rated more credible than television. Like other studies of print and broadcast news media, Kiousis found credibility rating of a medium associated with its use. He also found links between discussion of news and perceptions of television news, but not for online news or newspapers. He offered evidence of links between media use and public perceptions of credibility for newspapers and television news, but not in the assessment of online news.

Using credibility as their focus, Johnson and Kaye (1998) concluded that online news media and online candidate literature were perceived to be more credible than traditional print and broadcast news media, even though both online news and traditional news media were perceived to be somewhat credible. No differences were found for news magazines and issue-oriented sources. Finberg, Stone, and Lynch found one main concern about online news credibility was the perceptions of other journalists, who do not hold it in high regard. The national study determined that online news was a supplementary news source for most users. They also observed that the public has accepted online news as a credible news option, that many readers did not feel online news credibility was an issue.

## References


- Shankar Srivastava: *Principles of Indian Journalism and Mass Communication: Historical Approach, Trend and Development*, APH, Delhi, 2007.
- Shukla, A S : *Handbook of Journalism and Mass Communication*, Rajat, Delhi, 2008.
- Singh, Dharmendra : *Mass Communication and Social Development*, Adhyayan, Delhi, 2004.

# Malnutrition—An Important Causative Factor of Diabetes Mellitus

**Dr. Madhulika Kumari**
*P.H.D. (Home Science)*

Diabetes is an iceberg disease. According to WHO studies – about 5.4% of world population is suffering from diabetes and 20% of global diabetic population resides in the South East Asia Region, i.e. in India, Bangladesh, Bhutan, DPR Korea, Indonesia, Maldives, Myanmar, Nepal, Sri-Lanka, and Thailand. The number of diabetic persons in the countries of this region was 27.6 million in the year 1995, and it is predicted to triple by the year 2025. WHO studies have also shown that in India, the prevalence of diabetes in adults was found to be 2.4% in rural and 4% to 11.6% in urban dwellers, and there will be further rise in this prevalence in the coming decades.

Sedentary life-style, lack of exercise, daily stress and strains of life are important causative factors of diabetes including genetic and immunological factors. But, there are enough circumstantial evidences to support the fact that dietary factors are certainly responsible for development of diabetes.

We shall discuss some important such dietary factors in the following lines—

1. Cow milk in infancy:-Cow milk contains Bovine Serum Albumin (BSA). In infants, who are given cow milk instead of breast feeding, BSA goes into blood and produces antibodies. These antibodies react with ß cells and damage them. This is relevant to note that Insulin is produced by the ß cells of pancreas in our body, and deficiency of this insulin is responsible for diabetes mellitus. Therefore such children are more likely to develop Type 1 diabetes i.e. Insulin Dependent Diabetes Mellitus (IDDM), which is the most severe form of the diabetes, and occurs mostly in children. In this type, ß cells of pancreas fail to produce insulin at all and the patient is dependent over insulin by injection.
2. Smoked meat:-Smoked meats contain various Nitrosamines which are potentially diabetogenic

3. High intake of fat:-Ghee, butter, and vanaspati are rich sources of saturated fatty acids. Higher intake of saturated fatty acids has been found to be associated with higher risk of impaired glucose tolerance, higher fasting glucose level in blood, lower insulin sensitivity, and thereby higher risk of Type 2 Diabetes i.e. Non-Insulin Dependent Diabetes Mellitus (NIDDM), which is much more common than Type 1 Diabetes and it occurs in all age groups. In this type there is partial deficiency of insulin and here the ß-cells respond to insulinogenic stimuli and hence the patient is not dependent over insulin by injection.

   Therefore, intake of saturated fatty acids should be avoided and it should be replaced by unsaturated fatty acids. Fish oil and Vegetable oils except coconut oil and palm oil are rich sources of unsaturated fatty acids e.g. groundnut oil, safflower oil, sunflower oil, til oil, mustard oil etc. Unsaturated fatty acids are associated with lower fasting glucose level in blood. They improve the glucose tolerance and enhance the Insulin sensitivity. Vegetable oils also provide essential fatty acids (EFA) which cannot be synthesised in body and have to be taken only through food.

   ICMR has recommended a daily intake of not more than 20% of total energy intake from fats. At least 50% of this fat intake should come from vegetable oils rich in EFA. A single vegetable oil does not contain all types of EFA. Therefore, we should use a mixture of two or more vegetable oils. A good choice is an equal mixture of sunflower oil with groundnut oil with occasional use of mustard oil.

   Fat is essential for our body. Hence very low fat diet or fat free diet is not advisable.

4. Protein Energy Malnutrition:-PEM in infancy and early childhood may result in partial damage of ß-cells making the person prone to NIDDM.

5. Malnutrition during pregnancy:-When mother is pregnant and malnourished, the foetus growing in her womb will also suffer from malnutrition. This will damage the development of ß-cells in the growing foetus to a critical level so that the child will be predisposed to diabetes in later life.

6. Deficiency of Trace Elements :-

   a. Zinc :-Zinc is required for the synthesis of Insulin and also for immunity functions. So, deficiency of Zinc may cause pathogenesis of Diabetes mellitus.

Zinc is widely distributed in food, but its bioavailability in vegetables is very low. Animal food like milk, fish, and meats are dependable source of zinc.

b. Copper and Chromium:-Unusual glucose tolerance curve has been found to respond to administration of these trace elements.

Deficiency of these trace elements is common in children suffering from diarrhoea, PEM, Wilson's disease, nephrosis etc.

7. Obesity :-In developed and developing countries, obesity has become the most prevalent form of malnutrition. Over-nutrition leads to obesity. Obesity is of two types:-

   a. Central Obesity or Abdominal obesity or Android obesity:-In this case, storage of fat is primarily in the abdominal area and it is found in both sexes.

   b. Gynoid Obesity :-In some adults particularly in females, fat is stored mainly around the hips and thighs. This is Gynoid obesity.

Central obesity is certainly a risk factor for Type II Diabetes i.e. NIDDM. The risk is related to both the duration and degree of obesity.

Degree of obesity is measured by calculating Body Mass Index (BMI).

BMI = Weight in Kilogram/(Height in meter)2

BMI less than 18 :-underweight.

BMI = 18 to 25 :-normal

BMI = 25 to 30 :-overweight or pre-obese

BMI = 30 to 35 :-Obese I

BMI = 35 to 40 :-Obese II

BMI more than 40 :-Severe obese – Obese III

8. Alcohol :-Excessive intake of alcohol can increase the risk of diabetes by damaging the pancreas and liver and by promoting obesity.

Thus we have seen that malnutrition is a very important causative factor of diabetes and it must be a matter of concern for all of us.